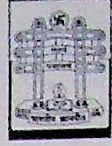
# नया ज्ञानोदय

मार्च 08
पृष्ठ 120
25 रुपये



## पश्चिमोत्तर भारत में हिन्दी

भारतीय ज्ञानपीठ



भारतीय ज्ञानपीठ
संस्थापक
श्रीमती रमा जैन
श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

सम्पादक
रवीन्द्र कालिया

नया
# ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ की मासिक साहित्यिक पत्रिका
अंक 61, मार्च 2008

नया
ज्ञानोदय

अंक 61, मार्च 2008

प्रबन्ध सम्पादक
**साहू अखिलेश जैन**
प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

**प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ**
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, पोस्ट बॉक्स नं. 3113
नई दिल्ली-110 003
फोन : 2462 6467, 2465 4196, 2469 8417, 2465 6201
फैक्स : 011-2465 4197; ई-मेल : jnanpith@satyam.net.in
वेबसाइट : www.jnanpith.net

**मूल्य :**
एक अंक 25 रुपये

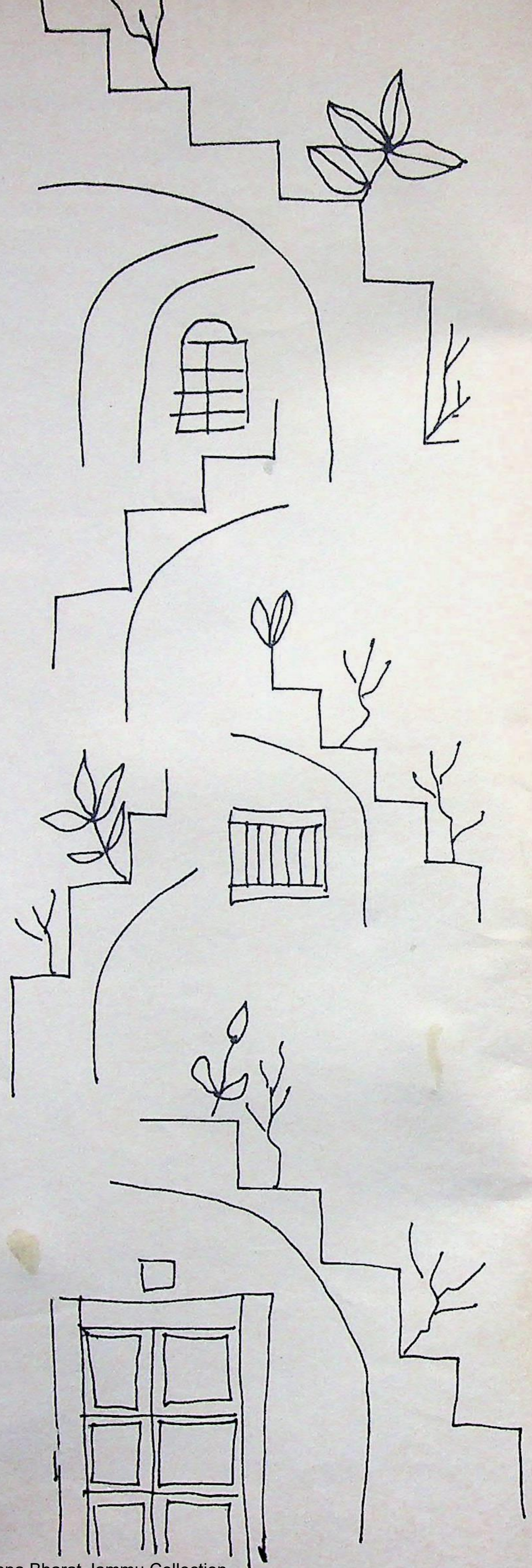
**व्यक्तियों के लिए :**
वार्षिक : 250 रुपये / त्रैवार्षिक : 675 रुपये /
पंचवार्षिक : 1000 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

**संस्थाओं के लिए :**
वार्षिक : 300 रुपये / त्रैवार्षिक : 875 रुपये /
पंचवार्षिक : 1375 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

**विदेशों के लिए :**
हवाई डाक : एक अंक 5 डॉलर / वार्षिक 50 डॉलर
जल मार्ग : एक अंक 3 डॉलर / वार्षिक 25 डॉलर
शुल्क 'नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ' के नाम से उपर्युक्त पते पर भेजें :
(केवल मनीआर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दिल्ली से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)



**Nayā Gyānodaya**
A Literary Monthly Magazine
Language : Hindi
Published by Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003



नया
ज्ञानोदय
आधुनिक भावबोध, कला संचेतना और
नवीनता की प्रतिनिधि मासिक पत्रिका
अंक 61, मार्च 2008

## तरतीब

**प्रसंग**



**कविता**



**देशकाल**



**डायरी**



**स्मृति वर्ष**



**संवाद**



**मेल/ई-मेल**



**प्रत्यंचा**



आवरण चित्र : मनजीत बावा (साभार : ग्लेनबरा आर्ट म्यूज़ियम, जापान)

प्रथम चार पृष्ठों के रेखांकन : राधेश्याम अग्रवाल

रेखांकन : रवीन्द्र बतरा, बलविन्दर शैली, ओ.पी. कादयान

केरीकेचर : निर्मिश ठाकर

आवरण और भीतरी साज-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

## दस्तख़त

*हिन्दी में कई विरोधाभास देखने को मिलते हैं। जिस गति से हिन्दी की पत्रिकाएँ बन्द हुई हैं, उसी गति से पुरस्कारों की संख्या में वृद्धि हुई है। एक तरफ़ पाठकों की कमी की दुहाई दी जाती है, दूसरी तरफ़ रचनाकारों और पुस्तकों की संख्या में वृद्धि हो रही है। पुस्तक मेले के अवसर पर सैकड़ों नयी पुस्तकें प्रकाश में आती हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल में कुछ ऐसे नेता अवश्य मिल जाएँगे, जिन्होंने चुनाव के प्रबन्ध में ऐसी महारत हासिल कर ली है कि किसी व्यक्ति या पार्टी की तीव्र लहर भी उनको प्रभावित किये बग़ैर गुज़र जाती है और वे छठी, सातवीं, आठवीं बार से लगातार सदन की शोभा बढ़ाते रहते हैं। वास्तव में उन्होंने चुनाव की बारीकियाँ समझ ली हैं और उनका चुनाव प्रबन्धन इतना उत्तम होता है कि वह पार्टी कार्यालय में बैठे-बैठे बता सकते हैं कि किस बूथ पर उनका कौन-सा कार्यकर्ता तैनात है। किस जाति का समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्हें किसकी सहायता लेनी है। चुनाव लड़ते-लड़ते वे चुनाव-रत्न हो चुके हैं। ठीक इसी शैली में हिन्दी के कुछ रचनाकारों ने पुरस्कार प्राप्त करने के प्रबन्धन में दक्षता अर्जित कर ली है। वे देश-विदेश के समाचार जानने के लिए करने किसी पुस्तकालय में नहीं जाते, बल्कि प्रतिदिन सब पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने पलट आते हैं कि किस पुरस्कार की विज्ञप्ति प्रकाशित हो गयी है। उन्होंने ऐसा तन्त्र विकसित कर लिया कि विज्ञप्ति प्रकाशित होने से पहले ही उनके पास सूचना आ जाती है। विज्ञप्ति प्रकाशित होने से पूर्व ही उनका 'गृह कार्य' सम्पन्न हो चुका होता है। सालभर वह पत्रों द्वारा असरदार लोगों के सम्पर्क में रहते हैं। दीपावली, होली, ईद, क्रिसमस पर सबसे पहला ग्रीटिंग कार्ड या एस.एम.एस. उन्हीं के द्वारा जारी होता है। एस.एम.एस. लिखने के बाद वह मोबाइल पर 'सबको भेज दें' का बटन दबा देते हैं। विज्ञप्ति प्रकाशित होते ही उनके नाम की संस्तुति करने का पैनल सक्रिय हो जाता है। यदि किसी संस्थान ने आधा दर्जन पुरस्कारों की घोषणा की है तो उनका पैनल तमाम पुरस्कारों के लिए उनके नाम की संस्तुति कर देगा। निर्णायक मंडल के सामने कई बार संकट खड़ा हो जाता है कि जिसके नाम की संस्तुति छः छः लोगों ने की है, ऐसे प्रायोजित नाम को ख़ारिज कैसे किया जाए। ऐसा नहीं है कि इस अभियान में सिर्फ़ नौसिखिए लेखक ही प्रयासरत हैं, बल्कि जब बड़े-बड़े नामचीन लेखकों को भी इस कार्य में लिप्त पाया जाता है तो आश्चर्य होता है। अपने इस अभियान में ये रचनाकार किसी प्रकार के संकोच से काम नहीं लेते। वह आपके पास आकर कह सकते हैं— यह रहा फॉर्म, कृपया मेरे नाम की संस्तुति कर दीजिए! अगर वह संकोच दिखाएगा कि यह पुरस्कार तो मुझे भी अब तक नहीं मिला तो वे अपने बैग से एक और फॉर्म निकालेंगे और उसके सामने उसके नाम की संस्तुति कर देंगे— मन तुरा हाजी*

हिन्दी में पुरस्कृत लेखकों की एक अलग बिरादरी बनती जा रही है। एक-एक कर तमाम पुरस्कार इसी बिरादरी की झोली में गिरते रहते हैं। ख़ुदा-न-ख़ास्ता अगर ये पुरस्कार बिरादरी के बाहर चला जाए तो पुरस्कार विजेता के खिलाफ़ एक नया अभियान छिड़ जाता है। देखा जाए तो पुरस्कार से सम्बन्धित कई वर्ग बन चुके हैं— एक वर्ग पुरस्कार विजेताओं का और एक वर्ग पेशेवर पुरस्कार विजेताओं का। तीसरा वर्ग छाती पीटने के लिए पुरस्कार की घोषणा की प्रतीक्षा करता रहता है।

बगोयम तू मुरा मुल्ला बगो। कहने का अभिप्राय यह है कि पुरस्कारों का एक हद तक व्यवसायीकरण हो चुका है। देखने में आया है कि हिन्दी में पुरस्कृत लेखकों की एक अलग बिरादरी बनती जा रही है। एक-एक कर तमाम पुरस्कार इसी बिरादरी की झोली में गिरते रहते हैं। ख़ुदा-न-ख़ास्ता अगर कोई पुरस्कार बिरादरी के बाहर चला जाए तो पुरस्कार विजेता के खिलाफ़ एक नया अभियान छिड़ जाता है। देखा जाए तो पुरस्कार से सम्बन्धित कई वर्ग बन चुके हैं— एक वर्ग पुरस्कार विजेताओं का और एक वर्ग पेशेवर पुरस्कार विजेताओं का। तीसरा वर्ग छाती पीटने के लिए पुरस्कार की घोषणा की प्रतीक्षा करता रहता है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि आज हिन्दी के अधिसंख्य पुरस्कार एक प्रहसन का दृश्य उपस्थित करते रहते हैं।

**एक** ज़माना ऐसा था जब हिन्दी की साहित्यिक राजधानी बनारस हुआ करती थी। फिर इलाहाबाद के दिन फिरे और अभी पाँच-दस साल पहले तक साहित्य की रिहाइश दिल्ली हुआ करती थी। लेकिन इधर के कुछ वर्षों में देखा जाए तो हिन्दी का परचम दिल्ली और भोपाल घराने से हटकर देश के सुदूर कोनों में लहरा रहा है। छोटे-छोटे शहरों, कस्बों, गाँवों से रचनाएँ आ रही हैं, छप रही हैं, प्रशंसित हो रही हैं। रायपुर, कोलकाता, श्रीनगर, चंडीगढ़, लखनऊ आदि तो खैर प्रादेशिक राजधानियाँ हैं, जम्मू, हजारीबाग, हाजीपुर, सुल्तानपुर, भिंड, वर्धा, मुजफ्फरपुर आदि छोटे शहरों के लेखक दिल्ली या भोपाल में रहने वाले लेखकों से कमतर नहीं आँके जाते। पत्रिकाओं की खपत भी इन्हीं प्रदेशों में (आश्चर्यजनक रूप से इनमें से कई अहिन्दी भाषी प्रदेश हैं) ज़्यादा है। दरअसल हिन्दी की जातीय चेतना उन्हीं प्रदेशों में अधिक है जहाँ हिन्दी बोलने पढ़ने वाले कम हैं।

यह भी एक सचाई है कि ज़्यादातर पत्रिकाएँ अब भी साहित्य की उन्हीं पुरानी गढ़ियों से प्रकाशित होती हैं। नतीजा यह कि उन पत्रिकाओं में देश के अहिन्दी भाषी प्रदेशों के रचनाकारों का प्रतिनिधित्व नहीं के बराबर होता है। 'नया ज्ञानोदय' का प्रयास है कि ऐसे सुदूर कोनों-अँतरों में छिपी प्रतिभाओं को सामने लाये। इस दिशा में उठाये गये क़दम की एक कड़ी के रूप में इस अंक को देखा जाए। इसका संयोजन इस तरह किया गया है कि इसमें पश्चिमोत्तर भारत की हिन्दी रचनाशीलता का हर कोण उद्घाटित हो। जम्मू-कश्मीर, हिमाचल, पंजाब, हरियाणा और चंडीगढ़ के हिन्दी रचनाकारों की इस अंक में सक्रिय भागीदारी है। जल्द ही हम दक्षिण भारत और पहाड़ की रचनाशीलता के साथ आपके समक्ष उपस्थित होंगे।

अंक की शुरुआत ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कश्मीरी कवि रहमान राही से डॉ. आरसु की बातचीत से की गई है। कहानियों में द्रोणवीर कोहली, कमल कुमार, ज्ञानप्रकाश विवेक (हरियाणा), तरसेम गुजराल (पंजाब), मधुर कपिला (चंडीगढ़), राजेन्द्र राजन, राजकुमार राकेश, स्नोवा बॉर्नो (हिमाचल), ओमप्रकाश तिवारी, बी.एस. बीर (पंजाब), इन्दु बाली (चंडीगढ़) तथा कविताओं में पद्मा सचदेव, अग्निशेखर, महाराज कृष्ण भरत, आदर्श, रमेश मेहता, दिलिप कुमार कौल, योगिता यादव, शेख़ मोहम्मद कल्याण, कुलविन्दर सिंह मीत, विजया ठाकुर, राज जमवाल (जम्मू), परेश, जसबीर चावला, नवीन नीर (चंडीगढ़), मनमोहन, एन. नवराही (पंजाब), केशव, अजेय, सुरेश सेन निशान्त, सरोज परमार, आत्मा रंजन, यादवेन्द्र शर्मा, गुरमीत बेदी, डॉ. नलिनी विभा नाज़ली, ओम भारद्वाज (हिमाचल), तथा कुमार रवीन्द्र, राम कुमार आत्रेय, डॉ. कुमार विनोद (हरियाणा) की रचनाएँ दी जा रही हैं। रमेशकुन्तल मेघ और विनोद शाही के आलेख के साथ साथ भगवान सिंह, विजयमोहन सिंह, अजय तिवारी, चमन लाल, प्रांजल धर, मनीषा कुलश्रेष्ठ, शशांक दुबे तथा ज्ञान चतुर्वेदी के स्तम्भ। कथाकार-सम्पादक शरद देवड़ा अब हमारे बीच नहीं रहे। उन्हें याद कर रहे हैं परेश। प्रसिद्ध चित्रकार मनजीत बावा काफ़ी दिनों से अस्वस्थ हैं। उनके शीघ्र स्वास्थ्य लाभ की कामना के साथ उनकी एक बहुचर्चित कृति आवरण के रूप में साभार प्रकाशित की जा रही है।

रवीन्द्र कालिया



# शरद देवड़ा भी शान्त हो गये

## प्रो. परेश

**'ज्ञानोदय' के जनवरी 08 के** अंक से ज्ञात हुआ, 'ज्ञानोदय' के पूर्व सम्पादक श्री शरद देवड़ा दिवंगत हुए। साठ के दशक में कलकत्ते से प्रकाशित इस मासिक की अपनी ही शान थी, प्रधान सम्पादक के रूप में श्री लक्ष्मीचन्द जैन का नाम छपता था। जो आज का भारतीय ज्ञानपीठ है, वह साहू दम्पति ने आरम्भ किया था।

श्री रवीन्द्र कालिया उसी मासिक पत्रिका को अब 'नया ज्ञानोदय' के नाम से सम्पादित करते हैं। गये वर्ष के अन्त में त्रिलोचन ही सारे समाचारों में छाये रहे, किन्तु इसी ठिठुरती सर्दी में जयपुर में रह रहे श्री शरद देवड़ा भी शान्त हो गये। 11 दिसम्बर, 1999 के दिन जयपुर के जवाहर नगर आवास में उनसे भेंट हुई थी, उनकी बहुत इच्छा थी कि मैं अगले दिन रविवार को रुकूँ, जिससे अनेक रविवासरीय समारोहों में साथ-साथ शिरक़त हो। राजस्थान विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अवकाश प्राप्त प्रो. कन्हैयालाल शर्मा अपने निवास तिलकनगर से उनके घर ले गये थे।

यह तो रही दीपक की अन्तिम चमकदार आभा देखने की बात, किन्तु जब यह साधक, महादेवी के शब्दों में 'मधुर मधुर मेरे दीपक जल', कलकत्ते में 18ए, ब्रेबोर्न रोड स्थित कार्यालय से 'ज्ञानोदय' का सम्पादन कर रहे थे। मेरे जैसे अनेक कलमकार उत्तर प्रदेश छोड़कर कलकत्ते में सिमट गये थे। राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, भगवान सिंह, श्रीराम सिंह शलभ, दूधनाथ सिंह, प्रयाग शुक्ल इत्यादि अनेक स्थानीय हिन्दी, बांग्ला और अँग्रेज़ी के लेखकों के अतिरिक्त कालेज स्क्वायर स्थित कोलकाता विश्वविद्यालय के काफ़ी हाउस में किसी भी समय एक भी कुर्सी खाली नहीं मिलती थी। बहुत बड़ा हॉल और ऊपर की बाल्कनी बुद्धिजीवियों से खचाखच भरी रहती। इतने अधिक प्यालों से निकलती काफ़ी की गर्म सुगन्ध सिर के ऊपर मंडराती रहती, जैसे दक्षिण भारतीय मन्दिरों के गर्भगृह के बाहर अगरबत्तियों की सिर फाड़नेवाली गन्ध और धुआँ भरा रहता है।

इस सबके ऊपर, कलकत्ते की विशाल आबादी के ऊपर एक ही नाम मंडराता 'शरद देवड़ा'! इस कलम की उन दिनों की चर्चित कहानी 'प्रश्न सलीब नहीं होते', तब 'नयी कहानियाँ' में प्रकाशित हुई थी। कहानी के तीन पात्र सारे पाठक पहचानते थे, एक स्वयं यह 'नरेटर; दूसरा नाम दूधनाथ ही दूधनाथ के रूप में उपस्थित, तीसरा शरद देवड़ा जी सम्पादक नाम से, संध्या समय एक तीन मित्रों का गुट बनाकर 'मासिक' के दफ़्तर से बाहर निकलते नीचे गुज़रती ट्राम में बैठ अपनी-अपनी मंजिलों की ओर सरकते।

शरद देवड़ा का जीता-जागता, कलकत्ते में रहता रूप देखना हो तो इसी कहानी को पढ़ने की सिफ़ारिश मैं करूँगा। 'ज्ञानोदय' छोड़ने के बाद शरद देवड़ा ने अपनी पत्नी के साथ 'अणिमा' नामक पत्रिका का प्रकाशन वहीं से शुरू किया। पत्नी ने अनेक बांग्ला उपन्यासों और कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। फिर वे लोग अपना प्रतिष्ठान जयपुर ले गये, सीकर जिले के गाँव फतेहपुर में जन्म लेकर हिन्दी जगत में शीर्ष सम्मान पानेवाले इस लेखक को प्रणाम। 1999 में जयपुर से लौटकर मैंने अपनी आत्मकथा 'शेखावटी की सोनामाटी' लिखी थी। 2001 में इसे शरद देवड़ा को समर्पित किया। दूसरा कोई व्यक्ति इस समर्पण के योग्य दृष्टि में नहीं आया। अनुमान है वर्तमान पेट्रोलियम मन्त्री मुरली देवड़ा इन्हीं के परिवार से हैं। इति।

1251/8 सी, चंडीगढ़

रहमान राही




# प्रतिबद्धता साहित्यकार के लिए ज़रूरी है

## ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कश्मीरी कवि रहमान राही से डॉ. आरसु की बातचीत

**सन 1965 में संस्थापित भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार पहली बार कश्मीरी साहित्य को ( 2004 का ) मिला है। आपके काव्य के द्वारा कश्मीरी को यह पुरस्कार मिला है। सुदूर दक्षिण के मलयालमभाषी साहित्य प्रेमी की हार्दिक बधाइयाँ। पुरस्कार घोषणा के अवसर पर आपके मन में आये भाव और विचार से मैं अवगत होने को उत्सुक हूँ।**

पुरस्कार घोषणा से बेहद खुशी हुई। खुशी के कुछ कारण हैं। 60 साल पहले मैंने साहित्य साधना शुरू की थी। उस विनम्र प्रयास को भारतीय स्तर पर बड़ा अंगीकार मिला है। भारत के भिन्न-भिन्न भागों और भाषाओं के विख्यात लेखकों की समिति ने पुरस्कार निर्णय किया था। यह कश्मीरी भाषा को मिलने वाला अंगीकार है। इस प्रदेश की भाषा-संस्कृति और साहित्य की अलग पहचान को मिली मान्यता है। यह कश्मीरी भाषियों की विरासत, परम्परा और इतिहास को मिलने वाला आदर है।

**आपने भाषा और साहित्य की विरासत का ज़िक्र किया। हमारे देश की हर भाषा का प्राचीन इतिहास समृद्ध है। कश्मीरी के अतीत के वैभव के बारे में आपका निरीक्षण क्या है?**

जी, आप से मैं सहमत हूँ। आधुनिक भारतीय भाषाओं की तुलना में कश्मीरी का साहित्य अधिक प्राचीन है। इधर के लोग प्राचीन काल के कवियों पर गर्व करते हैं। लिखित इतिहास के मुताबिक हमारे पास आठ शताब्दियों का समृद्ध साहित्य है। प्राचीन काल की रहस्यवादी कवयित्री ( 14 वीं सदी ) ललद्यद की रचनाएँ कालजयी हैं। नुन्द ऋषि का नाम भी एक प्राचीन कवि के रूप में चर्चित है। भारतीय काव्य शास्त्र के प्रारम्भ काल के प्रमुख आचार्य कश्मीर के थे। हव्वाख़ातून, महमूद गामी, रसूल मीर, रहमान धर, शम्स फ़कीर, परमानन्द अहद सरगर, समद मीर, ज़िन्दाकौल मजहूर, दीनानाथ नादिम आदि कवि कश्मीरी के गौरव के अमर प्रतीक हैं। इनकी कविताओं से मुझे काफी प्रेरणाएँ मिली हैं। ललद्यद, शम्स फ़कीर, रहमान धर ये मेरे इष्ट कवि हैं। यौवन में मैंने दीनानाथ नादिम की कविताओं को अपना नमूना बना लिया था। उनकी काव्य प्रतिभा ने मुझे बहुत प्रभावित किया था।

**शुरू में लोकगीत तथा उत्सवगीत में आप की ज़्यादा रुचि थी। उस रुचि की कुछ वजह तो रही होगी?**

बचपन में मैंने लोकगीतों का आस्वादन किया था। इसके गायक मेरे पड़ोसी थे। उनकी ताल-लय ने मुझे आश्चर्यचकित किया था। शादी और त्योहारों के वक़्त वे आते थे। एक घटना मुझे याद आती है। उन दिनों मैं सातवीं कक्षा का छात्र था। गाँव के एक समारोह में लोकप्रिय गायक गफ़्फ़ार लोजूर आये थे। मैंने उनका गाना तन्मय होकर सुना। वे एक गायक दल के साथ आये थे। शम्स फ़कीर का वह प्रतीकात्मक गीत मुझे बहुत पसन्द आया। वह मेरे जीवन का एक मील पत्थर बन गया। घर लौटकर मैंने उसके लफ़्ज़ों के समान कुछ पक्तियाँ लिख डालीं। उसको संगीतमय बनाने की भी भरसक कोशिश की।

**फिर उसका क्या नतीजा निकला? क्या आपको कामयाबी मिली?**

उसे मेरा पहला प्रयास ही मानना मुनासिब होगा। 1942 में मेरी स्कूली शिक्षा समाप्त हो गयी। फिर कॉलेज जाने की कामना की। सरकारी श्री प्रताप कॉलेज में प्रवेश मिला। कॉलेज की मैगज़ीन के लिए पहली बार कविता लिखीं। मुझ पर उर्दू कवि जोश मलीहाबादी की एक प्रकृति कविता का असर पड़ा था। मैंने उनकी तुकबन्दी को नमूना बनाया। प्रोफ़ेसर तय्यब शाह को मेरी कविता पसन्द आयी। उनका प्रोत्साहन मुझे मिला। तब मेरे मन में एक कामना पैदा हो गयी। कविता में अपना रास्ता अपनाना है। स्कूल के माहौल की तुलना में कॉलेज का माहौल मुझे अधिक पसन्द आया। उर्दू संस्कृति की ख़ूबियाँ मैं समझ पाया। मैंने उर्दू में लिखना पसन्द किया। सन् 1951 में मेरी दृष्टि बदली। मातृभाषा में कविता लिखने की आत्म प्रेरणा मिली। सृजन का उन्मेष सहज ढंग से मातृभाषा में आएगा। यों, मेरी कविता ने एक नयी करवट ली। मेरे भाव और विचार सहज और स्वच्छन्द होकर कश्मीरी में बहने लगे।

**फ़ारसी, कश्मीरी, अँग्रेज़ी भाषा में आपने उच्च शिक्षा प्राप्त की। कविता में रुचि रखनेवालों के लिए आपका भाषा ज्ञान नये रास्ते दिखाएगा। उन भाषाओं के पहुँचे हुए कवियों की कल्पना में आप**

**विचरण कर पाये होंगे। यों प्राप्त प्रेरणा प्रसंगों के बारे में कुछ बताएँ!**

फ़ारसी कवियों ने मेरे दिल पर अधिक असर डाला था। उनमें हाफ़िज़ और बेदिल प्रमुख हैं। भारतीय उर्दू कवियों में ग़ालिब और मीर को मैंने अधिक पसन्द किया। अँग्रेज़ी में उच्च शिक्षा पायी तो जॉन डन, कीट्स, कॉलोरिज़, येट्स और इलियट ने मेरे मानस को अधिक उन्मेष दिया।

**लोक निर्माण विभाग में एक लिपिक के रूप में आपका कैरियर शुरू हुआ था। निविदा एवं लेखा से कवि मानस को मुक्ति कैसे और कब मिली?**

जी हाँ, सन् 1949 में मुझे लोक निर्माण विभाग में एक आम लिपिक के रूप में नियुक्ति मिली थी। वह काम बहुत उबाऊ था। बारामूल्ला के कार्यालय में मैंने काम किया। चार महीने यों गुज़रे। मन वहाँ नहीं टिकता था। इधर से बचने के लिए एक उपाय सूझा। निराशा के क्षण में मैंने उर्दू अख़बार 'ख़िदमत' के सम्पादक को एक पत्र लिखा। वे शेख़ अब्दुल्ला के दिली दोस्त भी थे। सम्पादक का नाम मौलाना मुहम्मद सय्यद मसूदी था। फ़ारसी के नामी कवि अब्दुल कादिर बेदिल की शायरी की कुछ पंक्तियाँ भी पत्र के अन्त में उद्धृत करके लिखी थीं। मुझे एक मनपसन्द काम देने का निवेदन चिट्ठी का मुख्य विषय था।

**ख़त का नतीजा क्या था? ईंट-गारे की दुनिया से क्या आपको छुटकारा मिला?**

ज़रूर। चिट्ठी पढ़कर उनका मन पिघला। अख़बार में सब एडिटर पद पर भर्ती होने का मुझे मौका मिला। वह 'ऑफर' मेरे साहित्यिक जीवन का वरदान बन गया। कुछ समय तक मैंने वहाँ सेवा की। बाद में मुझे अध्यापक के तौर पर नियुक्ति मिली। अख़बार सेवा के दौरान मैं कई लेखकों के सम्पर्क में आ सका। दीनानाथ नादिम, सोमनाथ सुइती, नूर मुहम्मद रोशन उनमें प्रमुख हैं। कश्मीर के प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन से मैं जुड़ गया। कुछ समय बाद मैं संघ का मंत्री बन गया। मार्क्सवादी विचारधारा से वह संघ आगे बढ़ा। उस ज़माने की साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियों को इस आन्दोलन ने एक नयी दिशा दी थी। किन्तु बाद में इसकी गतिविधियाँ राजनीति पर केन्द्रित हो गयीं। सृजन कर्म को वह संकीर्ण बनाने लगीं। उसमें हुक्कुम का स्वर प्रबल बन गया। साहित्यिक काम मन्द पड़ गया। तब साहित्यकार वैयक्तिक अनुभव और अभिरुचियों पर ध्यान देने लगे।

**कल्पना, प्रकृति सौन्दर्य, व्यक्तिगत अनुभव आदि प्रवृत्तियाँ ही साहित्य को स्थायित्व प्रदान करती हैं न? प्रगतिशील साहित्य में ही उनका अभाव है। आपने कदम बदला तो कविता में नवीनता आयी होगी!**

जवानी में मैंने सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं पर केन्द्रित कविताएँ लिखी थीं। ऐसी कुछ कविताएँ मशहूर बन गयी थीं। मैं महसूस करने लगा कि कविता भाषा की दृष्टि से भी गुणवत्ता रखे। भावना प्रधान कविता हो या यथार्थवादी कविता हो। उसमें हृदय के भावों को अभिव्यक्ति मिलती है। प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़ने पर कुछ प्रयोजन हुआ। पुश्किन, पाब्लो नेरूदा, नाजिम हिकमत, टालस्टॉय, गोर्की, दोस्तोवस्की, क्रिस्टॉफर काडवेल जैसे भिन्न दृष्टिकोण वाले लेखकों की कृतियाँ पढ़ने का मौका तब मिला था। प्राचीन और मध्यकाल की चीनी कविताएँ भी तभी पढ़ी थीं। उस समय के अध्ययन और चिन्तन से नयी बातें समझ में आयी थीं। लेकिन और भी कुछ बातों में आगे मैं सोचने लगा। नारेबाज़ी के सीमित दायरे में लेखक कभी न पड़ें! पाठक को कल्पना के नये संसार की ओर ले चलने की शक्ति कृति में होनी चाहिए। भाषा की दृष्टि से भी कृति उन्मेषपूर्ण लगे। अपने आसपास की घटनाओं पर भी लेखक की प्रतिक्रियाएँ स्पष्ट होना अनिवार्य है। प्रमुख लेखकों की कृतियाँ पढ़कर मुझे यही सन्देश मिला था।

**प्रगतिवादी साहित्य एक ख़ास राजनीतिक विचारधारा के प्रति अधिक उन्मुख बन गया था। वह ढाँचा क्या स्वतन्त्रता के पक्षधर साहित्यकारों के लिए मंजूर होगा?**

विवेचनात्मक प्रतिभा साहित्यकार के लिए ज़रूरी है। उसके बिना जो प्रतिबद्धता है उसमें व्यक्ति की प्रतिक्रिया को हर्गिज़ जगह नहीं मिलेगी। जीवन के यथार्थ और परिस्थितियों के आधार पर स्वतन्त्र निरीक्षण आवश्यक है। प्रतिबद्धता के साहित्य में स्वतन्त्र चिन्तन को स्थान नहीं मिलेगा। हुक्कुम के मुताबिक लिखे जाने वाले साहित्य में ईमानदारी की चिनगारियाँ नहीं दिखाई पड़ेंगी।

**आज कश्मीरियन शब्द का ज़्यादा प्रयोग होता है। लेखक तथा राजनैतिक नेता इसका प्रयोग करते हैं। क्या यह प्रान्तीयता का प्रतीक है या संस्कृति का?**

हाल ही में इस शब्द को ज़्यादा प्रचार मिला है। राजनीतिक नेता इस शब्द को प्रदूषित कर रहे हैं। उनके प्रयोग में स्वार्थ का मकसद है। मैं इसके अर्थ को एक नया आयाम देना चाहता हूँ। इसका ताल्लुक भाषा से है। सांस्कृतिक और मानवीय मूल्य काफ़ी प्राचीन हैं। इधर के लोगों के मन में उन मूल्यों को पुष्ट करने की बलवती प्रेरणा है। कश्मीरियन में उसकी चेतना स्पन्दित होती है।

**'नवरोज़ि सबा' आपका आरम्भिक काव्य संकलन है। वह साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत हुआ...।**

सन् 1958 में इसका प्रकाशन हुआ था। 1961 में इसको साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला था। प्रारम्भ काल के अनुभवों का प्रवाह इस कृति की ख़ूबी है। बाद में इसका दूसरा संस्करण भी आया।

**'माफियानामा' ने कश्मीर में कुछ खलबली मचायी थी। उसका आधार क्या था?**

वह एक सटायर (व्यंग्य) कृति है। प्रत्यक्ष में वह एक यशोगान लगेगा। बख़्शी गुलाम मुहम्मद के शासनकाल का राजनीतिक इतिहास इसमें वर्णित हुआ है। कश्मीर में आयोजित एक मुशायरे में जब मैंने यह कविता पेश की थी तब अध्यक्ष ने सभा का बहिष्कार कर दिया था। वे एक बुज़ुर्ग कवि थे। नाराज़ होकर वे श्रोताओं के बीच में आये। उन्होंने कहा कि इस कविता को बर्दाश्त करना मुश्किल है। बाद में मैंने इस कविता की प्रतियाँ अख़बारों को दी। उन्होंने उसे छापने का साहस नहीं दिखाया।

**क्या एक कवि एक साथ सौन्दर्य प्रेमी और क्रान्तिकारी बन सकेगा?**

जीवन एक अत्यन्त संकीर्ण प्रक्रिया हो। तब सौन्दर्य प्रेम और क्रान्ति प्रेम में तालमेल स्थापित करना सम्भव नहीं होगा। मैंने अपनी प्रेम कविताएँ 'काली बारिश' में संकलित की हैं।

**कश्मीर में अमन-चैन की बहाली की सख़्त ज़रूरत है। इस पर आपकी सोच क्या है?**

आज कश्मीर का माहौल चिन्ताजनक है। आशंका और आतंक के

बादल यहाँ फैले हैं। मैं राष्ट्र प्रेमियों की कामनाओं का तरफ़दार हूँ। सारे लोग चाहते हैं कि यहाँ निर्भीकता का वातावरण फैले। इनसान के रूप में कश्मीर के निवासी भी पूरे मुल्क़ की जनता से प्यार और ममता की आशा रखते हैं। आज के कश्मीर के संघर्ष के आधारभूत कारणों की सही पहचान भी ज़रूरी है। खुले दिल से इनको तलाशना है। इस प्रदेश का इतिहास और परम्परा काफ़ी प्राचीन है। इस प्रदेश की सांस्कृतिक ख़ूबी को बरकरार रखना है। आज कश्मीर दोस्तों को देखना चाहता है, मालिकों को नहीं। मेरा मानना है कि दोस्त ही अमन-चैन का माहौल पैदा कर सकेंगे!

**कश्मीरी के साथ संस्कृत के विद्वानों ने भी संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया है, विशेषकर प्राचीन युग में। उनका मूल्यांकन आप कैसे करना चाहेंगे?**

क्लासिकी संस्कृत ज्ञान ने साहित्य की श्रीवृद्धि की थी। इतिहास अध्ययन, सौन्दर्यशास्त्र, काव्यालोचना, दर्शन, रहस्यवादी चिन्तन जैसी विधाओं में प्राचीन काल के आचार्यों की प्रतिभा विराट थी। कल्हण को भारत का प्रथम इतिहासकार मानना होगा। उनकी अमरकृति 'राजतरंगिणी' को प्रथम इतिहास अध्ययन का श्रेय मिलता है। अभिनव गुप्त की विद्वत्ता का आदर हमें करना होगा। दर्शन, रहस्यवादी चिन्तन, सौन्दर्यशास्त्र, संगीत आदि क्षेत्रों में उनका कालजयी योगदान हुआ था। काव्य चिन्तक के रूप में मम्मट का स्थान सर्वविदित है। ध्वनि सिद्धान्त के उद्भावक अभिनव गुप्त का यश सब कहीं फैला है। आधुनिक युग के कवियों को भी उनसे मार्गदर्शन मिलता है। 14वीं सदी की कश्मीरी कवयित्री ललद्यद को संस्कृत के सृजन चिन्तन से प्रेरणा मिली थी।

**अपनी रचना प्रक्रिया और प्रेरणा के बारे में कुछ जानकारी दीजिये!**

रचना प्रक्रिया की आरम्भिक स्थिति का वर्णन करना आसान नहीं है। किसी शब्द या आवाज़ या लय पर मेरा ध्यान आकृष्ट होता है। तब मुझे अन्दाज़ होता है, अब कुछ होनेवाला है। इसके साथ एक कामना भी मन में पैदा होती है, यानी भाषा के माध्यम से कुछ तलाशना और पाना है। व्यक्तिगत अनुभव के मूल्यवान पहलुओं को भाषा के माध्यम से पकड़ना है। बुनियादी तत्त्व शब्द ही है। भाषा ही मेरा मार्गदर्शन करती है। उस क्षण में मेरी अन्तरात्मा उसमें पूरी तरह से सराबोर होती है। सृजन के क्षण में अवचेतन को आनन्द मिलता है। अचेतन स्तर भी मुझे जगाने लगता है।

स्कूली दिनों में कविता के प्रति मेरा लगाव शुरू हुआ था। लोकगीत ने पहले रुचि पैदा की थी। फिर अपने ढंग से कुछ लिखने की चाह भी पैदा हो गयी। कॉलेज में पढ़ते वक़्त इसके लिए मौक़ा मिला। आगे उसके लिए ज़्यादा अवसर मिलते रहे।

**आज मानवता बड़े ख़तरे में पड़ी है। ऐसी हालत में भी कुछ साहित्यकार अँधेरे के उपासक बनते हैं। निराशा के बीज बोते हैं। आशा की बत्ती प्रज्वलित करना युग की माँग है न?**

आशा की कविता लिखने की पाबन्दी क्यों रखते हैं? अपने जीवन के अन्धकार भरे समय में भी कलात्मक उत्कर्ष की मूल्यवान कविताएँ लिखते हुए कवियों को हम देख सकते हैं। ईमानदार कविता आज्ञा के अनुसार नहीं लिखी जाती है। पूर्व निर्धारित शर्त या यान्त्रिक भावों की बनावट कविता के प्रवाह के लिए लागू नहीं होगी।

**आप केवल कश्मीरी कवि नहीं हैं, भारतीय चेतना के कवि हैं। विराट भारतीय साहित्य पर आप की सोच क्या है?**

भारतीय साहित्य की गौरव, गरिमा की पहचान के लिए पहले वेद और प्राचीन काल के महाकाव्यों पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। कालिदास, मिर्ज़ा ग़ालिब और ललद्यद सब उसके पोषक कवि थे।

आज हमें भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए अनुवाद को प्रोत्साहन देना है। देश की विभिन्न भाषाओं में वैभवशाली सम्पदा बिखरी पड़ी है। उनको समीप लाना है। वह एक सार्थक काम होगा। अनुवाद के लिए केवल भाषा पर अधिकार काफ़ी नहीं है। संस्कृति के गहन तत्त्वों को भी जानकर अनुवाद करना है। तब भारतीयता की समग्र छवि से हम अवगत हो सकेंगे।

हिन्दी विभाग, कालिकट विश्वविद्यालय
केरल - 673635



पद्मा सचदेव

## डोगरी चमुखे

(डोगरी से अनुवाद)

एक अक्षर की ये दुनिया सारी है
अपने में पूरी ये दुनिया सारी है
हाँ में हाँ कहते रहो अच्छी है ये
नहीं तो न्यारी ये दुनिया सारी है

गीला कागज़ देह सारी हो गयी
कहती पुरवाई भी आकर टोह गयी
लुगदी यूँ बिखरी कि नगदी हो कोई
अन्तरा सी गीत में गाई गयी

लिखी कविता तो लगा है यूँ मुझे
दिनों बाद आयी हैं साँसे मुझे
तुझ से मिलकर आयी हूँ जैसे अभी
हवा से भी लग रहा है डर मुझे

साँझ अब तो उस तरह आतुर नहीं
मस्ती इन्तज़ार की कातर नहीं
देहरी पर जलते दिये बिजली हुए
चाँद की भी उस तरह खातिर नहीं

शहर में अब कोई मित्तर न रहा
उसका अब तक था चरित्तर न रहा
तोते सारे उड़ गये उम्मीद के
पालने को कोई तीतर न रहा

उबलता है मन भड़कती सोच है
आग की रंगत में कितना लोच है
भाप भी हांडी में ही गिरती रही
कुछ न कह पायी खड़ा संकोच है

पानी तेरी आहटें हल्की नहीं
हिल गयी चाहे मगर छलकी नहीं
जब भी मिल जाओगे समन्दर में तुम
किसी को कोई ख़बर होगी नहीं

तलब थी पर हार कर बैठी है अब
रोज़ आनेवाली पल टूटा है जब
ज़ख्म कच्चा कर रहा था लूँ लूँ
पैर के नीचे पता न आया कब

फूलों में रस है सुगन्धि ही नहीं
बाँटने का भी शऊर है नहीं
सुन्दर है दरिया थे तेरे शहर का
पर ये मेरे जम्मू की तवी नहीं

धीरे धीरे झर रही है उम्र यूँ
इक नदी मुँहजोर चलती रही हूँ
थाम के ले जा रही थी ज़िन्दगी
मौत को भी पकड़ के रखा था क्यूँ

हल्के हल्के क़दमों की आवाज़ है
छुप छुपा कर चल रही यूँ लाज है
चारों ओर कैसी वीरानी यहाँ
मन हवेली का हुआ बेताज है

मेरी खटपट चुक गयी साँसों से है
मेरी खटपट चुक गयी चावों से है
बही खातों में जो चलाते हैं झूठ
मेरी खटपट तो उन्हीं शाहों से है

ज़िन्दगी मेरे लिए परी न थी
मैं कभी इसके अधीन तो न थी
ज़िन्दगी पीछे लगी कोई चुड़ैल
इसको ये गुस्सा कि मैं डरी नहीं

ज़िन्दगी अब भी तेरे घेरे में है
आज और कल मेरा अँधेरे में है
तुझसे ही जीता है मैंने सारा कुछ
हारा भी जितना वो सब तेरे में है

बी-242, चित्तरंजन पार्क, नयी दिल्ली-19
फोन : 011-26278786

# क्लासिकी कलारूपों की सौन्दर्यबोधात्मक इंजीनियरी

## रमेश कुन्तल मेघ

**'सौन्दर्यबोधशास्त्रीय इंजीनियरी' इतिहास के भौगोलिक** घटकों, समाजार्थिक व्यवस्थाओं तथा वैश्विक दृष्टियों का प्रतिफलन होती है। वर्गों तथा कला-माध्यमों के विकास से इसमें भी प्रयोग, परिवर्तन तथा सिद्धियाँ होती हैं। हम आर्यधुरी और ग्रीकधुरी की मिसाल लेंगे। वस्तुत: यह 'विचारों के इतिहास' (हिस्ट्री ऑफ आइडियाज़) का एक उपरूप ही है।

मुखबन्ध में प्राचीन इंजीनियरी का ग्रीक या यूनानी आयाम लें। प्राचीन यूनान के संग्रामरत नगर-राज्यों में युद्ध-हिंसा-उथल-पुथल, भय-करुणा आदि की प्रबलता रही थी। इतिहास-चक्र भी दुर्भाग्य-चक्र (नेमेसिस) हो गया था। ईस्किलस (ई.पू.535-456), सोफ़ोक्लीज़ (ई.पू. 496-406), यूरिपिडीज़ (ई.पू. 488-407) के मिथकीय एवं अर्द्धेतिहासिक नाटकों के अनुकारी कुलीन अभिजनों ने यथार्थता तथा ऐतिहासिकता के ध्रुवान्त एक साथ शिरोधार्य कर लिये। इसलिए त्रासयुक्त भय और दयामय करुणा— ये दो प्रधान संवर्ग समाज में व्याप्त हो गये थे। (प्लेटो (ई.पू. 428-347) ने तो कामातुरता एवं श्रृंगार (डायोनीसस) को यौवन और काव्य की नकारात्मक जीवन-रेखा पर अध:पतित कर दिया था।)इसे अन्य वास्तुसंरचना में ढालकर बाद में 'त्रासदी' की अवधारणा को पल्लवित किया अरस्तू (ई.पू. 384-322) की 'पोऐटिक्स' (काव्यशास्त्र) ने। प्रकृति और त्रुटि के हाशियों पर अनुकृति की बहुला संहिता रची गयी। त्रासदी उस विशृंखल प्रजातीय प्रारब्ध का द्योतक हो गयी। अरस्तू एथेंस को 'आइडियाज़' एवं मिथक से काढ़कर इतिहास की दुनिया तथा समाज की यथार्थता में लिवा लाये। ईस्किलस का एथेंस बहुत बदल गया।

तुलना में सिन्धु-गंगा के दोआब में बस चुके आर्यों के पास चतुर्वेद के सहकार में पंचम वेद अर्थात् 'नाट्यशास्त्र' भी हस्तगत हो गया। भरत (ई. प्रथम शती) के 'नाट्यशास्त्र' में ऋग्वेद के संवाद, सूक्तों से पाठ-वस्तु, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अनुष्ठान (अभिनय), तथा अथर्ववेद से रस को ग्रहण किया गया। 'नाट्य-पुरुष' चतुर्भुज वेद हो गया। शापित भरतवंश को लेजिटिमेसी भी मिल गयी। इसकी त्रिमूर्ति में एक ओर 'नृत्त' और 'नाट्य' की कान्त मैत्री हुई, दूसरी ओर प्रकृति-पुरुष के महारूपक से भी नेता नायक और नायिका का सुखात्मक उन्मीलन हुआ तथा तीसरी ओर बाद में काम एवं श्रृंगार की प्रेयस भूमि पर रमणियों के लिए अष्टनायिका छवियों की दशाएँ अनुरंजित की गयीं। कर्मचक्र की दार्शनिक श्रेयता 'आनन्द' में हुई है; आधुनिक आतंक के विरुद्ध। भरतमुनि (ई. प्रथम शती) की धुरी नाट्य (थियेटर)की रही : नृत्त से नृत्य, तथा नाट्य में नृत्त एवं नृत्य में नाट्य। नृत्त के ताल/ छन्द नाट्य एवं नृत्य के अभिनय एवं अनुकृति में क्रमश: विकसित हुए। अभिनय (मुद्रा/ भंगिमा) ने नृत्य को देहभाषा प्रदान की। दोनों कलारूपों में भाव तथा रस समानवर्ती हुए। नाट्य में अनुकृतिपरक अभिनय, नृत्य की तरह, प्रमुखत: आंगिक ही नहीं, वाचिक तथा आहार्य भी हो गया। इस त्रयी से ही विभाव, अनुभाव, उद्दीपन विभाव के भेद उभरे जिन्होंने एक कथासूत्र अर्थात् वस्तु अर्थात् नाटकविधान गढ़ा। इनके संयोग से रस की निष्पत्ति बतायी गयी।

सो, नृत्त, नृत्य एवं नाट्य की त्रिवेणी की भँवर नृत्य, तथा संगम भाव हैं। प्रकारान्तर से अभिनय तथा संगीत भी अनुषंग बनते गये। नृत्य में मुद्राएँ तथा भंगिमाएँ भाव-संचारक बनीं। नाट्य में स्थितियों-संघटनाओं का संचार उन्हें संचारी भावों से उद्वेलित करने लगा। अन्ततोगत्वा नृत्य और नाट्य दोनों का लक्ष्य एक एवं नवेक अर्थात् रस हो गया। तथापि नृत्य में स्थायी भावों तथा रसों के बीच धुँधलका है। नृत्य में रस से आगे आनन्द का उन्मेष परिलक्षित नहीं है, जबकि नाट्य में नौ रसों के अद्वैत रूप आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर बनाया गया। हम पीछे ही स्पष्ट कर आए हैं कि सौन्दर्यबोधशास्त्रीय इंजीनियरी का पहला ब्लूप्रिंट भरतमुनि (ई.प्रथमशती के आगे पीछे) का 'नाट्यशास्त्र' बना। इसमें नाट्य की संरचना वस्तु-नेता-रस की त्रयी वाली, तथा रससूत्र की गणितीय व्यवस्था $2 : x : 33 : 9 : 9 :: 1$ के समीकरण वाली है। आश्रय (नेता) धुरी पर दो विभाव (आलंबन तथा उद्दीपन) हैं; अनगिनत अर्थात् '$x$' अनुभाव

हैं जो मुद्राओं के समुच्चय हैं, संचारी भाव तैंतीस हैं; स्थायी भाव नौ हैं; रस नौ हैं। अन्ततः आनन्द एक है। अतएव इसमें एक भावपुंज की धारावाहिकता गोचर होती है— भाव, वि-भाव, अनु-भाव, संचारी भाव, स्थायी भाव। इसतरह महाभाव-केन्द्र दीप्तिमान हो जाता है। भावपुंज के क्रमिक संयोग से विभिन्न रसों की निष्पत्ति तथा एकैक आनन्द का प्रकाश होता है। अनेक सौन्दर्यवेत्ता आचार्यों से हटकर भोज (11वीं शती का पूर्वार्ध) ने रससूत्र की धारावाहिकता को चक्राक बना दिया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि कोई भी संचारी सूत्र संश्लेष में स्थायी बन सकता है अर्थात् स्थायी भावों और रसों की संख्या में विनिमय और चक्रगतिकी आ गयी। ऐसे कई सन्दर्भों को हम आगे कई प्रस्थानों में निरूपित करेंगे। तथापि तीसरे आयाम में भरत ने अवस्थानुकृति अथवा अभिनय (आंगिक, वाचिक, आहार्य) को भी समन्वित कर दिया। इस तरह भाव और अभिनय और रस परवर्ती सौन्दर्यतात्त्विक इंजीनियरी के पहले पहल प्रस्थान-कलश रखते हैं।

शास्त्रीय नृत्य-संरूपों (भारतनाट्यम्, ओडिसी, कथाकलि, मोहिनियाट्टम्) में भी भाव एवं अभिनय एवं रस ही आधारभूमि बने। इनमें एक ओर स्थायीभाव तथा रस के भेद धुँधले हो गये तो दूसरी ओर मुद्राएँ एवं भंगिमाएँ ही संचारी भावों की संवाहिका हो गयीं। इसी उपक्रम में आनन्द भी नेपथ्यगामी होता गया। अतएव **नृत्यसूत्र** का संशोधित गणित, यूँ ढला - 33 : $x$ :: 9। नृत्य में **भरतनाट्यम** के पारिभाषिक का अनुप्रवेश प्रथमद्रष्टया समीचीन नहीं लगता। पहले यह तमिलनाडु के मन्दिरों के देवता को समर्पित देवदासियों का नृत्य था जो देवताओं और राजाओं और धनकुबेरों के सम्मुख निष्पादित होता था। देवदासियाँ नित्य सौभाग्यवती कुमारिकाएँ होती थीं। इस प्रथा का पतन देवदासियों को वेश्याएँ बना बैठा। 1947 में 'देवदासी बिल' के पारित होने पर यह प्रथा प्रतिबन्धित होकर प्रायः समाप्त हो गयी। किन्तु रुक्मिणीदेवी (1908-1984) तथा तंजौर बालासरस्वती बानी (1918-1984) ने इस नाच-नृत्य को भरत के शास्त्र से जोड़कर शास्त्रीयता, सामाजिकता, पवित्रता तथा स्वीकृति प्रदान करायी। अब इसका सुभद्र नामकरण 'भरतनाट्यम' हो गया। रुक्मिणी देवी ने 1936 में अड्यार में 'कलाक्षेत्र' नामक नृत्यसंस्थान की संस्थापना की। भरतनाट्यम में संगीत (पद, गीत, गान) भी संश्लिष्ट हो गया। इस तरह गान एवं पाठ की संयुक्त आवृत्ति तथा अभिनय मिलकर संचारी भावों का रागधर्मी विधान करते हैं। इस प्रकार नृत्त तथा नृत्य तथा नाट्य का सामंजस्य इसका शास्त्र बना, नृत्त एवं अभिनय (भाव, रस,नाट्य) इसकी कोरियोग्राफी या नृत्यलिपि में अलारिप्पु, जातिस्वरम्, वर्णम्, अभिनय, तिल्लाना, श्लोक ने मिलकर 'भरत (नृत्य) नाट्यम' का विधान कर दिया। संक्षेप में,यही भरतनाट्यम हो गया। परम्परा से प्रयाण करते हुए आधुनिक नर्तक उदयशंकर (1909-1977) ने अभिनय, मुद्रा, वेशभूषादि में मन्दिरों की शिल्पप्रतिमाओं का अनुकरण करके तथा अन्ना पावलोवा (1881-1928) जैसी रूसी बैलेरीना की मंडली में शामिल होकर हस्तमुद्राओं, मुख-भंगिमाओं, गतियों तथा घुमाव-उछाल आदि को चमत्कारिक शोभा से मंडित कर दिया। डच नर्तकी माताहारी ने भी शैल्पिक इंजीनियरी की थी।

समानान्तरता में केरल में भरतनाट्यम के जैसे नृत्य-व्याकरण से कथकलि एवं मोहिनियाट्टम का भी उत्कर्ष हुआ। इनकी भी अपनी-अपनी नृत्यलिपियाँ उन्मीलित हुईं। कथकलि में नाना प्रकार से मुख रंगने, अर्धमुखौटे लगाने तथा मुकुट पहनने, चोगे धारण करने, घंटियों बँधे अंगवस्त्रम् फहराने का विधान है। यह नृत्य नाट्य की श्रेणी में भी रखा जाता है। मोहिनियाट्टम में सिर तथा गले में फूलों की मालाएँ व आभूषण बनाकर धारण करते हैं। धवलश्वेत साड़ियाँ पहनी जाती हैं तथा चोलक्कट्टु, जातिस्वर, वर्णम्, पदम, तिल्लाना, श्लोक, सप्तम आदि इसकी भी समापवर्तक भाषा है। इसका निष्पादन केवल महिलाएँ करती हैं। इसका मिथक-धार्मिक कारण है। जब समुद्र मन्थन हो रहा था तब विष्णु के मोहिनी रूप को देखकर शिव उस पर आसक्त हो गये। उनके समागम के फलस्वरूप (गणेश एवं मुरुगन कार्तिकेयन के अलावा) देवपुत्र अयप्पा का जन्म हुआ। इसलिए मोहिनियाट्टम नृत्य केवल युवा रमणियाँ करती हैं - श्वेत वसना, पुष्पाभूषण से युक्त। उसमें पुरुष नहीं होते। लेकिन सबरीमला तीर्थ के अयप्पा-स्वामी के मन्दिर में पाँच से लेकर पचास वर्ष की स्त्रियों का प्रवेश वर्जित है। मन्दिर में आराधक काले वस्त्र पहन करके ही आते हैं। वस्तुतः 'आनन्द', 'सौन्दर्य','ब्रह्म रस' जैसे शब्द भाषा के अर्थोत्तीर्ण, अपरिभाषेय, प्रत्यय लगते हैं। आगे हम इसकी गहन परख करेंगे।

शब्द-ब्रह्म तथा अर्थशक्ति के मिथुन ने (नृत्य के समानान्तर) काव्य में भी नाट्य का समायोजन किया। काव्यनाटक के युगल की नयी दुकाई बनी। 7वीं शती का उत्तरार्ध, 8वीं शती का उत्तरार्ध, 8वीं शती का मध्यान्तर क्रमशः भामह-दंडी-वामन का चिन्तन शब्दार्थ-केन्द्रित होकर उक्तिरीति-अलंकार सौन्दर्य की त्रयी का, तथा उस पर उसारे गये काव्यारमणी के शैल्पिक सांगरूपक का विन्यास करता रहा। इस तरह शब्दार्थों का साहित्य ढलता गया। इसके लिए काव्यदेह के परिगणित गुणों-दोषों के मार्गों की छानबीन होती चली (जबकि रसधारा संचारियों की संख्या में संलिप्त रही)।

अभी तक साहित्यधुरी पर अभिनय के फ्रेम वाली वस्तु (कथानक) एवं नेता की समस्याओं से ज़ोरदार मुकाबला नहीं हुआ था। अतः काव्यदेह के गुणदोष छाये रहे। संचारीभावपुंज सुदूर झिलमिलाता रहा और आत्मा के बजाय चित्त ही सन्दर्भ बिन्दु बना रहा।

अब काव्य-नाटक की आश्चर्यपूर्ण मैत्री की, तथा काव्यदेह में वेदान्तिक अद्वैत आत्मा की अस्मिता की दार्शनिक समस्याएँ सुगबुगाने लगीं। दूसरी सौन्दर्यसामाजिक इंजीनियरी का इन्तज़ार होने लगा। इसका बीड़ा सांख्यानुयायी भट्टनायक (9 वीं शती का उत्तरार्ध) ने उठाया। शूद्रक, भास, कालिदास,भवभूति आदि के युगीन विचारधाराओं से भी देखना-समझना शुरू हो गया था। शायद भट्टनायक को भी लगा होगा कि 'मृच्छकटिकम्' तथा 'मालविकाग्निमित्र' वाला इहलौकिक खुलापन बर्दाश्त-बाहर हो चुका है। इसीलिए तो कालिदास ने बाद की सभी कृतियों में देवदेवियों तथा अप्सराओं की रोमांटिक ढाल लेकर उन्मुक्त शृंगार तथा आश्रम संस्कृति की मैत्री करायी। उन्होंने 'प्रकृति' को ही विश्व-रंगमंच में बदल डाला— प्रकृति एवं नारी की कान्तमैत्री कराते

हुए।

अब जब भट्टनायक को काव्य तथा नाटक की दो माध्यमों में अभिव्यंजित कथाभूमियों से जूझना पड़ा तो उन्हें भी दैवी पात्रों के भाव-संचारों की नैतिकता, चमत्कारपूर्ण करतबों तथा आश्चर्यपूर्ण करिश्मों के वृत्तान्त रसानुभव में अन्तराल दिखाने लगे। सो, उन्होंने साधारणीकरण की एक क्रान्तिकारी-अवधारणा, तथा भावकत्व एवं भोजकत्व की प्रक्रियाओं से अर्थवत्ता के अपने विलक्षण रजिस्टर खोले और बदल डाले। इस भाँति उन्होंने काव्यनाटक की मैत्री कायम कर दी।

नैयायिक श्रीशंकुक (9वीं शती का पूर्वार्ध) ने तीसरी दिशा में काव्यनाटक और चित्रकला की मैत्री कराकर अ-लौकिक काव्य-विवरण एवं शोभाशाली वृत्तान्त के इहलौकिक अनुभव के अभिज्ञान अथवा अनुभिति के मनोरहस्यों में सार्थक ताकझाँक की। पहल की। उन्होंने 'चित्र-तुरग न्याय' पेश किया।

उन्होंने चित्रांकित तुरग (अश्व) में भ्रान्ति नहीं, बल्कि अनुमिति के पहले वास्तविक तुरग का संज्ञान, फिर काव्यनाटक के तुरग का उपमान करने के सोपानों को बताया। ये तीन सोपान काव्य तथा नाटक, दोनों पर लागू किये गये। 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' ने चित्रसूत्र के दस गुण, तथा 'कामसूत्र' के टीकाकार यशोधर ने चित्रशिल्प के षडंग बताये हैं। दोनों ही सादृश्य को सर्वप्रमुख, तथा प्रमाण (आधार विभक्तता, क्षयवृद्धि) एवं समानता को अभिलषितार्थ मानते हैं। इन्होंने रस को ही चित्र का भी लक्ष्य बताया। इस तरह भारतीय हिन्दू-सौन्दर्यबोधशास्त्र के अन्तर्गत नाटक, नृत्य, काव्य तथा चित्र इत्यादि की परम दशा 'रस' मानी गयी है। श्रीशंकुक जानते थे कि नाट्य में (नट के बाबत) चारों प्रतीतियाँ नहीं होतीं [तात्विक (यह दुष्यन्त ही है), भ्रान्ति (लगता है कि नट ही दुष्यन्त है) सादृश्य (नट और दुष्यन्त का समान आकार है), तथा संदिग्ध (तय नहीं है कि यह दुष्यन्त है कि नहीं।)] नाट्य और काव्य में जो प्रतीति होती है वह उसी समय के लिए होती है जब और जहाँ हम अपनी तर्कबुद्धि को स्थगित कर देते हैं। अत: 'चित्रतुरग न्याय' एक कलाप्रतीति है जिसमें हम ज्ञात का ही 'ज्ञान' करते हैं अर्थात् अपनी ही वासना की चर्वणा करते हैं। इसमें सादृश्य की अन्तर्धारा देदीप्यमान है। अत: चित्र (नाट्य) तुरग (नट) न्याय (अनुमिति/प्रतीति) का यह क्रम चलेगा! लगता है चित्रकला-मर्मज्ञ श्रीशंकुक बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' के भी विज्ञाता थे। उनका तर्क यह भी है कि मणि एवं प्रदीप की प्रभा दूर से समान ही लगती है। अत: काल-देश के अन्तराल से चित्र तुरग तथा यथार्थ तुरग एक समान लगते हैं, या हम ऐसी ही अनुमिति कर लेते हैं। सामाजिक, इनमें भिन्नता के बावजूद अभेद की, स्वैच्छिक प्रतीति कर लेता है। तो, यहाँ अब श्रीशंकुक प्रेक्षक और पाठक नैयायिक की भावभूमियों का अन्तर नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं? क्यों? क्यों वे नैयायिक प्रभु रंगमंच के दृश्यविधान तथा सहृदयानुभूति के आस्वाद के फ़र्क़ को भी ओझल कर देते हैं? क्यों? जानबूझकर?

शायद इसीलिए, आइन्दा, नृत्य और नाटक और चित्र से छनती हुई सौन्दर्यतात्त्विक इंजीनियरी काव्यकेन्द्र पर घनीभूत होने लगी अर्थात् इनसे छिटकर प्रस्फुटित तिहरी शब्दशक्तियों अभिधा- लक्षणा-व्यंजना पर सहवर्तन से वेदान्त तथा शैवदर्शन के पैटर्न में अँटकर ब्रह्म, शिवतत्त्व और आनन्द के हस्तक्षेप भी डटकर होने लगे। परिणामत:, काव्यशरीर बनाम काव्यात्मा का अन्तर्विरोध भी बेहद खुल्लमखुल्ला उजागर होने लगा। इससे नाटक की काँपती लौ मन्द होती गयी। यूँ, लोकायतिक वैश्विक दृष्टि भी मात खाती गयी।

परिणामत: अभिनवगुप्त (10वीं शती का उत्तरार्ध) ऐसे संदर्शी आचार्य हुए जिन्होंने दोनों देहात्मवादी सौन्दर्य-दृष्टियों के भाष्य समझाए : आनन्दवर्धन (9वीं शती का मध्यान्तर) के ध्वन्यालोक का आलोचन एवम् भरत के नाट्य शास्त्र की अभिनय भारती का द्योतन करके। इस सांस्कृतिक महायात्रा में उन्होंने अतीत को भविष्य में बदल दिया। वैदिक आर्यों की सुखान्त वैश्विक लोकधर्मी दृष्टि को काश्मीरीय शैवानन्दवाद में कायाकल्पित करते हुए उन्होंने भी इतिहास की अपेक्षा मिथकीय दर्शन एवं संवित् (अनादि वासना) को मूलाधार पाया। इस भाँति उन्होंने ग्रीक विरेचन से उन्मीलित प्रशान्ति नहीं, बल्कि वस्तु-नेता-रस, तथा शब्दशक्तियों की आदर्श मैत्री से आह्लादित ध्यान समाधि वाले अनहद 'आनन्द' का परम श्रेयपद पर अभिषेक किया। इसतरह अब समाधि एवं विश्रान्ति की पूर्वभूमिक तन्मयता में सौन्दर्यबोधानुभूति का उद्गम बताया गया। उनसे काव्यात्मा-धुरी पर समेकित काव्यशास्त्र की वापसी तथा पुनरुस्थान भी होता है। काफी बाद दार्शनिक पोलेमिक्स फिर एक सौ अस्सी डिगरी घूमी। मम्मट (11वीं शती का मध्य) तथा पंडित राज जगन्नाथ (17वीं शती का पूर्वार्ध) ने शब्द शक्तियों तथा रमणीयार्थक शब्द-ब्रह्म को ही काव्य-लक्ष्य लक्षण बना डाला।

लोकचित्त तथा सामाजिकता के सामन्तीय संकोच से डगमग सौन्दर्यबोधात्मक इंजीनियरी भी शिथिल होती गयी। अन्तत: वह एकायामी यात्रा जैसी होती चली गयी। अलबत्ता मध्यान्तर में भोज (11वीं शती का पूर्वार्ध) तथा विश्वनाथ महापात्र (14वीं शती का पूर्वार्ध) डावाँडोल होते रहे। भोज ने स्थायी भावों तथा संचारी भावों का फ़र्क़ तक़रीबन नामंजूर कर दिया, तो विश्वनाथ काव्य एवं नाटक के बीच पाले बदलते रहे। तदपि उन्होंने महाकाव्य तथा रसात्मक वाक्य, महावाक्य की प्रवर्तक संस्थापनाएँ भी अवश्य की थीं।

**शताब्दियों** की ऐतिहासिक बहुकालिकता तथा सहकालिकता के इस चक्र में चित्र और काव्य, नृत्य और शिल्प, काव्य और नाटक, कला साहित्य और दर्शन शास्त्र, कला शास्त्र और कामशास्त्र के बहुविध संयोजनों के द्वारा ही सौन्दर्यबोधात्मक इंजीनियरी होती आयी है, और आगे होती रहेगी। इसी के अन्तराल से सौन्दर्यबोधशास्त्र (एस्थेटिक्स) की प्रजनक वेदिका भी स्वयंमेव प्रस्तुत होती आयी है।

**फ्लैट सं-3 (भू-तल),**
**स्वास्तिक विहार - III, मनसादेवी कामप्लेक्स,**
**पंचकूला-134109 (हरियाणा)**
**फोन- 0172-2557312**

# ज्ञान के 'ब्लाइंड स्पॉट्स' और अपने समय की इतिहास-मीमांसा

## विनोद शाही

**बेहद मुश्किल होता है— अपने** समय के इतिहास के नक्शे बनाना, हम जिसका हिस्सा होते हैं— उसे ही समग्रता में देखने की कोशिश हमें 'ज्यो आँखिन सब देखियै, आँख न देखी जाहि' — की स्थिति में ले जाकर खड़ाकर देती है और चूँकि हर इतिहासकार, 'अपने' समय की ज़मीन पर खड़ा होकर ही, इतिहास लेखन करता है, अत: उसके नज़रिये को बाँधने वाले, आत्मांध्ता वाला बिन्दु, 'ब्लाइंड स्पॉट्स' की तरह, इतिहास पर भी जहाँ-तहाँ मौजूद हो जाता है। इसे कुछ चिन्तक इतिहासकारों की वर्गस्थिति के रूप में देखना पसन्द करते हैं, क्योंकि किसी भी व्यक्ति की चेतना को उसके वर्गहितों से पूरी तरह युक्त नहीं माना या देखा जाता। 'इतिहास' की बाबत हमारी समझ और सोच में इधर पिछले कुछ अर्से में जो अहम तब्दीली आयी है— उसकी एक बड़ी वजह है— 'इतिहास' के बजाय 'इतिहासकार' का केन्द्र में आ जाना। परन्तु चूँकि यह तब्दीली ख़ासी 'व्यक्तिपरक' नज़र आ रही थी, अत: इसे 'वस्तुनिष्ठता' के गुण से युक्त करने के लिये 'इतिहास' को, 'इतिहास-पाठ' और 'इतिहास-विमर्श' के रूप में विवेचन-विश्लेषण की वस्तु बनाया गया और फिर, इसी प्रक्रिया के दूसरे चरण में, 'इतिहासकार' की जगह 'पाठक' को ले आया गया। इस तरह देखा, दिखाया यह गया कि यह 'इतिहासकार' के केन्द्र में आ जाने की स्थिति एकदम नहीं है— क्योंकि आख़िरकार इतिहासकार भी इतिहास का एक पाठक ही होता है, और वह जो पाठक है— वह भी आख़िरकार इतिहास की रचना-पुर्नरचना में हिस्सेदारी रखने और निभानेवाला, एक और तरह का सर्जक।

लेकिन इतिहास की रचना-पुर्नरचना करने, या उसका सृजन करने की बात भी गहरे में 'व्यक्ति' की भूमिका को तरजीह देती थी और उससे इतिहास के वस्तुपरक स्वरूप पर आँच आती थी। अत: एक और तर्क दिया गया कि इतिहास का 'पाठ' या 'विमर्श' अपने आप में एक वस्तुपरक वजूद रखता है और वही इतिहासकार-पाठक या पाठक-इतिहासकार की सृजनशील मानसिकता के लिये एक 'स्थिति' या एक 'कंडीशन' के रूप में, अपना काम करता-कराता रहता है।

यहाँ मुझे भारतीय चिन्तनधारा में मौजूद 'काल' और 'अकाल' से जुड़े चिन्तन की याद आती है— जहाँ 'काल', 'यम' के रूप में है, जो सब चीज़ों का यमन-नियन्त्रण किया करता है। उसका मुख्य अस्त्र 'मृत्यु' है, जिस पर किसी 'व्यक्ति' का वश नहीं होता। परन्तु मृत्यु की लीला के बावजूद, उसके भीतर से 'अकाल-तत्त्व' एक शाश्वत-सनातन सत्य की तरह निरन्तर प्रवाहित रहता है। नानक का 'अकाल-पुरख' इसी तरह का है जो— 'करै करावै आपे आप'— जैसी कार्यशैली के साथ 'सत्य' का पर्याय होता है।

अब हम पाठकवादी इतिहास-विमर्श की, उपर्युक्त 'करै करावै आपे आप'— जैसी स्थिति पर पुनर्विचार करते हैं। कहा और समझाया यह जाता है कि यह एक ऐसी 'वस्तुपरक' स्थिति है, जो 'व्यक्तिपरकता' को भी, वस्तुनिष्ठ विवेचन-विश्लेषण के दायरे में ले आने में— सम्भवत: पहली दफ़ा— कुछ कामयाब होती नज़र आती है।

और जबकि हमारा 'अकाल-पुरख ', मूलत: एक निजी और व्यैक्तिक अनुभूति के रूप में साध्य होता हुआ, आख़िरकार इस पूरे वस्तु-जगत समेत 'हुकमै अन्दर सब को' ले आने में समर्थ होता है। अकाल-पुरख का यह हुकुम भी व्यक्ति-निरपेक्ष है; परन्तु 'इतिहास' की तरह वस्तुनिष्ठ नहीं है।

तो, जो मोटा फ़र्क है— इस पश्चिमी तथा भारतीय अवधारणा में— वह बस इतना ही है कि तत्त्वत: ये दोनों एक जैसी चीजें होती हुई भी, अभिव्यक्ति या स्वरूप में अलहदा हैं। भारतीय अकाल-रूप इतिहास, पश्चिम के कालपरक इतिहास का 'आदर्शीकृत' (आयडिय लाइज़्ड) रूप लगता है, वह सभी चीज़ों तथा व्यक्तियों में मौजूद हो कर भी, उनके बाहरी रूपों तथा गतियों के द्वारा अग्राह्य होता है। इस तरह बाहरी रूप और तत्त्व— एक दूसरे की विरोधी चीज़ें लगने लगते हैं और यथार्थ या अस्तित्व में उनकी एक साथ मौजूदगी, एक तरह की उलटबाँसी।

पश्चिम का इतिहास-चिन्तन, हालाँकि इतनी दूर तक नहीं जाता, तथापि दोनों की दिशाएँ एक जैसी मालूम पड़ती हैं। तो, अगर हम अपने काल-चिन्तन के साक्ष्य को आधार बनाकर पश्चिमी चिन्तन की समालोचना करें, तो एक नतीजे पर पहुँच जाएँगे और वह नतीजा यह है कि पश्चिमी इतिहास-चिन्तन पाठक-इतिहासकार के समय से जुड़े 'ब्लाइंड स्पॉट्स' के पार जाने का रास्ता अभी खोज नहीं पाया है; और जबकि भारतीय अकाल-तत्त्व, उसी 'अन्धकूप' के भीतर प्रवेश कर,

वहाँ छिपे सनातन स्रोत-सूर्य के प्रकाश को खोज लेने का विस्मयकारी दावा करता है। यह एक तरह भी आत्म-विरुद्धता को पाने जैसा है— जिसे प्रतीक भाषा में 'उल्टी गंगा बहाना' या 'प्रतिप्रसव करना' कहा गया है। (कबीर और पंतजलि के शब्दों में) यह कहना मुश्किल है कि एक दिन इस रास्ते चलता हुआ पश्चिमी चिन्तन, ऐसी ही किसी नयी तरह की रहस्यभाषा को बोलता नज़र आएगा। यों देरिदा के 'लेटर टू अ जैनीज़ फ्रेंड' में भाषा के विखंडन-खेल में 'विखंडनकर्ता' को एक दृष्टा (सीअर) के रूप में दिखाया गया है— जहाँ आप कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते? यह कर्म को निरासक्त-भाव से करने जैसी कोई बात लगती है और यह 'इतिहास' के 'इतिहास' के रूप में ख़ारिज करती है— उसे एक दृष्टि-कर्म या कर्म-दृष्टि में बदलती हुई। ठीक से देखें तो ज्यां लाकां इतिहास की अर्थ-प्रक्रिया को पकड़ने-समझने के लिहाज से और गहरे में जाते हैं। वे पाठक-इतिहासकार के वर्ग-व्यक्तिव वाले 'ब्लाइंड-स्पॉट' के पीछे किसी व्यापक व्यक्ति-निरपेक्ष सांस्कृतिक अर्थभूमि को खोजते हैं, जो इतिहास के वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ साधारणीकरणों (जेनेरलाईजेशन्ज़) को वृहत्तर साधारणीकरण (साधारणीकरणों के साधारणीकरण) की तरह नयी अर्थ-व्यवस्था में बाँध लेती है। यानी आख़िरी मायना या समझ वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता से नहीं, सांस्कृतिक साधारणीकरणों से उसके मेल खा जाने से पैदा होती है। इस तरह इतिहास, किसी सनातन-सी व्यापक संस्कृतिधारा के अन्तर्विकास में बदल जाता है।

यानी विज्ञान से पायी निगाह के द्वारा हम इतिहास को व्यक्तियों/घटनाओं/समयक्रमों आदि की विविध साधारणीकृत कोटियों के रूप में समझने की कोशिश करते हैं और संस्कृतिधारा में शिरकत करने की वजह से, उसके मुताबिक, उन कोटियों से साधारणीकरणों को और व्यापक सांझे तर्कों या रूपों में बाँधते हैं। इस सब का आख़िरी निशाना है— एक परम साधारणीकरण; जहाँ सब कोटियाँ और विभाजन उसमें विलय हो जाते हैं। यह मानवमन की ही कोई सीमा है कि वह ज्ञान या सत्य को ऐसे परम-साधारणीकरण के अभाव में, न तो पूरी तरह समझ पाता है और न उसमें पूरी तरह तन्मय होता है। तन्मयता परमज्ञान का लक्षण है। पश्चिमी चिन्तनधारा में सांस्कृतिक तल वाले 'साधारणीकरणों के साधारणीकरण' की बात होने लग पड़ी है, जो अगर परम-साधारणीकरण की हद तक पहुँचती है, तो वहाँ 'काल' का 'अकाल' होकर प्रकट होना तय हो जाता है। जैसे दृष्टि की सीमा ब्लाइंड-स्पॉट है, और इसीलिए वहीं उसी 'अन्धबिन्दु' में दृष्टि केन्द्रित करने पर जो दिखाई देता है, वह परम-दृष्टि होती है— उसी प्रकार का मामला यहाँ भी नज़र आता है।

इतिहास-चिन्तन में वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता के आग्रह के अन्तर्विरोध जैसे-जैसे साफ होते जाते हैं, वैसे-वैसे इस चिन्तन को व्यक्तिनिष्ठता की भूल-भुलैया घेरती चली जा रही है। इस तरह दो इतिहास हमारे सामने हैं— एक है, तथ्याधारित अराजक वैविध्यवाला इतिहास, जो कोटिविहीन रूपों में हमारी 'स्मृतियों' के लिए भले ही कुछ काम का हो, 'बोध' के भीतर कतई नहीं समाता और कोटिकरण या क्रमविभाजन आदि के आते ही उसमें जो 'अर्थ' उत्पन्न होता है, वह 'इतिहास के तथ्यों' का अर्थ न होकर, कोटियों-विभाजनों के पीछे मौजूद नुक़्तेनिगाह की वजह से वहाँ मौजूद नज़र आता है। परन्तु सवाल यह है कि तथ्याधारित यथार्थ और बोध के बीच क्या कोई 'वास्तविक' रिश्ता नहीं है? क्या ये दोनों चीज़ें एक दूसरे के विरोध में खड़ी हैं? और इनका मेल क्या केवल 'आरोपण', 'विलोपन', 'तिरोहन', 'स्थगन' जैसी बेशुमार प्रक्रियाओं के द्वारा 'तथ्याधारित यथार्थ' को अपना बन्धक ही बनाया करता है? इसलिए एक इतिहास के अनन्त इतिहास-विमर्श हो जाते हैं, और नुक़्तेनिगाह के केन्द्र में आते ही हमारे सामने दृष्टि के 'ब्लाइंड स्पॉट्स' से निपटने की समस्या आ खड़ी होती है।

परम्परागत रूप में इस समस्या को 'दृष्टि'-केन्द्रित दर्शनों के द्वारा ही सुलझाया जाता रहा है। पश्चिम में इधर 'वैज्ञानिक दृष्टि' और उसी से निकली 'समाजैतिहासिक दृष्टि' (मुख्यत: मार्क्सवादी) का वर्चस्व है। इस नुक़्तेनिगाह से भौतिक और चेतनामूलक धरातल विभाजित और एक हद तक परस्पर-विरोधी रूप ग्रहण कर लेते हैं। तथ्यों की दुनियाँ एक तरह से हमारी साधारणीकरणों की ज़रूरतों के उलट या उससे परे उनके 'विषयों' के रूप में खड़ी दिखाई देती है। फिर हर तरह के साधारणीकरण के पीछे किसी न किसी तरह की 'दृष्टि-अन्धता' भी खड़ी रहती है। जैसे वर्गदृष्टि में वर्गमूलक साधारणीकरण अन्ततः उन्हें रेखांकित करने वाले व्यक्ति के अपने वर्गहितों की अन्धता से कभी मुक्त नहीं होते। अत: परम-वस्तुनिष्ठता जैसी कोई चीज़ हमें कभी उपलब्ध नहीं होती। और दूसरी तरफ़ जिसे हम परम-साधारणीकरण कह सकते हैं— जैसे परमतत्त्व या परमात्मा— तो वे अन्ततः हमारी परम-अन्धता वाले तर्कातीत समाधान या बहाने भर होते हैं। हमारा इतिहास का काल-चिन्तन आख़िरकार जिस अकाल-पुरख पर आकर अटकता है, वह 'परमदृष्टि' और 'परमअन्धता' दोनों एक साथ होता है।

दरअसल दृष्टि के रास्ते में मौजूद 'ब्लाइंड स्पॉट्स', प्रकृति के अभिव्यक्त होने की बुनियादी विधि का ही हिस्सा हैं— ताकि 'दृष्टि' सम्भव हो सके। जिस तरह आकाश की ओर सफ़र करने के लिये पहले ज़मीन पर खड़े होने की सुविधा का होना ज़रूरी होता है, उसी तरह यह 'अन्धता' या 'आत्म-अन्धता' है, जिसकी ज़मीन पर खड़े होकर ही हम 'दृष्टि' पाते हैं। इसीलिए हमारे समस्त ज्ञान-विज्ञान आख़िरकार अन्तर्विरोधपूर्ण ही साबित होते हैं। इसलिए ज्ञान की आख़िरी समस्या अन्धकार या अज्ञान के पार जाने या उस पर विजय पाने की नहीं हो सकती, अपितु अज्ञान से ज्ञान की ओर या अँधेरे से रोशनी की ओर जाने की हो सकती है। दोनों के एक साथ स्वीकार पर यह सम्भव है कि हम इस बात के लिये तैयार हो सकें कि ज्ञान के सफ़र में होने वाली थकावट के बाद, अँधेरे या अज्ञान में थोड़ा विश्राम ज़रूरी होता है और वह ज्ञान-विरोधी वस्तु नहीं होती। यानी ज्ञान और अज्ञान, दृष्टि और 'ब्लाइंडनेस' या अन्धता के बीच तालमेल या सन्तुलन को खोजना ही आख़िरी खोज है। इसतरह, हम 'शून्यवाद' या 'ब्रह्मवाद' के अधूरेपन से निजात पा सकते हैं और ज्ञान-विज्ञान की दुनिया का जो सारा दारोमदार साधारणीकरणों की शृंखलाओं को खोजने से जुड़ गया है, उससे राहत पा सकते हैं। विशेष और साधारण, व्यक्ति और समाज या वर्ग या जाति, दैहिक श्रमोत्पादन व सामूहिक सृजनशीलता तथा आत्म एवं अन्य जैसी कोटियों में हमारे युग का यथार्थबोध या ज्ञान या इतिहास जिस तरह अन्तर्विभाजित

हो गया है और भयानक विरोध एवं विद्वेष को पैदा कर रहा है।

इस पुनरुपलब्धि सम्भावना को पीछे औपनिवेशिक दौर में 'पुनरुत्थान' की तरह समझाया और देखा गया था और वह एक अर्थ में तथा बहुलांश में था भी पुनरुत्थान ही, क्योंकि वह हमारे यहाँ मौजूद औपनिवेशिक सांस्कृतिक हमलों तथा विज्ञानवाद के साम्राज्यवादी किस्म के पतनशील प्रसारवादी रूपों से आत्मरक्षा का एक उपाय था।

परन्तु मौजूदा दौर में, नव-औपनिवेशिक हालात का मुकाबला करने के लिये, हमारे यहाँ जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान हो रहा है, वह बहुलांश में आत्मरक्षात्मक न होकर, आत्मसम्भव होने का प्रयास है, जिससे उसका प्रतिक्रियावादी-पुनरुत्थानवादी रूप अब बहुत नुमायाँ नहीं हो पा रहा है। इसीलिए वह लगातार कट्टर हिन्दूवादी प्रवृत्तियों की उपेक्षा व पराजय का हेतु बनता हुआ, उसे अधिक उदार व समन्वयवादी होने की ओर प्रवृत्त करता है— सामाजिक और राजनैतिक दोनों धरातलों पर और दूसरी तरफ़ जो समाजवादी चिन्तनधारा है, उसे भी यह नवोत्थान बीच-बीच में लोहियावादी किस्म के सांस्कृतिक समन्वय खोजने के लिये लगातार विवश और बेचैन किये रहता है।

और इस बाबत जब हम ठीक से लेखा-जोखा कर लेंगे तो पाएँगे कि हमारा स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य-चिन्तन गाँधी के पश्चिमोन्मुख विकल्प खोजने के असंख्य असफल प्रयासों के बाद, आख़िरकार अब अपनी सांस्कृतिक विरासत और परिदृश्य में मुख्यत: पुनर्मूल्यांकनों व पुनर्पाठों के एक अनिवार्य सिलसिले की ओर अग्रसर हो रहा है। यानी अपने इस दौर के साहित्यचिन्तन का इतिहास खोजने पर हम, छठे से आठवें दशक तक मुख्यत: पश्चिमोन्मुख विकल्पों की तलाश की असफलता को रेखांकित करेंगे, और उसके बाद के काल को पुनर्मूल्यांकनों और पुनर्पाठों का काल मानेंगे।

अब हम अपने सांस्कृतिक पुनरूत्थान व मौजूदा नवोत्थान पर एक सरसरी नज़रेसानी कर सकते हैं। पुनरुत्थानकाल में हमारा जागृत कुलीनमना मध्यवर्ग वेदान्तिक तथा बौद्ध स्रोतों की ओर अधिक देखता है, तथा व्यापक जन-सहभागिता के सरोकारों वाला पुनरुत्थान मुख्यत: वैष्णव भक्ति या वैदिक धारा को तरजीह देता है। वेदान्तिक, बौद्ध एवं निर्गुणधारा पश्चिमी मनस के अधिक करीब होने की वजह से, उसका मुकाबला करने में सीधे तौर पर समर्थ नज़र आती है— परन्तु उसकी परिणति मुख्यत: सुधारवाद, क्रान्तिकारिता अथवा साम्प्रदायिकता में होती है। एक ईश्वर, शास्त्र या संस्था के आसपास केन्द्रित हो सकने वाली यह संस्कृतिचेतना अन्ततः पश्चिमी राजसत्ता की विभाजनवादी सियासत के हाथों में खेल जाती है— जो एक तरह से औपनिवेशिक मन्सूबों को सफल बनाने में मदद करती है। इसके उदाहरण हैं— हिन्दू महासभा, अम्बेडकरवाद, सिक्ख-वर्चस्व, कबीरपन्थ, आदि धर्म, बाल्मीकिपन्थ, रैदासपन्थ आदि, जिनमें ब्रह्मसमाज या प्रार्थना समाज जैसी नयी सांस्कृतिक-निर्मितियाँ सुधारवादी तरीके से या परोक्षत: क्रान्तिकारी तौर तरीकों से शामिल नज़र आती हैं। दूसरी ओर, बहुलताधर्मी या बहुलतावादी वैष्णव और वैदिक धारा है। आर्यसमाज के रूप में वैदिक धारा या पुनरुत्थान सीमित परिणाम लाता है, परन्तु गाँधीवाद के रूप में वैष्णव धारा व्यापक जनाधार जुटाने में सफल रहती है।

साहित्यचिन्तन में मार्क्सवादी आलोचना में इधर कबीर-केन्द्रित निर्गुणधारा का जो अभूतपूर्व नवोत्थान हुआ है, उसका ताल्लुक भारतीय समाजवादी-वामपन्थी धारा में मध्यवर्ग की भूमिका के नुमायाँ हो उठने के साथ मालूम पड़ता है। यही स्थिति अम्बेडकरवादी दलित-चिन्तन में बौद्धधारा के नवोत्थान को लेकर भी है— जहाँ दलितों के भीतर से प्रकट हुई नयी मध्यवर्गीय-पर्त वर्चस्वी भूमिका में नज़र आती है। यही स्थिति कमोबेश हमारे नये संस्कृति-नायकों की भी नज़र आती है। मसलन, ओशो या महेश योगी का नव-ध्यानवाद, एक तरह का नववेदान्तिक उभार है, और रामदेव का योग, एक तरह का नववैदिक उत्कर्ष— जो मुख्यत: हमारे मध्यवर्ग को लुभाने के प्रयास में जुटा है।

यहाँ दूसरी प्रवृत्ति यह दिखाई देती है कि यह सारा पुनर्मूल्यांकनवादी सांस्कृतिक नवोत्थान, बड़े बेचैन करने वाले तरीकेवाला 'अकादमिक' किस्म का अथवा उथले प्रचारवादी (कथोपदेशकीय) किस्म का है— जिसकी वजह उत्तर आधुनिक भूमंडलवादी बाज़ारवाद के असर में खोजी जा सकती है ... इस 'अकादमिकीकरण' या 'उथलेपन' का नतीजा यह होता है कि यह नवोत्थान व्यापक जनान्दोलन होने में अथवा गहरी क्रान्तिकारी सामाजिक रूपान्तर या राजनैतिक अगुवाई का हेतु बनने में सफल नहीं हो पा रहा है। अत: इसकी भावी सफलता का सारा दारोमदार इस बात में होगा, कि कैसे यह अपनी मध्यवर्ग-केन्द्रिकता से उतरकर वास्तव में जनोन्मुख होने में कामयाब हो पाता है। अभी हमारे चिन्तक इसके लिये बहुत तैयार नज़र नहीं आते। पीछे जिस तरह से रामविलास शर्मा के ऋग्वेद के पुनर्मूल्यांकन के प्रयासों को मार्क्सवादी आलोचकों के द्वारा ही हाशिये पर धकेल दिया गया, वह इस बात का सुबूत है कि हम अभी चिन्तक के धरातल पर पर्याप्त 'बहुलतावादी प्रजातान्त्रिकता' वाली नवचेतना के अगले चरण तक नहीं पहुँच पाये हैं।

और निकट भविष्य में चिन्तन की जो बड़ी बहस मानवजाति के अग्रविकास का रास्ता प्रशस्त करेगी, वह इस बात पर होगी कि पश्चिम के द्वारा प्रस्तावित बाज़ारवादी उपभोक्तावादी बहुलतावाद के बरक्स वास्तविक मानवीय और जनतान्त्रिक बहुलताधर्मिता क्या होती है? ऋग्वैदिक सांस्कृतिक स्रोतों को उथले तरीके से ही देखें। वहाँ मन्त्र-पर-मन्त्र, सूक्त-दर-सूक्त, एक के बाद एक, नये से नया देवता, केन्द्र में उपस्थित होता चला जाता है। अग्नि, मित्र, वरुण, इन्द्र, विष्णु, सरस्वती तथा दर्जनों अन्य। ये सभी भारतीय कबीलों के विलुप्त सांस्कृतिक इतिहास के जीवन्त प्रतिनिधि हैं। वहाँ वे सब एक जगह, एक मंच पर, एक साथ, कैसे इकट्ठे हैं— यह देख कर हैरानी होती है।

और हमारे इतिहास के ज्ञानस्रोतों के जो 'ब्लाइंड स्पॉट्स' हैं, वे इस सन्दर्भ में एक नया अर्थ लेते हैं। आत्मान्धता, आत्मवर्चस्व से जुड़ी, वर्गबद्ध, जातिबद्ध, वर्णबद्ध जैसी किसी चेतना का पर्याय है, जहाँ जो इस 'आत्म' के मुताबिक नहीं, वही हमारा 'पर' या 'अन्य' है। हम उस 'अन्य' को देखना नहीं चाहते। वही अन्धता है।

**9, धामी नगर (चीमा नगर), जालन्धर-144014**

**मो. 09814658098**

# टीन का ट्रंक

## द्रोणवीर कोहली

**मेरे पास टीन का पुराना** ट्रंक है — इतना पुराना कि देखते ही चिहुंक उठोगे : बाबा रे, इतना पुराना! कहाँ से उठा लाये?

ज़्यादा नहीं, तो कम से कम सौ साल पहले मेरी माँ इसे दान-दहेज में ले कर आयी थी। ठीक सत्तर साल पहले मैं इसी ट्रंक को कुरंग वाले भापा जीत सिंह के ताँगे पर रख कर गुरुकुल पोठोहार ले कर गया था आज जिसकी यज्ञशाला पर इस्लामाबाद खड़ा है।

कई बादशाहतें और हकूमतें देखी हैं मेरे इस ट्रंक ने। बता नहीं सकता कि यह पहले कोट सारंग जैसे गामड़े कैसे पहुँचा, जहाँ मेरी माँ का मायका था। माँ के दहेज के संग यह ऊँट के किचावे में हचके खाते हुए उसकी ससुराल थोहे लाया गया था। थोहे से माँ-बाप का दाना-पानी उठा, तो वे डोरी-डंगे के साथ ट्रंक को खच्चर पर लादकर तलागंग ले आये। रास्ते में ड्रेगड़, रेगिस्तान से गुज़रते हुए यह ट्रंक कई बार गिरा, कई बार उलटा-पुलटा हुआ। फिर तलागंग से चलने वाली टुटहा लॉरी पर पता नहीं कितने हिचकोले खाये इसने। फिर 'गभीर-सुहां' के बरसाती पानी में लुढ़कने-पुढ़कने के उपरान्त यह चकवाल पहुँचा। चकवाल से रेलगाडी के डिब्बे में पता नहीं कितने लोगों के चरणों और देहों का भार झेलते हुए यह रोलपिंडी आया, जिसकी ऊबड-खाबड़ सड़कों पर बगटुट भागते पिशोरी ताँगे के झकझोरे खाते हुए पहले पुराने किले के एक मुहल्ले में, फिर वहाँ से पता नहीं शहर के किस-किस मुहल्ले के किस-किस मकान की किस-किस मंज़िल पर उतारा-चढ़ाया जाता रहा। रही-सही कसर पूरी की पार्टीशन ने। लूट-पाट करनेवालों से बचा कर पहले मैं इसे करांची (बैलगाड़ी) पर और उसके बाद मद्रासी मिलिटरी के ट्रक पर लादकर 'शाह नी ढेरी' (तक्षशिला) ले गया। वहाँ से यह मेरे साथ पंजा साहब की रेलगाड़ी में कई दिनों और रातों के सफ़र के बाद ठोकरें खाते हुए दिल्ली पहुँचा।

इतना लम्बा इतिहास है मेरे इस टीन के ट्रंक का। इतने विस्तृत भौगोलिक परिवेश से गुज़रा है मेरा यह ट्रंक, इतने आलोड़न-विलोड़न देखे हैं इसने, जितने कि इस इलाके में सिकन्दर बादशाह के सिपाहियों के बक्सों-पेटियों ने भी नहीं देखे होंगे। पता नहीं, अँग्रेज़ी, ज़माने की कहाँ की पुख़्ता चादर है इसकी कि जंग और जंग के मोरचे झेलते हुए अभी तक बना हुआ है। शायद तक्षशिला के प्राचीन और पंजा साहब के पवित्र वायुमंडल के सन्दर्श का ही प्रतिफल है कि यह अक्षयवट की तरह प्रलय में भी नष्ट नहीं होगा।

अलबत्ता इसका ढक्कन ज़रूर पिचक गया है— शायद चकवाल स्टेशन के प्लेटफार्म पर लालाजी (हम बाप को इसी नाम से पुकारा करते थे) मेरी नई ब्याहता माँ को इस ट्रंक पर बैठाकर रोलपिंडी की टिकटें निकलवाने गये थे। या मेरी माँ इसके ऊपर अपने छः जातकों को खड़ा करके उनके चोले बदलती रही थी या उनसे लाड़ लड़ाती थी। हो सकता है, लालाजी ने ही कभी इस पर पैर रखकर कोठे की मड़हन्नी से वह रंगला चरखा या पलंग-पीढ़ा रखा-उतारा होगा, जो मेरी माँ इसके साथ दहेज में लायी थी।

आप शायद समझ रहे होंगे कि मैं इस पिचके हुए ट्रंक को एंटीक पीस समझकर इसके साथ चिपका हुआ हूँ। या माँ की ममता से अभिभूत होकर उसकी एकमात्र निशानी के प्रति मोहाविष्ट हूँ। नहीं, उस माँ से कैसा लगाव जो पेट की खुरचन को मिटाते-मिटाते, मेरे (छठे जातक के) होंठों से स्तन छुड़ाते-छुड़ाते स्वयं मिट गयी थी। अनन्त बार मैंने दोनों हाथों में माँ के स्तनों को पकड़ चुघलाते हुए उसके मुहाँद्रे को टकटकी लगाये देखा होगा। फिर भी, उस ममतामयी आकृति का कोई अक़्स मेरे कल्पना-पटल पर अंकित नहीं है। उससे दमदार और तगड़ी सूरत तो एक और है, जिसकी छाप आज पचहत्तर बरस बीत जाने पर भी मेरे हृदयपटल से मिटी नहीं है, जो मेरे होश-हवास में मुझे एक बार भरमाकर और दूसरी बार मेरी अवहेलना करके चली गयी थी।

आज यह ट्रंक खालम-खाली मेरी खटिया के नीचे पड़ा रहता है। इसमें मैं कोई चीज़ रखता-धरता नहीं हूँ। यहाँ तक कि इसे खोलते हुए भी डरता हूँ। कभी खोलता भी हूँ, तो क्षणांश के लिए और तत्काल बन्द भी कर देता हूँ। इसकी वजह से बीवी-बच्चों के ताने-तिश्ने भी सुनने पड़ते हैं। पत्नी अन्दर-बाहर होते हुए कुड़कुड़ाती रहती है : ''इतनी नायाब चीज़ है, तो इसे बैंक के लॉकर में क्यों नहीं रखवा देते! बब्बर-का-बब्बर रख छोड़ा है। बुहारी-बौकर तक नहीं लगा सकते।''

बेटी गुस्सा होती है ''डैडी! बक्से का कुंडा तक तो रहा नहीं। हिंजिज़ भी निकल गयी है। कोई हिस्सा इसका है जो पिचका हुआ न हो। डैअडी! क्यों चिपके हो इसके साथ!''

''फ़िकर नेस्त,'' जवान बेटा दबे स्वरों में कहता है, ''किसी दिन तोफ़ीक अहमद कबाड़ी को बुलाकर उठवा देंगे...!''

''ख़बरदार!'' सिरहाने रखी छड़ी मैं हाथ में ले लेता हूँ। ''ख़बरदार, जो किसी ने मेरे ट्रंक को कानी आँख से भी देखा!''

वह हँसता है, ''आप सठिया गये हो, डैडी। ...ढक्कन ज़रा-सा उठाओ तो अजीब गन्ध

आती है, जैसे किसी ने नींबू निचोड़ा हो...।''

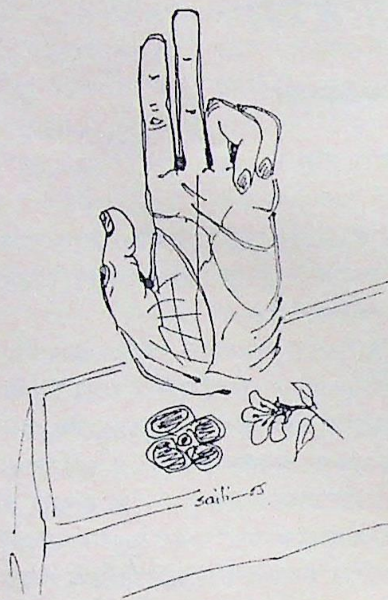
बेटे की बात सुन मैं खिल गया।

इसका मतलब है, मेरी यह ख़ामख़याली नहीं है। साढ़े छः दशाब्दियाँ बीत जाने के उपरान्त भी टीन के ट्रंक में से ऐसी महक कैसे आ सकती है? ज़रूर ही वह सुनहरी नींबू अक्षयवट का होगा, या कैटी उर्फ़ राधा के होंठों से ऐसा रस स्त्रवित हुआ होगा जिसकी अक्षय गन्ध टीन की चादर में स्थायी रूप से रच-बस गयी है। आज मेरा बेटा भी इसका समर्थन कर रहा है।

छः-साढ़े छः दशाब्दियों पुरानी घटना है यह। पाकिस्तान से हिन्दुस्तान हिज्र करने से क़रीब चार साल पहले अकस्मात कैटी को मैंने देखा था। मेरी उम्र बारह-एक बरस की होगी। कैटी मुझसे थोड़ी बड़ी होगी। वह अमीर माँ-बाप की इकलौती बेटी, मैं अत्यन्त निर्धन परिवार की छठी सन्तान। कच्ची उम्र में मैं घर की दुर्दशा और अपनी भयंकर अवहेलना से विद्रोह करके रोलपिंडी से भागा था और तीस मील दूर कुमर्री (कोहमरी) पहाड़ पर मामू के घर जा पहुँचा था, जहाँ म्युनिसिपैलिटी में वह आला अफसर थे और निःसन्तान भी थे। मुझे देखते ही खिल उठे थे, ''अच्छा किया जो तू आ गया!'' लेकिन असलियत जानी, तो अगले ही दिन मुझे 'एजेंटी' पर ले जाकर पिंडी जाने वाली पहली लॉरी पर चढ़ाकर वापस रवाना कर दिया था।

मैं भूखा-प्यासा अपराह्न वेला में ठिठुरता हुआ कुमर्री पहुँचा था। न पैरों में ढंग का जूता था, न बदन पर गरम कपड़ा। पैरों के बल रसोईघर के फ़र्श पर बैठा चावल भकोस रहा था कि ज़ीने पर सैंडिलों की खटर-पटर सुनाई पड़ी और फिर लिश्कारे मारती पैराशूट की पीली कली की कमीज़-सुथण में भारी-भरकम ठिंगनी औरत ऊपर आयी। उसके पीछे 'गुत-के-पराँदे' की तरह वह लड़की थी। मैं भरा मुँह चलाना ही नहीं, अपनी औकात भी भूल गया था और इतनी-सी झलक पाकर ही तन-मन से कन्या पर न्यौछावर हो गया था। किचन के आगे से फिसलती हुई-सी वह गयी थी, तो लगा था, गुलाबजल में नहाई कोई जलपरी पीछे सुवासित झोंका छोड़ती हुई निकल गयी है।

मैं जल्दी-जल्दी उल्टी हथेली से मुँह पोंछते हुए उठा और परदे की ओट में जाकर खड़ा हो गया। स्थूल महिला मामीजी के साथ काउच पर बैठकर बतिया रही थी। कैटी साथ वाले काउच पर जंघाओं को हिलाते हुए ऊबी-सी बैठी, इधर-उधर देख रही थी। तब तक मुझे लड़कियों के वस्त्रों की पहचान नहीं थी। यह तो बाद में मालूम हुआ कि उस सांझ कैटी ने— यही उस बालिका का नाम था— कमर के नीचे घुटनों तक जो सफ़ेद वस्त्र लपेट रखा था, उसे 'स्कर्ट' बोलते थे और ऊपर जो उसने




गुलाबी ऊन का स्वेटर डाल रखा था, वह 'कार्डिगन' कहलाता था। मैं तो देखता रह गया। ग़ज़ब की बड़ी-बड़ी आँखें थीं कैटी की! बिलकुल सुरैया की आँखों जैसी। गर्दन भी सुरैया की गर्दन जैसी ही लम्बी। सारा नाक-नक्शा ही सुरैया जैसा, यहाँ तक कि रंग भी कुछ-कुछ वैसा ही हल्का साँवला, लेकिन त्वचा कुमर्री के बगुगोशे जैसी सरस और चिकनी और दन्तावली खुले शरीफ़े के गूदे जैसी चिट्टी। ऐसी रूपवती लड़की मैंने नानकपुरे-मोहनपुरे में क्या, सारे कंटोनमेंट एरिया में नहीं देखी थी जहाँ हम चोरी-चोरी स्विमिंग पूल में अधनंगी नहाती अँग्रेज़ लड़कियों को देखने जाया करते थे।

''मिसिज़ अणद! नया मुंडू रखा है?''

मोटी-मुटल्ली ने इधर मुँह करके यह कुवचन बोला था। मैं बुरी तरह झेंपा और हड़बड़ा कर पर्दे से थोड़ा पीछे सरक आया। उसकी आवाज़ मुल्तानी मिट्टी जैसी चिकनी थी। मैं पानी-पानी हुआ जा रहा था। कैटी मेरे बारे में क्या सोच रही होगी? लेकिन सच तो यह था कि मेरी हालत देखकर किसी को भी यह मुग़ालता हो सकता था। मेरी शक्ल-सूरत और पहरावा जो ऐसा था— बिलकुल वैसा ही, जैसा रोलपिंडी में रोज़ सिनेमा के गेट पर छोले-कुलचे वाले के ठीहे पर पत्तल उठाने वाले उस मुंडू का हुआ करता था— रूखे-बिखरे बाल, बदन पर मलेशिया की शर्ट, मैली चीकट ख़ाकी निकर, जिसका बखिया जगह-जगह उधड़ा रहता था। लाम का ज़माना था। राशन में और कोई कपड़ा मिलता नहीं था। सीधे-सादे मर्द मलेशिया की सुथण-कमीज़ में पठान लगने लगते थे। औरतें पैराशूट की रंगीन कलियों के जोड़े में इतराती थीं।

''नहीं, मिसिज़ जुनेजा,'' ज़रूर मामीजी भी खिसिया गयी होंगी। ममतामयी वाणी में बोल रही थीं, ''यह मेरी ननद का... सुरगों में वासा हो उसका... सबसे निकड़ा जातक है...'' और फिर हँसते हुए यह बात भी बता दी थी, ''रोलपिंडी से नठ के आया है। अणद साहब तो कान पकड़कर खड़े-खड़े इसे लॉरी पर चढ़ा देते। मैंने बचा लिया। शोदे (बेचारे) को क्यों दोस दें! जातक ही तो है। कोई ऐसे थोड़े घर से भागता है। आ गया है। हम यहाँ अकेले अँधेरा ढोते रहते हैं। कुछ दिन बालक के साथ हँस-खेल लेंगे।''

कंठ में अटकी मेरी साँस फिर से चल पड़ी थी। ग़नीमत थी, मामीजी ने कोई और बात नहीं बतायी, नहीं तो कैटी की नज़रों में मैं गिर जाता। कैटी सोचती, वह इतना गिरा हुआ बालक है! हँसती चिट्टी-चमकीली दँतियाँ निकलकर!

''ममी, लेट्स मूव...!''

अचानक कैटी का लाड़-भरा रुआँसा स्वर पर्दे के पीछे बिला गया। मैं कुछ समझा नहीं। हाँ कैटी का मधुर स्वर ऐसा था, जैसा सुरैया का था जिसमें उसने दर्द-भरा तराना गाया था... *'मेरे मुंडेरे न बोल, जा कागा... कागा जाआआ...'*

''कैटी!'' माँ ने प्यार से उसे झिड़क दिया। ''कहीं तो टिक कर बैठाकर। ... अभी आये

हैं, अभी चल दें! आँटी क्या सोचेंगी...!''

''कैटी!'' मामीजी ने भी हक जतलाते हुए कहा, ''नहीं जाना। अभी गरम-गरम पिकौड़े मँगाते हैं।''

''पिकौड़े नहीं खाने...'' कैटी ने बुरा-सा मुँह बनाते हुए माँ की तरफ़ देखा। ''मचली हो रही है!''''कोई ऐसी-वैसी शै खा ली थी क्या?'' मामीजी ने चिन्तातुर स्वर में कहा।

मैं दबे पाँव आकर पर्दे की ओट से खड़ा हो गया। कैटी निरीह दृष्टि से कभी दाएँ कन्धे पर, कभी बाएँ कन्धे पर गर्दन रखते हुए माँ की तरफ देखती थी। 'किस्मत' में मुमताज़ ने बीमारी की हालत में इसी तरह अशोक कुमार से गर्दन टेढ़ी करके बात की थी।

''ज़्यादा तबीयत, ख़राब है, तो...'' माँ कैटी के माथे पर हाथ रख कर पूछ रही थी।

''नंई, थोरी-थोरी!'' कैटी उकड़ू-सी हो कर महीन आवाज़ में बोली।

मुझे लगा, सुरैया चहकी हो। सुरैया मुँह खोलती थी, तो उसके कंठ से नज़ाकत टपकती थी। एक बाइस्कोप में वह 'जुल्मी' को 'जुल्मी' बोली थी, तो रोज़ सिनेमा का खचाखच भरा हाल उसके लहजे़ पर मर मिटा था। दर्शकों ने कमीज़ें उतार कर उछाली थीं। कुछ वैसी ही नज़ाकत, कुछ वैसी ही कशिश कैटी के रस-पगे स्वर में थी।

मामीजी उठ कर कैठी के साथ जा बैठी थीं। प्यार-मनुहार से उसे समझा रही थीं, ''ऐसा कर, तू थोड़ी देर पलंग पर लेट जा।''

''नंई...'' कैटी ने बुरा-सा मुँह बनाते हुए इस तरह दाएँ-बाएँ गर्दन हिलायी कि मामी को चिंता हो आयी। बोली, ''मिसिज़ जुनेजा! कहो, तो नीचे से डॉक्टर शफ़ी को बुलवा लूँ।''

''नहीं, मिसिज़ अणद, डॉक्टर-वाक्टर की कोई ज़रूरत नहीं। यह लड़की कुछ खाती नहीं है। आने से पहले मिन्नतें की थीं कि बगुगोशा ही खा ले। भरी पेटी रखी है। बोली, नहीं खाऊँगी। ऐसी ज़िद्दी है! खाली पेट मतली कैसे नहीं होगी!''

''खाली पेट कभी नहीं रहना चाहिए।'' मामीजी उपदेश के स्वर में किटी को बता रही थीं। ''वक़्त पर नहीं खाओगी, तबीयत तो ख़राब होगी ही।''

''मिसिज़ अणद!'' कैटी की माँ ने कहा, ''घर में एक अदद नींबू होगा। आधी फाड़ी और काला नमक और काली मिर्च दे दो। हलके-हलके नींबू चाटेगी, तो तबियत ठीक हो जाएगी। पागल लड़की है।''

''अभी मँगवा देती हूँ,'' मामीजी ने इधर मुँह करके मुझे पुकारा, जैसे जानती हो कि मैं पर्दे की ओट में खड़ा था।

मैं पसीना-पसीना हो रहा था। ज़ल्दी-ज़ल्दी मैली आस्तीन से मुँह-माथा पोंछते हुए आया और भूल गया कि मामीजी भी देख रही हैं और कैटी की माँ की आँखें भी मुझ पर टिकी हैं। मैं एकटक कैटी को देखे जा रहा था। वह भी बिटर-बिटर मुझे देख रही थी। थोड़ी मुस्कायी भी थी। ज़रूर ही मेरी पतली-नंगी टांगों को और कुम्हारों जैसे बड़े-बड़े पैरों को देख कर हँसी होगी। करीब साढ़े छः दशक बाद आज भी उस क्षण को स्मरण करता हूँ, तो कैटी की वह विलक्षण मुस्कान हृदय को मथ जाती है।

''ओय!'' एकाएक मामीजी बोलीं, तो मैं चिहुँक गया। ''खड़ा देख क्या रहा है! दौड़के जा। गली के सिरे पर कासिम कुंजड़े की हट्टी है। लम्बी काली दाढ़ी है उसकी। कहना उससे, मिसिज़ अणद ने एक नींबू मँगवाया है। भाग के जा और छेती लैके आ।''

मैं नंगे पैरों दौड़ा गया। मैली, फिसलनी गली के ठंडे पत्थरों से पैर ठिठुर गये। लेकिन कासिम की हट्टी से पीला नींबू लेकर लौटा, तो सारी देह में गरमाहट भर गयी। लगा, मैं वीर जेसन हूँ जो पीला नींबू नहीं, भारी जोखिम मोल लेकर सोने का ऊन झपटकर ला रहा हूँ!

मैं जीना चढ़ कर हाँफते हुए आया। ड्राइंग रूम में बैठी कैटी ने प्रशंसा-भरी नज़रों से मुझे देखा। लगा, अभी हैरानी, प्रकट करेगी— अरे, इतनी ज़ल्दी ले भी आया!

मेज़ पर तश्तरी में चाकू और नमक-काली मिर्च रखे थे। मामीजी ने तत्काल नींबू चीरकर तश्तरी कैटी की तरफ़ बढ़ायी, ''इसे धीरे-धीरे चूस। देखना, अभी तबीयत ठीक हो जाएगी।''

मैं वहीं कूल्हों पर हाथ रखे खड़ा देख रहा था। कैटी तश्तरी पकड़ते हुए मुँह बना रही थी।

''चूस।''

कैटी नाक-मुँह सिकोड़ते हुए नींबू मुँह तक ले गयी। जीभ नींबू से लगायी या नहीं, लेकिन हाथ नीचे करके चटखारा लेते हुए बोल पड़ी, ''खट्टा-ब्रीट है...!''

मेरी हँसी निकल गयी और साथ ही यह बात भी, ''नींबू तो खट्टा ही होता है।''

मामीजी और मिसिज़ जुनेजा भी मेरी तरफ़ देखकर हँस दीं।

मैं कट कर रह गया। ऐसी लाज लगी कि न खड़ा होते बनता था, न जाते। मिसिज़ जुनेजा भुकुटियाँ चढ़ाये इस तरह देख रही थी, जैसे मुझ जैसे निर्धन लड़के को बिन बुलाये बीच में बोलने का हक नहीं है। लगा कि अभी मामीजी से भी बोलेगी कि अपने मुंडू को समझाओ। सम्भ्रान्त घरों में नौकर का इस तरह मेहमानों के सामने खड़े रहना और फिर खिड़-खिड़ हँसते हुए टकटकी लगाये देखना] बरदाश्त नहीं किया जाता...।

कैटी बड़ी नज़ाकत से नींबू पर हल्के-हल्के— ज़बान फेरते हुए कजरारी आँखों से मेरी तरफ़ देख रही थी— पता नहीं, नीची निगाह से या कृतज्ञ-भाव से कि देखो, यह लड़का किस तरह आनन-फानन में मेरे लिए नींबू लेकर आया है।

मैं कितना चाहता था कि कैटी अपने पृथुल गुलाबी होठों से मेरी तारीफ़ करे। मैं मन ही मन वाक्य बना रहा था कि यदि कैटी ऐसा कहती है, तो मैं क्या कहूँगा— मात्र खीसें निपोर दूँगा या यह कहकर उसे हर्षित करूँगा कि यह तो मेरा फर्ज़ था, कैटी!

''ममा, लेट्स मूव!'' कैटी ने फिर वही राग छेड़ा।

'काश! कैटी की तरह मुझे भी अँग्रेज़ी से बात करने का शऊर आता।'

''मम्मी, चलो न!'' कैटी अधीर हो कर बोली थी।

मिसिज जुनेजा की और मिसिज अणद की बातें ख़त्म होने में नहीं आती थीं। मैं कैटी को निहार रहा था। कैटी एकाएक तश्तरी में चूसा हुआ नींबू रखकर उठ खड़ी हुई थी। जैसे माँ को आदेश देते हुए बोली, ''ममा, अब चलो...!''

''देखो तो इस लड़की को। बात नहीं करने देती।''

दोनों स्त्रियाँ उठ खड़ी हुईं।

मैं एक तरफ़ हट गया। आगे-आगे दोनों

स्त्रियाँ बतियाते हुए चलीं। पीछे कैटी गुलाबी कार्डिगन के भीतर पेट पर हाथ रख इस तरह फुदक-फुदककर चल रही थी, जिस तरह स्कूल में बाधा दौड़ में लड़के पैर बाँधकर उछल-उछलकर चलते हैं।

खी...खी...

मेरी हँसी निकली, तो कैटी जैसे लज्जित होकर दौड़ी। माँ की बाँह से झूलते हुए मेरी तरफ़ देखती है और खीसें निपोरती है। मैं सातवें आसमान पर उड़ने लगा।

वे ज़ीने से उतरने को हुईं, तो कैटी ने मेरी तरफ़ देख मुस्काते हुए हाथ हिलाया, ''आल द बेस्ट!''

मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा। हाँ, उसकी मुस्कान मेरे होठों पर आकर बैठ गयी।

वे नीचे उतरकर गली में आयीं, तो मैंने चौड़ी खिड़की में से झाँक कर देखा। दोनों स्त्रियाँ दरवाज़े के साथ लगकर बतकही करने में मशगूल थीं। कैटी माँ का हाथ पकड़कर खींच रही थी, ''ममी, चलो बी!''

मैंने सोचा था कि खिड़की में खड़ा होकर मैं तब तक कैटी को देखता रहूँगा, जब तक वह ओझल नहीं हो जाती। लेकिन एकाएक यह बात मन में आयी और मैं चोरों की भाँति नीचे, आगे-पीछे देखते हुए दौड़कर ड्राइंग रूम में आया। फूलदार तश्तरी में कैटी का चूसा आधा नींबू पड़ा था। मुड़कर फिर आहट ली। आगे-पीछे देखा और फिर कैटी के होंठों से छुआ नींबू उठाया और डरते-डरते फाँक पर उसी तरह काँपते होंठ रख दिये, जिस तरह 1945 में लड़ाई के बाद मुफ़्त दिखाई जाने वाली अँग्रेज़ी फ़िल्मों में आदमी औरत के होंठों पर होंठ रखकर चूमते थे।

सारी देह में झनझनाहट दौड़ गयी। कैटी ने ठीक ही मुँह बनाया था। नींबू, सचमुच, खट्टा-ब्रीट था। लेकिन उस वक़्त वह खटास मुझे कन्धारी रेडब्लड माल्टे की शीरीं से भी मधुर लगी। उस वक़्त वह नींबू की फाँक नहीं, मेरे लिए कैटी के पृथुल गुलाबी होंठ थे जिनका स्पर्श मैंने अपने होंठों से किया था।

''बाय-बाय!'' गली में कैटी बोली और मैं चौंक पड़ा।

''बाय!'' यह मामीजी का स्वर था। वह आती ही होंगी। मैंने देर नहीं की। तश्तरी उठाकर किचन की तरफ़ भागा, अख़बार फाड़कर उसमें नींबू की फाँक और नमक-मिर्च की पुड़िया बनाकर झटपट निकर की जेब में छिपा ली। ज़ीने में मामीजी के पैरों की आहट सुनाई पड़ी, तो मैं छिपे चोर की तरह दबे पाँव किचन से बाहर निकला। घबरा रहा था। ग़नीमत थी मामीजी ऊपर आयीं और ज़ीने के कोने में बने बाथरूम में घुस गयी। निबट कर निकलीं, तो कहती हैं, ''तू एक काम कर। तेरे को त्रामी (पीतल की परात) देती हूँ। दौड़ के मिसिज़ जुनेजा के घर दे आ।'' और गली की तरफ़ वाली चौड़ी खिड़की में से दिखाते हुए बताया, ''सामने जो ऊपर जाने वाला ज़ीना देख रहा है न, इससे माल रोड पर जाएगा। ज़ीने के ऐन सामने से सड़क क्रास करके पहाड़ी की पगडंडी पर चढ़ जाना। ऊपर एक ही सफ़ेद बंगला है— मिसिज़ जुनेजा का। उन्हें फटाफट देकर आ। सीधे घर आना। बेवकूफ़ों की तरह कहीं खड़े तमाशा न देखने लग जाना, समझे!''

मुझे ख़्याल ही नहीं आया कि देह पर मैले-कुचैले कपड़े हैं। एक बार फिर कैटी को देखने की इतनी उत्सुकता थी कि मैं परात लेकर नीचे उतरा और एक ही साँस में जीना चढ़कर माल रोड पर आ गया। सड़क पर पोनियों, रिक्शाओं, डांडियों की और अमीर स्त्री-पुरुषों-बच्चों की भीड़ में से होते हुए सामने वाली पगडंडी पर दौड़ा और ऊपर पहुँच गया। पेड़ों के झुरमुट में इतना बड़ा और बगुले जैसा बंगला देखा, तो दंग रह गया।

''हइशाबा! कैटी इतनी धनाढ्य है!''

''ले आये!'' अचानक कहीं से मिसिज़ जुनेजा का स्वर सुनाई पड़ा। ज़रूर ही भीतर से उसने मुझे आते हुए देख लिया होगा। वहीं से उसने पुकार लगायी, तो एक नौकर दौड़ा आया और मेरे हाथ से परात लेकर भीतर चला गया। मैं फटी-फटी आँखों से उसे जाते हुए देखता रह गया।

''इनके नौकर के भी वस्त्र मेरे कपड़ों से साफ़-सुथरे हैं।''

''हॉय!'' भीतर से कैटी निकलकर आ गयी। लगा, मुझे देखते ही खिल उठी है। निकट आते हुए बोली, ''तेरा नाम क्या है?''

''वज़ीर!''

''तेरा नाम तो बड़ा अच्छा है।'' वह टकटकी लगाये मेरा मुख निहार रही थी। मेरे नाम की उसने प्रशंसा की थी। कितना चाहता था कि कैटी के मुख से अपना नाम उच्चरित होते हुए सुनूँ।

''तेरा नाम?'' मैंने संकुचित होते हुए पूछ ही लिया, हालाँकि मैं जानता था कि उसका नाम कैटी है।

''राधा!'' उसने बुरा-सा मुँह बनाकर कहा।

मुझे बड़ी हैरानी हुई। थोड़ी देर पहले ही इसे ''कैटी-कैटी'' बुला रहे थे। अब यह अपना नाम राधा बता रही है!

अनायास ही मुँह से निकला, ''लेकिन, कैटी...''

वह खिड़खिड़ हँसी, ''बुद्धू! वह तो मेरा घर का नाम है। स्कूल का नाम राधा है।''

''बड़ा अच्छा नाम है,'' मैंने झूठमूठ कह दिया।

''कहाँ!'' स्वर उसका उदास हो आया था। ''इतना तो कॉमन है! मेरी क्लास में ही पाँच और राधाज़ हैं— राधा कपूर, राधा गोपाल, राधा खरबन्दा, राधा चानना, राधा चंढोक...'' एक साँस में सबके नाम गिनाते हुए उसने तिरछी नज़र से भीतर की तरफ़ देखा, मानो पुराना नाम रखने के लिए माँ-बाप को कोस रही हो।

यह भी मेरे लिए हैरानी की बात थी, हालाँकि ऐसा होता है। हमारी क्लास में आठ ओमप्रकाश और पाँच मदनलाल थे।

''डैडी!''

एकाएक कैटी पगडंडी की तरफ़ दौड़ी। मुड़कर देखा, तो ठिगने कद का दुबला-पतला आदमी आ रहा था। जाते ही कैटी ने डैडी को बाँहों में भर लिया और लाड़ लड़ाते हुए मुँह बनाया, ''ममी ने आज मेरे को बोत डाँटा...''

डैडी जल्दी में थे। चलते-चलते उन्होंने कैटी का मस्तक चूम लिया, ''यह ममी बड़ी ख़राब है। एक दिन नयी ममी लाएँगे।''

कैटी खिल गयी। इठलाते हुए बोली, ''नयी ममी को भी लाओ और इस ममी को डाँटो।''

''ठीक है,'' उन्होंने साथ-साथ चलते हुए बेटी के मस्तक को फिर चूमा, ''बेटे! मैं थोड़ा ज़ल्दी में हूँ।''

कैटी के डैडी मेरी बगल से निकलकर गये थे। लेकिन मेरी तरफ़ नजर उठाकर भी उन्होंने नहीं देखा था। उस वक़्त मैंने अपनी ग़रीबी

और भी शिद्दत से महसूस की।

बाप के प्यार में पगी कैटी उछल रही थी। मेरे निकट आकर खीसें निपोरते हुए बोली, ''तेरे डैडी इतना प्यार करते हैं!''

मैं कच्चा पड़ गया। ग़नीमत है, उसने माँ का नाम नहीं लिया। प्यार! प्यार क्या होता है? कैटी से मुझे ईर्ष्या हो आयी। घर में माँ होती, हम निर्धन न होते, तो हमें भी इतना प्यार मिलता!

मेरे भीतर यह बात कुलबुला रही थी। मैं कैटी से कहना चाहता था— कैटी, कभी भूल कर भी डैडी को 'नयी ममी' लाने को न कहना। लाएँ, तो इन्हें कभी माफ़ न करना। मैं जानता हूँ, दूसरी माँ के आने से कैसी दुर्दशा होती है। घर उल्टा-पुल्टा हो जाता है। भाई भाई की शक्ल तक भूल जाता है। कैटी! तू खुशकिस्मत है जो तेरी माँ है। तू इकलौती है। तेरा बाप तुझ पर प्यार लुटाता है। हमारे बाप के पास देने को रोटी नहीं, प्यार कहाँ से देगा!

''चलता हूँ...'' अब वहाँ ठहरने का मेरा न कोई प्रयोजन था, न मन था।

''कहाँ चलता हूँ,'' कैटी माथे पर त्योरियाँ चढ़ाते हुए बोली। ''रुक, ममी पकौड़े बना रही है।''

''कैटी!'' भीतर से मिसिज़ जुनेजा का तीखा स्वर सुनायी पड़ा, वो चिढ़कर बोल रही थी। ''तेरी यह क्या आदत है! हरेक को मुँह लगा लेती है। सड़क पर आवारा पिल्ला देखती है, तो उसे भी उठा लाती है...।''

मेरी देह थरथरा गयी। कैटी बरांडे में खड़ी देख रही थी। मैं चुपचाप मुड़ा और पगडंडी से उतरकर सीधा घर आ गया।

मामीजी बाहर जाने को तैयार खड़ी थी।

''इतनी देर कहाँ अटक गया था! सुन, मैं ऊपर मिसिज़ जुनेजा के साथ घूमने जा रही हूँ। तू घर बैठ। भीतर से कुंडा लगा ले। तेरे मामाजी पीछे आएँगे।'' और सैंडिल खटखटाते हुए वह जीना उतर गयीं।

मैंने खिड़की में खड़े होकर देखा। वह बगल में चुन्नी समेटते हुए दौड़ी जा रही थीं। ज्योंही आँखों से ओझल हुईं कि मैंने ज़ीने में चिटकनी लगायी, अँधेरे स्टोर में जाकर जेब से पुड़िया निकाली और एक बार फिर कैटी के होंठों पर होंठ रख दिए।

मामाजी किसी वक़्त भी आ सकते थे। मैं पुड़िया को कहीं छिपाकर रखना चाहता था। स्टोर के कोने में चूल्हा जलाने वाले खिंगलों से भारी बोरी रखी थी। यह जगह मुझे सबसे सुरक्षित लगी। झटपट मैंने पुड़िया खिंगलों की बोरी के पीछे छिपा दी।

'यहाँ किसी की नज़र नहीं पड़ेगी। रोलपिंडी जाऊँगा, तो इसे अपने साथ ले जाऊँगा।'

मैं खड़ा देख ही रहा था कि मामाजी आ गये। दरवाज़ा खोला और ललक के साथ कहा, ''मामाजी...''

लेकिन मामाजी मेरी अवहेलना करते हुए सीधे ड्राइंग रूम में काउच पर जा बैठे और जूते-मोज़े उतारने लग गये। मुझसे बात तक नहीं की। दोपहर खाना खाने आये थे, तो देखते ही किस तरह खिल गये थे। साथ बैठाकर खिलाया था और कहा था— तेरे पास ढंग के कपड़े नहीं हैं! अपनी पतलूनें कटवाकर तेरे को निकरें बनवा दूँगा... अब क्या हो गया!

उन्होंने सैर वाला जूता पहनते हुए कहा, ''कल सवेरे की लॉरी से तेरे को रोलपिंडी जाना है...।''

क्या! मैं भौंचक्क।

''क्यों, मामाजी?'' किसी तरह मुँह से निकला। साथ ही रोने का मन हुआ।

''मामाजी का बच्चा!'' वह एकदम बिफरकर बोले, ''पूछता है, क्यों! भगोड़े और चोर बच्चों को हम अपने घर में नहीं रख सकते। अच्छा करते, उसी वक़्त तेरे को जूते मारते हुए लॉरी पर लौटा देते...''

मेरे कंठ से आवाज़ नहीं निकल रही थी।

''तेरे को ख़्याल नहीं आया कि पीछे घरवाले कितने परेशान होंगे?''

मैं खड़ा बिसूरता रहा। मन करता था, कह दूँ— वहाँ मेरे लिए परेशान होने वाला कौन है? लेकिन ज़बान नहीं खुली।

बस, इतनी-सी बात। इसके बाद मामाजी कैप लगाते हुए ज़ीने से उतर गये। अगर पूछते, तो मैं साफ़-साफ़ कह देता, 'मामाजी, मैं कुमरी न आता, तो पिंडी में 'माई वीरो की बन' (तालाब) में कूद कर जान दे देता।'

सारी रात मैं सो नहीं सका। जाना पड़ेगा। कोई चांस नहीं था टिकने का। इसी चिन्ता में कम्बल तक ओढ़ने की सुध नहीं रही। रात-दिन बिसूरता और ठिठुरता रहा। एक तमन्ना थी। पता नहीं पूरी होगी या नहीं। जाने से पहले एक बार, बस, एक बार, कैटी को देखना चाहता था। आस थी कि सवेरे मामीजी फिर किसी काम से पहाड़ी पर भेजेंगी और मैं कैटी से मिल लूँगा।

लेकिन नहीं, इन्होंने मौका ही नहीं दिया। सुबह-सवेरे मुझे उठाकर खिलाया-पिलाया और तैयार होने की ताकीद की। लग रहा था, जैसे मुझे फाँसी के तख़्ते की तरफ़ चलने के लिए कहा गया है। जब चलने की घड़ी आयी, तो मामा ने बरौनियाँ चढ़ाते हुए मामी से कहा, ''डार्लिंग, यह लड़का चोरी करके आया है। हमारी कोई चीज़ न ले जा रहा हो। इसकी तलाशी लो!''

मेरा तो हौल ही निकल गया। लगा कि भाँडा फूटा। मेरी जेब में पुड़िया देखेंगे, तो क्या जवाब दूँगा! कितनी फ़जीहत होगी!!

मेरी रोनी सूरत देख मामी ने बचा लिया। मेरे जाने से दुखी तो थीं ही। मेरे बालों में हाथ फेरते हुए उनसे कहती हैं, ''जातक को क्यों परेशान करते हो!'' और मुझ बिसूरते हुए को अपने साथ सटा कर बोलीं, ''कोई तलाशी नहीं लेंगे। देखा बुरा काम करो, तो आदमी सबकी नज़रों से गिर जाता है। आगे से ऐसी हरकत न करना। अगली गर्मियों में हम तेरे को खुद रोलपिंडी लेने आएँगे।''

''नाले चोर, नाले चतरा...'' मुझे लज्जित करने के लिए मामा ने अपनी बोली में यह बात कही, तो मेरे आँसू निकल आये।

घर की सीढ़ी उतरने से पहले मैंने उस काउच को नज़र भर कर देखा जिस पर पन्द्रह घंटे पहले बैठी कैटी ने मेरा लाया हुआ नींबू चूसा था और मुँह बनाते हुए नज़ाकत से बोली थी— 'खट्टा-ब्रीट है'। याद करके कलेजा खुलने लगा।

मामाजी के पीछे-पीछे चलते हुए मैं माल रोड पर आया, तो मुड़-मुड़कर पहाड़ी की तरफ़ देखता था। बादल थे। कैटी के सफेद बंगले का कुछ ही भाग दिखाई पड़ता था, जैसे बादलों की गोद में पगुरा रहा था।

''मुड़-मुड़के क्या देखता है? जल्दी चल, नहीं लॉरी छूट जाएगी।''

मैं चुपचाप चलता रहा। माल रोड पर दौड़ते रिक्शा थे। पोनियों पर कनटोपे पहने गोरे-गुलाबी

बच्चे थे। उनके साथ दौड़ते पहाड़ी कुली थे। डांडियों पर बैठी बूढ़ी-जवान औरतें थीं। ग्राहकों की इन्तज़ार में आपस में दोस्ताना हाथापाई करते कुली थे — सब था, बस, कैटी ही नहीं थी।

दोपहर होते-होते मैं रोलपिंडी पहुँच गया। यहाँ आते ही इस बात की चिन्ता हुई कि अपनी थाती को कहाँ सँभालकर रखूँ। घर में ऐसी कोई ताक-आलमारी थी नहीं। कपड़े रखने के लिए किसी भाई को पेटी मिली हुई थी। किसी के पास बक्सा था। मुझे मिला था यही ट्रंक जो कभी माँ को दहेज में मिला था। मुझे इसलिए कि कोई भाई यह 'चिब-खड़िबा (टेढ़ा-मेढ़ा) बक्सा लेने को तैयार नहीं था। सो, ट्रंक से बेहतर जगह और क्या हो सकती थी। सो, मैंने अपनी पुड़िया को कपड़ों के नीचे छिपाकर रख लिया। प्रतिदिन सबकी आँख बचाकर मैं एक बार तो कैटी के होंठों का स्पर्श कर ही लेता था। कभी-कभी तो दूसरी-तीसरी बार भी। मैं जब भी ट्रंक खोलता, भीतर से रोम-रोम को पुलकित कर देने वाली महक उठती, मेरे लिए यह नीबू की ही महक नहीं, उसमें तन-मन को अनुप्राणित कर देने वाली कैटी के होंठों की सुवास घुली थी।

लेकिन एक बात से मैं चिन्तित था। ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे थे, नींबू सूखता-सिकुड़ता जा रहा था। रंग भी उसका काला पड़ने लगा था। डर था कहीं सूखे फूले की तरह झड़ ही न जाए। लेकिन अचरज भी होता था। इतना समय बीत जाने के अनन्तर महक में कोई अन्तर नहीं आता दिखाई पड़ता था। अलबत्ता मुझे तो यही लगने लगा था कि इसमें इज़ाफ़ा ही हो रहा है। यह वास्तविकता थी या मेरा भ्रम था, कह नहीं सकता। तथापि असलियत से आँख मूँद लेने में तो आत्मतोष होता है, मैं उसी में इत्मीनान पा रहा था।

लेकिन नहीं जानता था कि इसकी परिणति इस तरह होनी थी।

उस दिन घर लौटा, तो क्या देखता हूँ कि मेरा ट्रंक गलियारे में औंधा पड़ा है। मेरा तो त्राह ही निकल गया। कुछ नहीं सूझा, तो पागलों की तरह बौखलाने लगा, "मेरा ट्रंक यहाँ किसने डाला?"

कपड़े फर्श पर पड़े थे। जैसे, कोई सेंधमार आया था और सारा सामान बिखेर कर चला गया था। मुझे सबसे बड़ी चिन्ता अपनी उस पुड़िया की थी। तत्काल ट्रंक सीधा किया और पागलों की तरह एक-एक कपड़े को झाड़-झकझोड़कर देखता गया। नहीं मिली, तो ऐसा आघात लगा, जैसे मैं राधा से मिलने गया था उसकी माँ ने मुझे पहाड़ी से नीचे धकेल दिया।

मन हुआ कि फूट-फूटकर रो लूँ। भाई बगलें बजा रहे थे। मैंने चिल्लाकर रोष प्रकट किया, "किस पाजी ने मेरा ट्रंक बाहर निकाला?"

वे मेरी खिल्ली उड़ाने पर तुल गये। मैंने आवेश में न छोटा देखा, न बड़ा। तिलमिलाते हुए कहा, "हँसो, हँसो! खूब हँसो!" फिर एक-एक को ऐसा फटकारा कि इतने बरसों बाद आज उसे याद करता हूँ, तो सोचता हूँ कि इतनी हिम्मत मुझमें कहाँ से आ गयी थी।

"क्यों बौखला रहे हो!" बड़े भाई ने विहँसते हुए कहा, "कई दिनों से घर में अजीब-सी गन्ध फैल रही थी। खोजने पर देखा, तेरे ट्रंक में नींबू सड़ रहा था।"

दूसरे भाई ने रद्दा लगाया, "पहले तो हमने सोचा, कुमर्री गया था। मामू की कोई सेंट-वेंट चुरा लाया होगा।"

अब मुझसे बरदाश्त नहीं हुआ। चिल्लाकर कहा, "हाँ-हाँ, वहाँ से ख़ज़ाना चुराकर लाया हूँ। लोगे?" लेकिन यह नहीं कह सका कि वही ख़ज़ाना तुम्हीं लोगों ने छीन लिया है।

दूसरे भाई ने परिहास किया, "खोदा पहाड़, निकली चुहिया — वह भी पुड़िया की शक्ल की..." और इस हास्यास्पद बात पर सब इस तरह हँसे, जैसे उसने कोई नया मुहावरा गढ़ा हो।

"कमरे में खड़े होना दुश्वार हो गया था।" मझला बोला। दूर नाली में फिंकवा दी।

मन करता था दोहत्थड़ मारकर सारी दुनिया को सुनाऊँ। लेकिन होश मैंने कायम रखे। जानता था, कोई नतीजा नहीं निकलेगा। सो, जिसे कहते हैं, सीने पर पत्थर रख, खून का घूँट पी कपड़ों को समेटकर ट्रंक में ठूँसा और उसे भीतर जा रखा।

इस तरह, मेरी अनमोल थाती, जिसे मैंने जन्म-जन्मान्तर तक सहेजकर रखने का संकल्प लिया था, अपनों के ही हाथों बिला गयी।

इसके बाद मैं जब भी ट्रंक खोलता, उसमें से ऐसी भीनी-भीनी सुगन्ध आती, जैसे कस्तूरी मृग की नाभि से आने की बात सुनता था। ऐसे लगता था, जैसे नींबू की महक और कैटी के होंठों की सुवास टीन की चादर में रच-बस गयी थी। यह कोई चमत्कार था या कैटी के प्रति मेरी उदग्र आसक्ति या मेरे बचकाने प्यार का खब्त, कैसे बताऊँ, जो मेरे इस भ्रम को टूटने नहीं देता था जिसकी अनुभूति मुझे उम्र के इस पड़ाव में आकर भी होती रहती है, हालाँकि तभी मैं यह बात भलीभाँति समझ गया था कि ज़मीन पर रहते हुए मैंने बिना पंखों के उड़ने का जतन किया था। इस परिच्छेद को मैं हमेशा के लिए बन्द भी कर देना चाहता था, परन्तु जब भी ट्रंक खोलता, और वह वायवीय गन्ध आती, मेरा संकल्प कमज़ोर पड़ जाता और उस काल्पनिक जगत में विचरण करने की सुखानुभूति मेरी किशोरावस्था की अनुकांक्षा बन जाती।

तभी ऐसा भयंकर अन्धड़ आया कि हमें अपने शहर, अपने प्रान्त से ही नहीं, अपने मुल्क से ही दरबदर कर दिया गया। कोई अपनी जान के साथ जो कुछ उठा सकता था, लेकर भागा था। मेरा सर्वस्व था मेरा यह टीन का ट्रंक। यही मेरी थाती थी। यही मेरी धरोहर थी। इसी 'चिब-खड़िबे' और अभिशप्त ट्रंक को सिर पर उठाए मैं काफिलों के साथ भटकता-भटकता सैकड़ों मील का पैंडा मारकर इस मुल्क में पहुँचा। सालों की भटकन और जद्दोजहद के उपरान्त नौकरी मिली। खाट-खटिया की जगह भी बना ली, लेकिन नहीं जानता था कि अभी यह सब देखना भी बदा था।

हर सुबह मैं लाल किले से 9 नम्बर की बस पकड़कर दफ़्तर जाया करता था। उस दिन ठसाठस भरी बस कश्मीरी गेट तक काफ़ी खाली हो गयी थी। लुडलो कैसल पहुँचते-पहुँचते अचानक नज़र गयी, तो तीन सीट आगे वाली सीट पर लाल कोट और लाल स्कर्ट में बैठी लड़की बार-बार मुड़कर दाईं ओर बैठे लड़के की तरफ़ देखती और हँसती भी और इशारेबाज़ी करती है। तब भी मैंने ऐसा कुछ महसूस नहीं किया— फ़कत थोड़ी हसद, किंचित ईर्ष्या उस भाग्यशाली युवक से हुई थी। मेरा दफ़्तर आई.पी.कालेज और यूनिवर्सिटी के बीच पड़ता

था और बसों में सफ़र करने वाले लड़के-लड़कियों को अकसर इस तरह की ओछी हरकतें करते हुए देखा करता था।

लेकिन एकाएक जब लड़की ने आइल की तरफ़ टाँगें मोड़कर मुसकाते हुए उस लड़के की गोद में एक मुड़ा हुआ कागज़ उछाला, तो मेरा हृदय उछल गया।

'कैटी...! नहीं यह तो राधा है!'

हाँ, वह कैटी ही थी। क्या मैं अपनी राधा को नहीं पहचानूँगा?— वही साँवला रंग। वैसी ही बड़ी-बड़ी आँखें। वैसे ही पृथुल होंठ। इसके बावजूद जेहलम के उस पार की राधा की जो छवि देखी थी, रावी के इस पार की राधा में भारी अन्तर आ गया था। तब की अल्हड़ बाला का रूप-रंग निखर आया था। सात-आठ साल की अवधि में राधा पूर्णविकसित परिपक्व तरुणी हो गयी थी। इसी राधा के होंठों की सुवास मेरे टीन के ट्रंक में रची-बसी थी।

कंडक्टर ने 'आई.पी.कालेज' की हाँक लगायी, तो मेरी बेहिसी कहो या बदहवासी टूटी। मैं अपनी आँखों से देख रहा था, राधा मुँह में पेंसिल दबाये विहँसती हुई उठी थी, नटखटपने से झुककर उसने लड़के के कान में कुछ फूँका था और लड़कियों के संग चहकती हुई अगले गेट से उतर गयी थी और मैं देखता क्या, हाथ मलता रह गया था।

उसी दिन मेरा भरम भी टूट गया था। जिसके अस्तित्व के बारे में मैं शंकालु होने लगा था, उसी ने उस दिन अचानक प्रकट होकर मेरा कलेजा चाक करके रख दिया था। उस दिन पहली बार मैंने जाना कि लैला जब हिंडोले में बैठकर किसी और की होने जा रही थी, तो रेगिस्तान में रपटते कैस का सीना किस तरह चाक हुआ होगा। कभी सोचा भी न था कि जिस राधा के अस्तित्व के बारे में मैं शंकालु होने लगा था, वह इस तरह अचानक अपनी झलक दिखाकर औचक लुप्त भी हो जाएगी। हाय, क्या मेरे ही भाग्य में बदा था बचपन के प्यार को किसी दूसरे पर स्नेह लुटाते हुए देखना!

इस दुर्योग के उपरान्त ऐसा करना व्यर्थ और निष्प्रयोजन था। फिर भी, अपनी कैटी को, अपनी राधा को एक बार फिर देखने की हिर्स पूरी करने के निमित्त मैंने कैसे-कैसे जतन नहीं किये। अगले दिन मैंने लाल किले से उसी समय उसी 9 नम्बर की बस को पकड़ा जिस पर कैटी को इतने अर्से बाद देखा था। लेकिन कैटी जैसे जिस तरह अचानक प्रकट हुई थी, उसी तरह अचानक अन्तर्धान भी हो गयी थी। मैंने उस रूट पर हर बस में किस्मत आज़मायी। लगातार कई दिनों तक जोख़िम मोल लेकर भी मैं आई.पी.कालेज के गेट के निकट आती-जाती लड़कियों को झाँवलीबाज़ों की तरह ताड़ता रहा। लेकिन मेरी कैटी, मेरी राधा जैसी आयी थी, वैसे ही बिला गयी थी। वह गोरा-चिट्टा घुँघराले बालों वाला लड़का भी कभी दिखाई नहीं दिया। जैसे उसे भनक पड़ गयी थी, और वह मेरी कैटी को, मेरी राधा को ऐसे टापू में ले गया था जहाँ कोई बोट पहुँच नहीं सकती थी।

मेरे पास क्या बचा था? यही टीन का ट्रंक... जिसमें मेरी राधा की साँसें भरी थीं! जिन्हें मैं हर कीमत पर संजोकर रखना चाहता था। उस दिन के बाद मैंने ट्रंक को कभी खोलने की बात सोची भी नहीं। कहीं ऐसा न हो, मेरी राधा के श्वास-प्रश्वास पंख लगाकर परवाज़ कर जाएँ।

फिर दुनियादारी निभाते हुए मैंने विवाह किया, बच्चे पैदा किये, नौकरी से रिटायर हुआ, और अब पचहत्तर पारकर गया हूँ। लेकिन आज तक न मैंने अपने टीन के ट्रंक को कभी खोला, न इसका भेद किसी पर प्रकट किया है, और न ही कभी इसे नज़रों से ओझल होने दिया। हमेशा मेरी खटिया के नीचे रखे रहता है। मेरे बीवी-बच्चे इसे ठिकाने लगाने पर तुले हैं। एक दिन तो मेरी यह अनमोल थाती भी उसी तरह मुझसे छिन जाती, जिस तरह मैं अपनी कैटी को, अपनी राधा को और अपनी उस गन्ध-पुड़िया को हमेशा-हमेशा के लिए खो बैठा था।

मैं सुबह टहलकर घर लौटा, तो मेरा त्राह ही निकल गया। गेट पर कबाड़ी रिक्शा पर मेरा ट्रंक बाँधकर चलने की तैयारी कर रहा था।

''यह किसने दिया तेरे को?'' मैंने छड़ी से उसका रास्ता रोकते हुए तलब किया।

पीछे दरवाज़े पर माँ, बेटा, बेटी— तीनों खड़े थे।

सुरेखा जल्दी-जल्दी चल कर आयी, ''डैडी, अब जाने भी दो न! दे दिया! क्या करोगे इसको रख कर!''

''हाँ, डैडी,'' पीछे-पीछे इन्दर भी आ गया। ''डैडी, लगता है, सदियों से बन्द पड़ा जंग खा रहा है। सारे घर में सड़ान्ध पैदा करता है।

धनवन्ती ने भी बेटा-बेटी की 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते हुए रद्दा लगाया, ''मैंने कहा,कब तक इस बब्बर से चिपके रहोगे? खाट के नीचे घुसेड़ रखा है। न झाड़ू लग सकता है, न पोछा...'' यही बात वह कितनी बार कह चुकी थी।''

मैं उन्हें देखता रहा। वे मुझे देख रहे थे। मैंने शान्त मन से कहा, ''तुम लोग इससे छुटकारा पाना चाहते हो न!''

''डैडी,'' बेटी बोली, ''काम की चीज़ हो, तो रखें भी। टूटा...''

''ठीक है,'' मैंने कहा। ''मैं एक सहज-सरल तरीका बताता हूँ। कुछ ही दिनों की बात है। मरूँगा, तो इसे भी मेरी झहाणी (चिता) पर रखकर मेरे साथ फूँक देना, समझे!'' और कबाड़ी से कहा, ''भइया, अभी यह बिकाऊ नहीं है।''

एस-23/6 डी एल एफ फेज़-3
गुड़गाँव-122002 हरियाणा
मो. : 9810815791



# लहाश

## कमल कुमार

**उसे अभी-अभी मॉरचरी में** रखा गया था। शाम हो गयी थी। बाहर थोड़ी-सी रोशनी थी जो खिड़कियों के शीशों पर ठहरी हुई थी। यूँ भी यहाँ खिड़कियों के शीशे गन्दले-से थे, गर्द और गन्दगी से सने। यह मॉरचरी भी अस्पताल का हिस्सा ही थी पर अलग-थलग। फिर मॉरचरी ही तो थी। यहाँ किस वी.आई.पी. को आना होता है। जानेवालों की सुगबुगाहट से कुछ शब्द उसके कानों से होते हुए उसके दिमाग के भीतर घुस गये थे।

उसकी ड्यूटी अभी शुरू हुई थी। रात की ड्यूटी थी। यहाँ बारी-बारी रात और दिन की शिफ़्ट होती है। पर रात की ड्यूटी कोई नहीं करना चाहता। कोई भी छुट्टी पर हो या काम पर न आए तो उसे पकड़ लिया जाता है क्योंकि उसकी नौकरी अभी पक्की नहीं हुई थी। असहाय होकर वह दिन की ड्यूटी के बाद रात की ड्यूटी भी करता। उसके लिए ज़रूरी नहीं था कि वह मॉरचरी में ही बैठे। मॉरचरी से लगा एक कमरा था। वह वहाँ बैठ सकता था। अगर कोई नहीं आता तो वह सो भी लेता था। पर तभी तक जब तक कि कोई लावारिस लाश न आ जाए या किसी लाश का दावेदार न आए। पर कई बार वह वहीं बैठा रहता, कुर्सी पर। जैसे आज बैठा था। अब उसे कुछ फ़र्क नहीं पड़ता था। अब तो वह लाशों की चीर-फाड़ में भी मदद करता था। लेकिन जब वह यहाँ आया था तो लाश देखकर उसकी रूह काँप गयी थी। थरथराती टाँगों से, मुँह में उबकाई लिये वह भागता हुआ यादव के पास गया था। हाँफते हुए उसने कहा था, 'मुझसे नहीं हो सकेगा, यहाँ... !'

यादव ने उसकी तरफ देखा तक नहीं था, 'ठीक है, कल मत आना। अभी जाना हो तो जाओ।'

वह जाने के लिए मुड़ा था। 'सुनो' यादव की आवाज से उसकी तरफ़ घूम गया था, 'अपनी सन्दूकची और चादर-वादर उठा ले जाना।' यादव तटस्थ था।

उसे यादव से ऐसी उम्मीद न थी। उसी के भरोसे यहाँ आया था। चार-छ: दिन, जब तक कोई दूसरी ओट नहीं मिल जाती, कम से कम तब तक के लिए तो रुकने दे सकता था। उसने आख़िरी कोशिश की थी, 'लेकिन...'

वह भड़का था, 'लेकिन का-ऽ... का लेकिन? धर्मशाला है हमार झुग्गी?'

वह थके कदमों से बाहर निकल गया था। बस भी नहीं ली थी। वह चलता गया... चलता गया जैसे नशे में चल रहा था। उसकी झुग्गी के बाहर आकर बैठ गया था। पता नहीं यादव कब आया था और कब रात हुई थी। उसने कुछ खाया भी नहीं था। सुबह आँख खुली तो वहीं फ़र्श पर लेटा हुआ था। उठा था... और बाहर जाकर पब्लिक नल पर नहा आया था। अपना गमछा धोया, कपड़े पहने और धीरे-धीरे अन्दर आया था। सन्दूकची खोलकर गीला गमछा अन्दर डाल लिया था। बाहर निकलने लगा तो यादव ने टोका था, 'आ, चाय पी ले।'

वह पास आकर बैठ गया था और चाय पीने लगा था। प्लेट में रखी डबलरोटी का टुकड़ा भी निगल गया था। रात का भूखा था। उसे अपनी भूख का अहसास हुआ था। यादव ठीक कहता था। 'थोड़े दिन बुरा लगेगा फिर तुझे पता भी नहीं चलेगा कि लाशें हैं या बीमार लेटे हैं।' और वही हुआ भी। अब तो वह डॉक्टर के कहने पर पूरी चीर-फाड़ भी करता है। कई डॉक्टर तो हाथ भी नहीं लगाते, उसको बताते हैं, और बाहर निकल जाते हैं। पहले दिन डॉक्टर ने जब चाकू लेकर लाश की छाती में घुसाया था तो वह बाहर भागा था। रात का खाया खाना मुँह में आ गया था। वह बाथरूम तक नहीं पहुँच सका था। अस्पताल के चौकीदार ने उसकी पीठ पर लात मारी थी।

उसने घड़ी देखी थी, सिर्फ़ छ: बजे थे पर सर्दियों की लम्बी सूनी शामें कितनी लम्बी हो जाती हैं। वह उठकर अभी-अभी लायी गयी उस लाश के पास आया था। उसके चेहरे से चादर हटायी थी, औरत का चेहरा था। औरत भी क्या, लड़की जैसी ही थी। उसे लगा था यह औरत मरी नहीं थी, ज़िन्दा थी, अधखुली आँखों से निर्विकार कहीं देख रही थी। उसने चादर और नीचे खिसकायी थी। वह सोई हुई औरत थी, उसके हाथ दोनों तरफ फैले थे। उसका रंग गेहुँआ था, पलकें आधी खुली, आँखों पर झुकी थीं। उसके होंठ एक-दूसरे से जुड़े, जैसे उसने चुप रहने की कसम खायी थी। उसने उसकी फैली हुई हथेलियों को छुआ था, ठंडा, पर कोमल-सा स्पर्श था। लम्बी और पतली

उँगलियाँ थीं। कौन हो सकती है यह? उसने फिर से उसका चेहरा देखना चाहा था। हाथ उठाकर बोर्ड के ऊपर की बत्ती जलायी थी। रोशनी सीधी उसके चेहरे पर पड़ी थी। उसे विश्वास होने लगा था कि यह औरत मरी हुई नहीं हो सकती। पच्चीस साल की उम्र मरने के लिए नहीं होती। उसने उसका माथा छुआ, उसमें गर्माहट थी। उसका भ्रम भी हो सकता था। उसने उसके गालों पर हाथ फिराया था। फिर होंठों को उँगलियों से छुआ था। पतले और कुछ गहरे पड़ गये होंठ थे। उसके गले पर फिसलता हाथ रुक गया था। लाल सूत, अभी तक उसके गले में था। कैसे रह गया यह? उसकी उँगलियाँ सूत के धागों से उलझ रही थीं। देखा उसमें एक छोटा-सा सस्ती धातु का 'ॐ' का एक लॉकेट भी था। उसका हाथ धीरे-धीरे फिर से घूमता हुआ उसके जिस्म के उतार-चढ़ावों को टोह रहा था। उसकी गोलाइयों पर घूमते हाथ की पकड़ कस गयी थी। उसके भीतर इच्छा जगी थी। उसका हाथ विद्या की छाती से उलझा था। विद्या ने धीमा प्रतिवाद किया था, 'ना-ऽ आज नहीं। बहुत थकी हूँ।' एक पल के लिए उसके हाथ रुके थे। फिर उसने धोती सामने से हटाकर उसके ब्लाउज को खींचा था टिच्-टिच् कर आगे के सारे बटन खुल गये थे। नीचे के दो हुक फन्दे में फँसे रह गये थे। वह उठकर बैठ गयी थी। वह कुछ देर तक उसके बदन से गर्मी की चाहत में भटकता रहा फिर गुस्से से खदबदाया था, 'लहाश की तरह लेट जाती हो ठंडी और बेजान।'

उसने आँखें खोली थीं और बन्द कर ली थीं। 'हाँ-ऽ लहाश ही समझ लो। यही ठीक भी है।'

विद्या जब भी उसकी इच्छा का विरोध करना चाहती तो लाश की तरह लेटी रहती, बिना हिले-डुले, बिना किसी प्रतिक्रिया के। उसको भी आदत हो गयी थी। वह कभी निपट लेता और कभी करवट लेकर सो जाया करता।

शुरू में उसके कन्धों पर सिर रखकर रोती थी, 'सोने दो-ऽ, बहुत थक गयी हूँ। सुबहसार उठकर तुम्हारे घर की तेरह जनों की चक्की में दिनभर पिसना है।' उसके हाथ खुरदरे हो गये थे। हथेलियाँ फटी हुई, उंगलियाँ और नाखून रूखे और मैले। उसकी धोती पर घी, तेल, हल्दी, सब्जी के दाग लगे रहते। उसके शरीर में रसोई की गन्ध बस गयी थी। नहाने के बाद भी वह गन्ध नहीं जाती थी। उसे उस गन्ध से चिढ़ होती, गुस्सा आता था पर फिर वह उसका आदी हो गया था। जब वह ब्याह कर आयी थी तो दो दिन में सिर्फ़ एक बार वे आमने-सामने हुए थे। यूँ आसपास से गुज़रे कई बार थे। वह उसे देखकर दीवार के साथ चिपक गयी थी। उसने चारों तरफ चोर नज़र घुमायी थी और उसको अपने साथ सटा लिया था। उसकी साँसें उसकी गर्दन पर फिसल रही थीं। उसके शरीर से कोई भीनी-सी गन्ध उजस रही थी। उसने उसकी नरम-नरम हथेलियों को अपनी हथेलियों में और उसकी लम्बी-पतली उंगलियों को अपनी उंगलियों में उलझा लिया था। उसके पतले-पतले जुड़े हुए होंठों को अपने होंठों से खोलने के लिए उसने उसका घूँघट पीछे की तरफ उलट दिया था। वह उसे अपने में भींचता और दीवार के साथ दबाता जा रहा था। उसने उसकी किसी भी हरकत का विरोध नहीं किया था। अपने नाम की पुकार के साथ वह फुर्ती से छिटककर अपनी धोती और घूँघट सँभालती हुई बाहर निकल गयी थी। उसे बरामदे में सोना पड़ा था। अगले दिन उसका भाई आकर उसे ले गया था। उसके बाद वह एक साल के बाद आयी थी। माँ बाहर बरामदे में सोती थी। भाई-भाभी का एक छोटा-सा कटा हुआ तिकोना कमरा था। दोनों छोटे भाई गर्मी में कहीं भी और सर्दी में अनाज के भंडार में सो जाते थे। पिता और चाचा में से एक खेत पर रहता, दूसरा दूकान में सोता था। वह लौटी तो माँ के कहने पर एक दिन के लिए भाई ने अपना कमरा दे दिया था। उस दिन, उसे ध्यान से और करीब से देखा था। दुबली-पतली, छरहरे बदन की, गेहुँए से रंग वाली विद्या उसे दुनिया की सबसे खूबसूरत औरत लगी थी। उसकी आँखों में चमक थी और उसका चेहरा नमकीन था। वह हद से ज्यादा शरमा रही थी। बड़ी मुश्किल से रातभर में दो-तीन वाक्य ही बोल पायी थी। पर जो कुछ भी वह कह रहा था वह ध्यान से सुनती रही थी। जो कुछ भी उसने उसके साथ किया था उसका ज़रा भी विरोध नहीं किया था। सुबह देखा वह श्लथ सोयी थी। उसका चेहरा उघड़ा था, धोती सामने से सरकी हुई थी और उसकी बाँहें दोनों तरफ़ फैली थीं। हथेलियाँ खुली थीं। वह डरकर जल्दी से एक तरफ खड़ा हो गया था। लाश को चादर से ढँक दिया था। बोर्ड की बत्ती बुझा दी थी। वह दरवाज़ा खोलकर बाहर आया था। बाहर ठंडी हवा उसाँसें भर रही थी। वह बेचैनी से वहाँ खुले में, चहलकदमी भी करता रहा। ड्यूटी पर चौकीदार एक कोने में दुबके सूखे पत्तों की आग सेंक रहे थे। वह लौट आया था। अन्दर नहीं गया था। मॉरचरी के साथ सटे कमरे में घुसा था और बत्ती जलाकर बैठ गया था। पर मॉरचरी से ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ आ रही थी। भीतर से आती आवाज़ उसे बुला रही थी। बिना उसका नाम लिये वह उसी को बुला रही थी। विद्या भी उसका नाम नहीं लेती थी, पर उसे बुलाती तो थी। कभी आँख के इशारे से, कभी हाथ हिलाकर और कभी सुनो-ऽ या जी-ऽ कहकर। वह त्वरा से उठा था। उसने दरवाजा धकेला और अन्दर आया था। लाश का चेहरा उघड़ा था। आँखें झिंपी-सी, और होंठ खुले हुए थे। उसे आवाज़ देते हुए खुले रह गए होंगे। वह उसके चेहरे पर झुका था। आवाज़ तो आयी ज़रूर थी। उसने उसके चेहरे को दाएँ-बाएँ हिलाया था पर नहीं हिला था। विद्या को भी जब गुस्सा आता तो प्रतिवाद करने के लिए चेहरा और ज़िस्म अकड़ा लेती। कितना हिलाओ, हिलती ही नहीं थी। यह उसका विरोध करने का तरीका था।

अगले पल उसे लगा था, यह विद्या की ही लाश थी। चेहरा कम रोशनी में बदला लग रहा था पर वह ज़रूर विद्या ही थी। क्या पता, घर से परेशान होकर उसे ढूँढ़ने शहर आयी हो। उसे भी तो शहर आये दो साल हो गये थे। दो साल में उसने कितना पैसा भेजा था घर पर। सिर्फ़ तीन-चार बार, चार-पाँच सौ रुपये। उतने रुपयों में क्या होगा। तीन सालों में दो बच्चे और घर भर के सदस्यों की ज़रूरतें, खेती में मुनाफ़ा कहाँ था। फिर भी जैसे-तैसे उसे बी.ए. तक पढ़ाया गया था। इस उम्मीद में कि वही कुछ करेगा। जब शहर आने लगा तो सबके चेहरे पर चमक थी जैसे उसके शहर आने से उनकी लॉटरी खुलने वाली थी। गाँव से कोई आता-जाता बता देता था। सूखा पड़ा है इस साल। मनोज ने आत्महत्या कर ली। दूर के रिश्ते में हमारा भाई था। उसके खेत हमारे खेतों के साथ

लगते थे। इस बार तुम्हारे घर में बीज ख़रीदने की बहुत मुश्किल हुई। बैंक से उधार लिया। घर का ख़र्चा चलाने के लिए और छोटे लड़कों की पढ़ाई के लिए पीछे की ज़मीन बेचनी पड़ी। विद्या और बच्चों पर क्या बीती होगी। उनकी ज़रूरतें कौन पूरी करता होगा। वही आयी होगी उसे ढूँढ़ने के लिए। कितना रोयी थी उसकी छाती में सिर घुसेड़कर। उसे भी कैसे ले आता। अपना तो ठिकाना नहीं था। छोटे-छोटे दो बच्चे और उसका ख़र्चा कैसे उठाता। उसे समझाया था कि नौकरी लगते ही वह उसे बुला लेगा। पर नौकरी लगी भी तो यहाँ। वह भी कच्ची। तनख़्वाह इतनी कि मुश्किल से महीना पार होता। पर विद्या मरी कैसे? किसने मारा इसे? वह जल्दी से पलटकर सिरहाने की तरफ़ आया था। बेड के साथ लटकी तख़्ती को उलट-पलटकर देखा था। मौत का कारण नहीं लिखा था। लावारिस लाश थी जो यहाँ लायी गयी थी। वाहन दुर्घटना का केस भी नहीं था। उसने उसको इधर-उधर हिलाया था। देखा, सिर के पीछे ज़ख्म था पर ज़्यादा गहरा नहीं था। ख़ून चारों तरफ़ जमकर नीला हो गया था। पट्टी अगर रही भी होगी तो उतर गयी होगी। वह चोट लगी कैसे? किसी ने पीछे से वार किया सिर पर? बस से कूदी या कहीं ऊँचाई से गिरी? पर शरीर पर कहीं कोई चोट नहीं। कहीं खरोंच तक नहीं। चेहरा वैसा ही मासूम, ख़ामोश और सोया हुआ। पर विद्या तुम घर से निकली क्यों? क्यों निकली तुम घर से? पता नहीं तुम्हें, घर से निकलकर औरत लावारिस हो जाती है! ज़िन्दा हो तो भी लावारिस होती है। समाज की मॉरचरी में चादर ढँककर लाश-सी लेटी रहती है जब तक उसकी शिनाख़्त न हो जाए। या उसकी बॉडी को कोई क्लेम न कर ले। फिर उसका दाह-संस्कार कर दिया जाता है। पर यह तो हिन्दू है, इसके गले में 'ॐ' का लॉकेट है। यह औरत विवाहिता थी या...पच्चीस के आस-पास की उम्र तो रही होगी। मरने पर भी चेहरे पर उम्र तो छपी ही रहती है। वह सुबका था, यह क्या किया विद्या तुमने? क्यों आयी शहर तुम? वह रोने लगा था और अपना आपा खो रहा था। घर पर तुम्हें किसने जलील किया था? मेरे भाइयों ने, माँ ने, पड़ोसियों ने, रिश्तेदारों ने? सभी ने किया होगा। पर सबसे बड़ा कारण रहा होगा उसका घर पर पैसे न भेजना। और सुनो-ऽ... बच्चे? उसके दिमाग में बिजली कौंधी थी। बच्चों का क्या किया तुमने? घर पर ही छोड़कर आयी थी न? पर कहीं साथ लेकर तो नहीं आयी थी? तुम्हारी मौत के बाद बच्चे? क्या हुआ मेरे बच्चों को? उसका सिर घूम रहा था। बच्चे कहाँ गये, कहाँ गये होंगे वे, इतने छोटे-छोटे बच्चे। वह पागलों की तरह आपे से बाहर हो रहा था। लाश को झंझोड़ रहा था, बच्चे कहाँ हैं? बताओ तो, बच्चे कहाँ हैं? जाता हूँ, अभी पी.सी.ओ. से फोन करता हूँ। रणवीर के घर पर फोन है। वह घर जाकर देख आएगा। लेकिन विद्या, तुम यहाँ अकेली आयी क्यों? यूँ मरने के लिए आयी थी क्या? यह तुमने क्या किया? उसने लाश को कसकर अपनी बाँहों में घेर लिया था। वह उसे चूम रहा था, बेतहाशा। उसका चेहरा, आँखें, माथा, गाल, उसके होंठ। उसकी हथेलियों को अपनी हथेलियों से ढँककर उसकी उंगलियों में अपनी उंगलियाँ उलझा ली थी। उसकी धोती हटाकर उसका ब्लाउज खींचा था टिच्-टिच् करके सारे बटन खुल गए थे। नीचे के दो हुक फन्दों में फँसे रह गये थे। उसने उसे खींचकर निकाला था। उसने चादर को अपने ऊपर ओढ़ लिया था और लाश पर औंधा लेट गया था। विद्या-विद्या-ऽ... ओ-ऽ... तुम थकी हो-ऽ... सुबह तुमको तेरह जनों की गृहस्थी सँभालनी है। लेकिन सुनो-ऽ... एक बार सुनो तो-ऽ...।

**डी-38, प्रेस एन्क्लेव**
**साकेत**
**नयी दिल्ली - 110 017**
**मो. : 9810093216**

## पुस्तकें मिलीं

**अक्षय गोजा की प्रतिनिधि कविताएँ** (कविता संग्रह) : सं. डॉ चन्द्रशेखर शर्मा 'शेखर', प्रकाशक : अरविन्द प्रकाशन (अलीगढ़), मूल्य : 100 रु.

**डायरी के पन्ने** (डायरी) : श्रीनाथ मिश्र, प्रकाशक : राजकुमारी प्रकाशन (वाराणसी), मूल्य : 50 रु.

**शांति एवं विकास का अग्रदूत चीन** (लेख) : डॉ. फणीश सिंह, प्रकाशक : अभिधा प्रकाशन (मुजफ्फरपुर), मूल्य : 150 रु.

**उनकी बिन्दी ( कहानी संग्रह )** : डॉ. उषा अग्रवाल, मूल्य : 150 रु.

**शेष कुशल है !** (व्यंग्य संग्रह) : डॉ. रमेशचंद्र खरे, प्रकाशक : क्षितिज (दिल्ली), मूल्य : 180 रु.

**जंगल एक गीत है** (गीत संग्रह) : अजय पाठक, प्रकाशक : श्री प्रकाशन (दुर्ग), मूल्य : 100 रु.

**कशमकश** (उपन्यास) : मनोज सिंह, प्रकाशक : यूनिस्टार (चण्डीगढ़), मूल्य : 400 रु.

**कहानी की तलाश** (कहानी संग्रह) : सुभाषचन्द्र गांगुली, प्रकाशक : आरती प्रकाशन (इलाहाबाद), मूल्य : 150 रु.

**उपन्यास त्रयी** (तीन उपन्यास) : गेंदालाल सिंघई 'एडवोकेट', प्रकाशक : ज्ञानगंगा प्रकाशन (शिवनी, म. प्र.), मूल्य : 50 रु.

**एक था पेड़** ( कविता संग्रह ) : सुहैल अख़्तर, प्रकाशक : जुगनू बुक्स (भुवनेश्वर)

**रोजगार महाराज** (नाटक संग्रह) : श्याम कुमार पोकरा, प्रकाशक : पूर्वा प्रकाशन (दिल्ली), मूल्य : 125 रु.

**रात की कलम से...** (कविता संग्रह) : हरीश ठाकुर, प्रकाशक : राईटर्स क्लब इंटरनैशनल (चंडीगढ़), मूल्य : 100 रु.

**एकला चलो रे** (कहानी संग्रह) : श्याम जांगिड़, प्रकाशक : पंचशील प्रकाशन (जयपुर), मूल्य : 150 रु.

# कार

## ज्ञानप्रकाश विवेक

**गली को सब लोग अब** लेन कहने लगे हैं। गली में अपनेपन का अहसास था। लेन कहते हुए अजीब-सा लगता है। यह लफ़्ज, किसी बड़े लेकिन अजनबी शहर की पैदावार हो जैसे।

इस लेन में सबके पास कारें हैं — स्कार्पियो, वेरना, लोगान, पियागो, सकोडा, होंडा सिटी, ओपल, मारुति एस्टीम....। लेन के एक किनारे से खड़े होकर देखो तो कोठियों के गेट के पास कारों की कतार नज़र आती है, गोया कि आप लेन में न हों, कारों के बड़े शो-रूम में चले आए हों।

लक्ज़री कारों की अपनी दुनिया है। जो जितनी बड़ी कार रखता है, वो उतना बड़ा आदमी समझा जाता है। इधर, इनसानों की छवि निखारने में, कारों की अहम भूमिका रही है। बेशक, 'अरमानी' का सूट, मोंट ब्लॉक का पेन, वसार्चे की वॉच, क्रॉस की शर्ट, क्रिश्चियन डायर का फायर क्लब चश्मा और फेंडी का परफ्यूम भी इनसानी शख़्सियत और रुतबे में इजाफ़ा करते हैं।

बड़े लोगों के बड़े सपने हैं। उनके पास बड़े पर्स हैं, बड़ी जेबें हैं। बड़ी कारें हैं। ... मेरे पास मारुति आठ सौ है... यानी, मारुति एट हंड्रेड! इन लक्ज़री कारों के बीच मारुति एट हंड्रेड, संकोच में डूबी नज़र आती है। लेकिन मेरे पास यही मारुति कार है। दो साल पुरानी। लेकिन रख-रखाव ऐसा कि नयी नकोर नज़र आती है। दो-तीन खरोचें हैं...बोनेट पर...पेनल पर। एक ज़र्ब भी है मारुति के जिस्म पर। ...मैं इस कार को देखता रहूँ तो एक ज़र्ब दिल में भी उभर आती है।

यादों के अज़ायबघर में जाते दफ़ा हम मुकम्मल होते हैं, लौटते दफ़ा-आधे-अधूरे ...कुछ ख़रोचों के साथ! आँखों में ज़रा-सी नमीं के साथ!

मैं इस कार को देखता हूँ तो साबिर साहब बेसाख़्ता याद आने लगते हैं।

साबिर साहब अब यहाँ नहीं रहते। पहले इस लेन में रहा करते थे। सामनेवाली कोठी में— अकेले साबिर साहब। पन्द्रह साल तक रहे साबिर साहब। मकान मालिक को बोलने का मौक़ा ही कहाँ देते थे वो। खुद-ब-खुद पाँच-दस फ़ीसदी किराया बढ़ा देते। मकान मालिक बेसाख़्ता उन्हें देखता रह जाता। साबिर साहब मुस्कुराते रहते- मन्द मन्द!

इस कोठी में वो तब से थे, जब उनका भरापूरा खानदान था। बच्चे लायक थे। पढ़-लिखकर अच्छी तालीम हासिल की। अच्छी नौकरी और अच्छे मुस्तकबिल के लिए अमेरिका और कनेडा में जा बसे। वो अपने माँ-बाप को भी साथ ले जाना चाहते थे, लेकिन साबिर साहब फ़रमाते, ''ज़मीन का कर्ज़ तो चुका लेने दो बरखुरदारो।''

हक़ीकत यह थी कि हिन्दुस्तानी आबोहवा उन्हें इतनी पसन्द थी कि वो इससे अलग होने का सोचते ही नहीं थे।

उनके साथ बुरा ये हुआ कि उनकी बीवी की मौत हो गयी। अचानक दिल का दौरा पड़ा और कुछ ही देर में परिन्दा परवाज़ कर गया। साबिर साहब, खुशतबीयत, खुशबाश और अलमस्त इनसान, टूट से गये। अपनी पत्नी को वो हमनफ़स और हमसफ़र कहा करते थे। वही पत्नी, बीच रास्ते उन्हें अकेला छोड़ महाप्रस्थान कर गयी।

साबिर साहब एकदम ख़ामोश हो गये। मैं उनके पास जा बैठता। वो चुप होते और मैं भी। कभी कभार कोई फ़िकरा सरकता। ख़ामोशी के बीच कोई आवाज़ सरसराती। मैं कभी चाय लेकर चला जाता तो कभी उन्हें घर बुला लेता।

कभी-कभी मैं हैरान रह जाता। वो अपने घर में, एक कमरे से दूसरे कमरे तक का चक्कर लगाते रहते।

''क्या तलाश कर रहे हो साबिर साहब?'' मैं पूछता।

''आवाज़ें।'' वो जवाब देते।

ऐसा लगता, इस एक लफ़्ज़ में उन्होंने मुद्दतों के किस्से बयान कर दिये हैं।

कई बार तो लाइट ऑन करना भूल जाते। इतने बड़े घर में एक अकेले साबिर साहब! किसी बुझे हुए आतिशदान जैसे।

लेकिन अपने भीतर की सर्द राख को ख़ुद उन्होंने उठाकर बाहर फेंका। फिर वो आतिशबाज़ियों से खेलने लगे— ज़िन्दगी की आतिशबाज़ियों से। बेशक़, उन्हें वक़्त लगा। लेकिन ज़िन्दगी के राग को वो फिर कहीं से ढूँढ लाये। एक दिन आकर बोले, ''बसन्त, मौत से पहले मर जाना कोई हुनरमन्दी भी तो नहीं। मैं तो जीते जी ख़ुद को लाश बना बैठा था।'' फिर वो हँसकर बोले, ''शुक्रिया तुम्हारा बसन्त। तुमने कान्धा तो दिया लाश को दफ़नाया नहीं।'' इसके बाद वही बेबाक, बेतकल्लुफ़ हँसी।

साबिर साहब मुझसे पाँच या छः साल बड़े थे। वो पचपन के या छप्पन के। मैं पचास का। उम्र में वो बेशक पाँच साल बड़े थे, लेकिन शख़्सियत में हज़ार साल बड़े। वो मुझे हमेशा बड़े इनसान नज़र आते। न वो मुझे 'तू' के सम्बोधन से बुलाते न मैं। मैं उन्हें साबिर साहब कहता तो वो मुझे बसन्त। ...कभी कभी मुझे बसन्त-बहार भी कह देते। फिर हँसते, तुम

बहार और मैं ख़िज़ाँ!

मैं उन्हें साबिर साहब कहता तो वो मुस्कराते हुए पूछते, ''बसन्त, कहाँ से साहब लगता हूँ तुम्हें?''

''हर तरफ़ से साहब लगते हैं आप मुझे।'' मैं जवाब देता।

''मेरे कपड़े देखे हैं बसन्त?''

''देखे हैं। ...कपड़े भी देखे हैं और दिल भी।'' मैं कहता। फिर जानबूझकर कहता, ''कपड़ों से फ़कीर, दिल के शहंशाह...मेरे साबिर साहब।'' फिर वही ठहाके।

दिल के सचमुच साहब थे साबिर साहब! बड़े नफ़ीस। पुरख़ुलूस। शाइस्ता। फ़राख़दिल और ज़िन्दगी को उत्सव की तरह जीनेवाले शख़्स। ...मेरे घर जिस दम आते। घर में एक अलग तरह का माहौल पैदा हो जाता। मेरे बच्चे उन्हें अंकल कहते। वो हँसकर अंकल लफ़्ज को काटते, ''यारो, कभी-कभी चच्चा हजूर भी कह दिया करो।''

मेरे बच्चों ने अंकल कहना तो छोड़ ही दिया था। वो चच्चा हजूर कहते या फिर चच्चाजान! बच्चे जब चच्चाजान कहते तो जवाब में वो 'मेरीजान' बोलते। माहौल ख़ुशगवार हो जाता। सब लोग देर तक हँसते रहते।

साबिर साहब सचमुच हमारे घर की जान थे। वो रोज़ाना हमारे घर आते। जिस दिन नहीं आते तो लगता जैसे साँस लेते हुए घर की साँस रुक गयी है। वो आते तो लगता जैसे घर के अन्दर, घर की कैफ़ियत पैदा हो गयी है।

वो आते तो लगता ज़िन्दगी उनके साथ-साथ चली आयी है। वो ज़रा-सी दस्तक देते। कालबेल बजाना उनको अच्छा नहीं लगता था। वो कहते भी थे, ''बसन्त, दस्तकें तब तक ज़िन्दा रहेंगी जब तक दोस्तानें!...दुनिया के बाक़ी काम बेशक हाथ कर लेते होंगे। लेकिन दस्तक देते वक़्त ये दिल होता है जो अपने हाथों को किवाड़ों के पास भेजता है।''

साबिर साहब हमेशा कुछ न कुछ लेकर आते। एक दिन उनके घर में कुछ भी नहीं था। वो एक डली गुड़ की उठाकर चले आये। बोले, ''यारो, ये गुड़ गंगा के पास का है। जिस नदी का पानी इतना मीठा होता है बसन्त, उसके खेतों के गन्ने...और गुड़ कितना मीठा होगा ज़रा खाकर देखो।''

एक दिन तो और भी अजीब बात हो गयी। साबिर साहब दो कप चाय ले आये। दो हाथ। दोनों हाथों में चाय के कप। दरवाजा बन्द और बन्द दरवाज़े पर वो दस्तक दें तो कैसे? उन्होंने कोशिश ज़रूर की कोहनियों से दस्तक देने की। लेकिन कोहनियों ने तो दस्तकें देना कभी सीखा ही नहीं था। ये तो शुक्र कि छोटे बेटे ने अचानक दरवाज़ा खोला। देखा तो हैरान रह गया। साबिर साहब चाय के दो कप लिये खड़े हैं। थोड़ा-सा झेंप गये। फिर तपाक से बोले, ''गरमियों में गर्म चाय ठण्डक पहुँचाती है।''

मैंने उनको बड़ी इज़्ज़त के साथ बिठाया। और गुस्से के साथ बोला, ''जनाबेआली, चाय यहाँ भी बन सकती थी।''

''ज़रूर बन सकती थी।...थोड़ी देर में बनेगी भी सही। लेकिन इन चाय के कपों में —धूप, हवा, आसमान सबने अपनी दुआएँ भी डाल दी हैं।'' उन्होंने कहा। मुस्कराने लगे।

बस, यही बात थी जो साबिर साहब में थी। और किसी में नहीं थी। यक़ीनन, वो लाजवाब थे। उनमें सादगी का ऐसा उत्कर्ष था कि हमारे बाज़ारू किस्म के चमत्कार और चकाचौंध, ज़मीन पर औंधे मुँह आ गिरते।

साबिर साहब हमेशा चौंका देते। अपनी उपस्थिति से और अनुपस्थिति से वो चौंकाते रहते। कई साल पहले की बात है। दीवाली की शाम को उन्होंने मुझे सचमुच चौंका दिया था। बाद में तो मैं उनकी इस तरह की 'ख़ुराफ़ातों' का आदी हो गया था।...वो घर आये। दीवाली की बधाई दी। फिर बच्चों से बोले, ''शैतानो, कुछ दीये मेरे नाम के भी जलाना।''

मुझे उन्होंने अपने साथ लिया। दो डिब्बे मिठाई के खरीदे। चौराहे पर जा खड़े हुए। दो ट्रैफिक सिपाही होते थे चौराहे पर। एक ड्यूटी देता। दूसरा स्टूल पर जा बैठता। ड्यूटी की अदला-बदली चलती रहती।

दोनों ट्रैफिक सिपाहियों को मिठाई के डिब्बे भेंट करते हुए बोले, ''दीवाली के चराग आपके जीवन में हमेशा जगमगाते रहें।''

मैं तो हैरान था ही। सिपाही भी कम हैरान नहीं थे। एक से तो रहा नहीं गया। बोल पड़ा, ''आज तक तो जो बी इधर से गुजरा गाली देके गुजरा। पैली बार किसी ने गाली नईं दी। मिठाई दी। ...सॉबजी, दिल से शुक्रिया आपका।''

अब मुझे महसूस हुआ था कि त्यौहार इस तरह भी मनाये जाते हैं —बिल्कुल अनजान शख़्स के साथ, अपनापन जताकर।

ईद तो वो और भी ज़्यादा फ़क्कड़पन के साथ मनाते। एक बार उन्होंने अपने ही नहीं, हम सब लोगों के भी नये कपड़े सिलवाये। ईद के दिन सबने नये कपड़े पहने। जश्न साबिर साहब के घर था। और उस जश्न में हम सब शामिल थे।

वो मेरे घर में बैठे होते। अचानक दीवारों को देखने लगते। एक दिन मुझसे रहा न गया। पूछ ही बैठा, ''साबिर साहब, कभी-कभी आपको क्या हो जाता है, दीवारों से आपकी नज़र ही नहीं हटतीं?''

वो मुस्कराते। बड़ी लज़्ज़त के साथ कहते, ''दीवारों से गुफ़्तगू करता हूँ।''

''कभी आपकी आवाज़ सुनाई नहीं दी?'' मैं पूछता।

''गूंगी दीवारों के पास जो भाषा है। मैं उसी भाषा में उनसे बात करता हूँ।''

''कौन-सी भाषा?'' मैं हैरान होकर पूछता।

''चुप की भाषा।'' वो इत्मीनान से जवाब देते।

लेकिन एक दिन उन्होंने अपने दिल की बात कह भी दी थी, ''बसन्त, यार तुम्हारे घर के हर कमरे में देवी देवताओं की तस्वीरें हैं— एक कमरे में रामचन्द्र जी तो दूसरे में शंकर जी, तीसरे में हनुमानजी तो ड्राइंग रूम में कृष्णजी, लॉबी में गणेशजी तो बरामदे में लक्ष्मीजी...।

देवी-देवताओं के मामले में तुमने पूरा लोकतन्त्र-सा रच रखा है।''

''आप कहना क्या चाहते हैं?'' मैंने पूछा। मैं गम्भीर हो चुका था।

''बहुत ज़्यादा संजीदा होने की ज़रूरत नहीं।'' उन्होंने मेरी शक़्ल देखी। मुझे फटकारा, ''मज़ाक उड़ाने की मेरी नीयत नहीं है।'' उन्होंने कहा।

''जानता हूँ।'' मैं बोला।

''बसन्त, मैं तुम्हारी आस्था पर कोई सवाल खड़ा नहीं कर रहा। लेकिन हमें बहुत ज़्यादा रिचुअल नहीं होना चाहिए। एक साल बाद जब तुम इन कलैंडरों को उतारोगे तो क्या हाल होगा देवताओं का? फिर नये कलैंडर, नये देवता



आ जाएँगे।'' साबिर साहब ठहरी हुई ज़बान में बोले।

''तो?'' मैंने पूछा। मैं आरपार की लड़ाई लड़ने पर आमादा था।

''बसन्त, जिस देवता की तस्वीर को एक साल बाद हम उतार देते हैं। हम मत्था उसके आगे टेकते हैं या तारीखों के आगे?'' साबिर साहब ने वाजिब सवाल उठाया था। लेकिन मुझे अच्छा नहीं लगा था। धर्म के मामले में हम ज़रूरत से ज़्यादा संवेदनशील हो जाया करते हैं। मैं भी हो गया था। बात उनकी ठीक थी। मुझे चुभ गयी थी। फिर कई दिन तक न मैं उनके घर गया न वो आये।

फिर एक दिन साबिर साहब घर आये। पहले जैसी मस्ती तो नहीं थी, अलबत्ता, वो मुस्कुराते हुए सबसे मिले। कहा, ''कुछ दिन के लिए बाहर चला गया थ। ये मिठाई लाया हूँ।''

गये वो कहीं नहीं थे। घर पड़े रहे। लेकिन जब वो घर आये तो उदास लग रहे थे। मुझे अफ़सोस हुआ कि मैंने अपने रवैये से उनको दुखी कर दिया।

वो मेरे सामने बैठे। मुस्कुराने की कोशिश की। शेर सुनाया— बुतख़ाना तोड़ डालिए/काबा गिराइए... दिल न किसी का तोड़ना/ ये घर ख़ुदा का है।

शेर सुनाने के बाद साबिर साहब बहुत गहरी आवाज़ में बोले, ''बसन्त, असली ईश्वर तो हमारे-तुम्हारे दिल में विराजमान है। कोशिश यह हो कि किसी मासूम की दिलशिकनी न हो।''

मैं तो उन्हें देखता रह गया। जैसे साबिर साहब न हों कोई देवदूत आकर बैठ गया हो मेरे सामने।

साबिर साहब एक प्राइवेट कम्पनी में नौकरी करते थे। सब कुछ ठीकठाक चल रहा था। लेकिन कम्पनी को किसी दूसरी बड़ी कम्पनी ने 'टेक ओवर' कर लिया। कम्पनी का नब्बे फिसदी पुराना स्टाफ़ बाहर कर दिया गया। चुनांचे, साबिर साहब की नौकरी छूट गयी। एक अकेला आदमी और सारा दिन खाली।

कम्पनी ने आठ-दस लाख दिये और हिसाब बेबाक कर दिया। साबिर साहब के चेहरे पर शिकन तक न देखी हमने। बड़े तपाक से बोले एक दिन, ''बसन्त, वक़्त एक यक्ष की तरह होता है। अब रोज़ाना उससे टकराऊँगा। वो सवाल करेगा और मैं जवाब दूँगा।''

साबिर साहब ख़ाली घर में वक़्त से टकराते-टकराते, कभी-कभी ख़ुद ख़ाली हो जाते। जैसे वक़्त, जाते-जाते उनके सारे अस्त्र-शस्त्र भी ले भागा हो। इसके बावजूद वो ख़ुश रहने की कोशिश करते। सुबह-सवेरे तैयार होकर बैठ जाते। मैं उन्हें देखकर चकित रह जाता। पूछता, ''साबिर साहब, कहाँ की तैयारी है?'' उनका जवाब और भी ज़्यादा हैरान करनेवाला होता, ''बसन्त, कई दिनों से आदमकद आईने के सामने खड़ा होने का सोच रहा था। आज थोड़ी जुर्रत की है।'' इसके बाद दिलफ़रेब मुस्कान।

एक दिन तो कह भी दिया था मैंने, ''जनाब, सूट-बूट पहनने की क्या ज़रूरत थी? यूँ ही खड़े हो जाते आईने के सामने।''

तपाक से जवाब दिया था उन्होंने, ''यार बसन्त, खड़ा हुआ था। कम्बख़्त आईना बोला— क्या हाल बना रखा है अपना...कुछ लेता क्यों नहीं?'' इसके बाद हम दोनों जी खोलकर हँसे।

बेशक, शानदार लगते थे साबिर साहब। दिल उनका और भी ज़्यादा शानदार था। जब भी बाज़ार से कुछ ख़रीदते, मेरे लिए या मेरे घर के लिए भी ख़रीद लाते। एक बार पेन ख़रीद लाये। मुझे देते हुए बोले, ''बसन्त, ऐसा एक पेन मैं अपने लिए भी लाया हूँ।''

मैंने पेन लिया। शुक्रिया कहा। पेन आकर्षक था। मैंने खोला तो वो तुरन्त बोले, ''मुझे पता है अब तुम क्या करोगे...अपना नाम लिखोगे।''

सचमुच, मेज़ पर पड़े कागज़ को उठाकर मैं अपना नाम लिखने का सोच ही रहा था। इस तरह की बातों से वो चकित कर देते। उन्होंने मुझे समझाया भी था कि नब्बे प्रतिशत लोग जब पेन ख़रीदते हैं तो सबसे पहले अपना नाम लिखते हैं।

एक दिन जब हम कॉफ़ी पी रहे थे तो वो बोले, ''बसन्त पता है तुम्हें, एक ज़माना पहले ब्रिटेन के कॉफ़ी हाउसों में बैठने के लिए कुर्सी घर से ले जानी पड़ती थी।''

मैं तो कॉफ़ी पीना भूलकर, बेवकूफ़ों की तरह उनकी तरफ़ देखता रह गया।

इस तरह के थे साबिर साहब। या यूँ कहूँ कि अपनी तरह के। वो जीनियस थे। ज्ञाता थे। लेकिन हमेशा साधारण नज़र आते। बहुत सीधे। बहुत सरल। बहुत तरल।

अपने बच्चों की बात वो कम ही करते। अमेरिका या कनैडा से जब भी बच्चों का फोन आता, वो ज़रूर बताते। बच्चे डॉलर भेजने का इसरार करते। साबिर साहब मना कर देते, ''यहाँ मुझसे रुपये नहीं सँभाले जा रहे, आप लोग डॉलर भेजकर मुझे नाहक परेशान करोगे।''

बच्चे चाहते थे कि अब्बाहज़ूर हिन्दुस्तान छोड़कर उनके पास चले आएँ। साबिर साहब थे कि अपनी जड़ों से जुड़े हुए इनसान। जड़ों से कटना उन्हें मंजूर न था। वो बड़े जज़्बाती लहजे में कहते, ''यार बसन्त, तुम सब लोग हो...किसी शय की कमी महसूस ही नहीं होती।''

कमी का जहाँ तक सवाल है, साबिर साहब के दोनों बेटे उनको बुलाते तो रहते थे। लेकिन अकेले पिता का हालचाल जानने वो ख़ुद कभी नहीं आये थे। अपनी-अपनी ज़िद थी या अपनी अपनी मसरूफ़ियत। यह भी सच था कि इधर बाज़ार ने इनसानों के सम्बन्धों का क्षरण सबसे ज़्यादा किया था। सम्बन्ध थे ज़रूर। लेकिन वो स्मृतियों में बदल गये थे या फिर संज्ञाओं में।

साबिर साहब ताश के शौकीन थे। ये उनकी

विशेषता थी या कमज़ोरी-इस तफ़सील में जाने की ज़रूरत मैंने कभी नहीं समझी थी। दूसरों के लिए मुमकिन है ऐब हो, लेकिन जिस अन्दाज़ में साबिर साहब ताश खेलते, मुझे किसी ख़ूबी की तरह महसूस होता। हमेशा नयी ताश। हमेशा खेलने से पहले एक ख़ास तरह का जोश। हमेशा कॉफ़ी के दो कप और डील...।

ताश खेलने से पहले हमेशा पूछते, ''बसन्त, पपलू खेलें या फ़्लैश!''

मैं चुप रहता।

वो जवाब देते, ''फ़्लैश ठीक रहेगी। पपलू में कौन पत्रों को याद करता रहेगा। ...दिमाग़ी गेम है पपलू। और फ़्लैश जिगरवालों का खेल है।''

मैं कॉफ़ी पीने लगता। वो टोकते, ''डील से पहले कॉफ़ी पीनी शुरू कर दी?''

मैं हँसता।

वो हमेशा की तरह फ़्लैश के नियम दोहराते, ''एक रुपये का बूट। दो रुपये की चाल। ब्लाइंड सिर्फ़ एक बार। नो काउंटर। काउंटर से गेम पेचीदा हो जाती है। और हाँ... ट्रेल पर दस रुपये की पेमेंट...।''

उन्होंने मुझे फ़्लैश खेलना सिखाया था और अज़ीब बात यह थी कि मुझसे वो हार जाते। मैं ख़ुश हो जाता। सौ-पचास की जीत मुझे सुकून देती। मैं जीत के ख़ुश होता। वो हार के ख़ुश नज़र आते। मुझसे ज़्यादा ख़ुश। मैं हैरान होता। जीतने वाला खुश हो तो हो, हारनेवाला क्यों ख़ुश हो रहा है। साबिर साहब की यही तो ख़ूबी थी।

ये तो मुझे बहुत बाद में पता चला कि वो जानबूझकर मुझसे हारते थे। उस दिन मुझे पता चला कि हारने वाला शख़्स, दरहक़ीकत जीतता रहा है, और मैं जीतकर भी हारता रहा हूँ।

कई बार ऐसा भी होता जब साबिर साहब जीत जाते। फिर वो जीत का जश्न मनाते। पंजाबियों वाले लहज़े में कहते, ''बसन्त, आज मैं जीता हूँ यार...बहुत बड़े प्लेयर से जीता हूँ...इक-इक गिलासी हो जाए।''

मेरी हाँ-ना की परवाह किये बगैर वो दो पैग तैयार करते। बोलते, ''चीयर्ज़!... ताश के चारों बादशाहों के नाम।''

हम दोनों मुस्कराते। गिलास उठाते। ताश के पत्तों को छुआते।

एक दिन जब हम एक-एक पैग पी चुके तो साबिर साहब बोले, ''बसन्त, ताश के बादशाहों के पास अपनी कोई सल्तनत नहीं...फिर भी वो बादशाह हैं।''

''एक्ज़ेक्टली!'' मैंने कहा।

फिर बोले साबिर साहब, ''बसन्त, तुम्हें पता है हुकम, चिड़ी, ईंट और पान के बादशाह क्यों हैं? इनका भी कुछ मतलब है। प्रतीक चिन्ह हैं ये। मसलन, ईंट का बादशाह जूलियस सीज़र के लिए, चिड़ी का बादशाह किंग डेविड को चित्रित करता है।''

ताश खेलते-खेलते भी एक पाठ-सा पढ़ा दिया था उन्होंने। मैं तो भौंचक देखता रहा था उन्हें। मैंने ताश के बादशाह तो हज़ारों बार देखे थे, प्रतीकों का इल्म पहली बार हुआ था।

उन्होंने नई मारुति कार ली थी। वो शायद न भी ख़रीदते। मेरे बच्चों ने ज़िद की, ''चच्चा सॉब, आप कार क्यों नहीं लेते?...कार अब स्टेटस सिम्बल नहीं... नेसेस्टी बब चुकी है।''

''नेसेस्टी ईवल।'' तपाक़ से जवाब दिया साबिर साहब ने। फिर वही ज़ोरदार ठहाके...साबिर साहब और बच्चों के, मिलेजुले।

एक दिन उन्होंने बच्चों के सामने हाथियार डाल दिये और नयी मारुति ऐट हंड्रेड ले ही आये। हफ़्ते, पन्द्रहवें या महीने में एक बार कार निकालते। मेरे पूरे परिवार को दावत देते। फिर ड्राइव पर निकल पड़ते— कभी दिल्ली का लोदी गार्डन तो कभी रेल म्यूज़ियम, कभी गुड़गाँव के मॉल तो कभी सुल्तानपुर लेक!

एक दिन मैंने पूछ ही लिया, ''साबिर साहब, आप कभी अकेले घूमने नहीं जाते कार में...क्या वजह है?''

''दो वजहें हैं।'' उन्होंने बड़ी सादगी से जवाब दिया, ''अकेले कार में बैठकर जाना मुझे अय्याशी जैसा लगता है। पैदल चलता हुआ इनसान कितनी कम जगह घेरता है? और कार...कितनी सारी जगह हड़प लेती है।...एक तो ये वजह है।''

''दूसरी?'' मैंने पूछा।

''बसन्त, जब मैं तुम सब लोगों के साथ होता हूँ तो लगता है कार के अन्दर कोई जश्न का मौसम उतर आया है। कितनी चहल पहल होती है कार में। मुझे ऐसा लगता ही नहीं कि मैं अकेला हूँ।... तब, कार एक चलता-फिरता घर हो जाती है और मैं उस घर का मुखिया।''

उनकी दूसरी वजह सुनकर, मेरी आँखें तो नहीं, दिल ज़रूर भीग गया था।

साबिर साहब फ़राख़दिल मुसलमान थे....शानदान इनसान। वो बड़े-से घर में अकेल रहते थे। यकीनन वो ग़मज़दा भी होते थे और बेचैन भी। लेकिन अपने दुखों को छुपा लेने की कला वो जानते थे।

लेकिन कई बार इसके विपरीत भी होता है। कलाकार अपनी सारी कलाएँ भूल जाते हैं। वक़्त अपनी चाल चलता है और ज़िन्दगी अपनी। शह और मात के खेल में शिकस्त अक्सर मनुष्य की होती है।

साबिर साहब जैसे ज़िन्दादिल, बेफ़िक्र और अलमस्त इनसान ने कभी सोचा भी नहीं था कि उन्हें भी दिल का दौरा पड़ सकता है। शुक्र इस बात का था कि वो इतवार का दिन था और शाम का वक़्त! मैं उनके घर में था। अचानक वो बेचैनी महसूस करने लगे। सीने में दर्द उठा और साबिर साहब पसीने से तर-ब-तर। मैंने उनको तत्काल कार में लिटाया। एक प्राइवेट नर्सिंग होम में दाख़िल कराया। डॉक्टरों ने बचा लिया साबिर साहब को। ये ज़रूर कहा कि थोड़ी-सी देर जानलेवा साबित हो सकती थी।

मैं यह ज़रूर सोचता रहा कि अगर यह अटैक रात के वक़्त होता...तब? लेकिन यह बात मैंने साबिर साहब से नहीं कही थी।

चार दिन आई.सी.यू. में रहे साबिर साहब। घर तो आ गये लेकिन बेहद कमज़ोर...टूटे-फूटे से।

विदेश से बच्चों ने लगातार फ़ोन किये। दिन में कई-कई बार। आख़िर फ़रमाबरदार बेटे थे। क्यों न करते फ़ोन। उन्होंने ये भी कहा कि ज़रूरत हो तो वो कुछ दिनों के लिए हिन्दुस्तान आ जाएँ। साबिर साहब ने मना कर दिया। उनको 'ज़रूरत' लफ़्ज़ नागवार गुज़रा। बाप को दिल का दौरा पड़े और बच्चे ज़रूरत की पूछें।

बहरहाल, साबिर साहब फिर से सेहतमन्द हो गये थे। बेशक, पहले जैसी फुर्ती और पहले जैसी तेज़ी उनके जीवन में नहीं रही थी। फिर भी वो ठीक हो गये थे।

ख़ुदा भी कई बार इम्तेहान लेने पर उतारू हो जाता है। साबिर साहब ने अपने दिल को तो सँभाल लिया था। ख़ुद को नहीं सँभाल पाये। बॉथरूम में फिसल गये। न हेड इंजरी न कूल्हे टूटे। कमर लचक गयी। उठते-बैठते कराहते। चलते वक़्त और भी दर्द उठता।

इस बार बच्चों ने... ख़ासतौर से बड़े बेटे ने जो कैलिफोर्निया में रहता था, अमेरिका आने की ज़िद की। उसने यह भी कहा कि पड़ोसियों के सहारे सेहतमन्द लोग रह सकते हैं, बीमार नहीं।

साबिर साहब को पता नहीं कैसा महसूस हुआ। पर मुझे लगा कि उनका बेटा ठीक कहता है। उनके अमेरिका जाने या न जाने पर मैं अपनी कोई राय नहीं दिया करता था। लेकिन इस बार मैंने ख़ुद कहा, ''साबिर साहब, आप अपने बेटे के पास चले जाओ।''

साबिर साहब मेरा मुँह ताकते रह गये। उन्हें उम्मीद नहीं थी कि मैं अपना इस तरह दो-टूक फ़ैसला सुना दूँगा।

''चला जाऊँ?'' उन्होंने गहरी साँस ली। किसी मासूम बच्चे की तरह मुझसे पूछा।

''हाँ।'' मैंने कहा।

''क्यों चला जाऊँ?'' उन्होंने किसी नासमझ बच्चे की तरह सवाल किया।

''यहाँ रहना आपकी सेहत के लिए ठीक नहीं।'' मैंने कहा।

उन्होंने गहरी साँस ली। बोले, ''जब तवक्क़ो ही उठ गई गालिब/क्यों किसी का गिला करे कोई।''

वो चुपचाप मेरे घर से उठकर चले गए। वो स्टिक लेकर चलते थे। दूर तक स्टिक की खटखट सुनाई देती रही।

कई दिन तक हमारे बीच कशीदगी रही। फिर एक दिन साबिर साहब आये। मुस्कराने की कोशिश करते हुए बोले, ''बसन्त, तुम ठीक कहते हो। मुझे अमेरिका चले जाना चाहिए।... मैंने अपने बेटे से कह दिया है कि वीज़ा, टिकट वगैरा का बन्दोबस्त करे।'' उन्होंने हँसने की कोशिश की। लेकिन उनसे हँसा नहीं गया।

साबिर साहब को एक महीने बाद अमेरिका चले जाना था। एक महीना अभी दूर था। लेकिन उनकी अनुपस्थिति को मैं अभी से महसूस करने लगा था। वो भी उदास रहने लगे थे। न अब उन्होंने कभी फ़्लैश खेलने के लिए कहा था न कभी कार में घुमाने के लिए। साबिर साहब संजीदा होते चले गये और मैं भी। हम मिलते। रोज़ाना मिलते। कॉफ़ी पीते। सनैक्स खाते। खाना कभी मेरे घर तो कभी वो आर्डर देकर बाहर से मँगा लेते। लेकिन पता नहीं क्यों। पहले जैसी बेतकल्लुफ़ी हमारे बीच नहीं रही थी।

जब पन्द्रह दिन रह गये तो उन्होंने घर का सामान इधर उधर करना शुरू कर दिया। अपने लिए दो बैग लाये - एक में कपड़े, जूते दवाइयाँ तो दूसरे में किताबें। बाक़ी सामान-व्यर्थ! क्रॉकरी किसी को दी, बर्तन किसी को। रजाइयाँ कम्बल चौकीदार को तो मेज़-कुर्सी एक गरीब बच्चे को दे आये।

एक दिन मैंने बातों-बातों में पूछा, ''साबिर साहब, कार का क्या करेंगे?'' फिर उनके जवाब की इन्तज़ार किए बग़ैर मैंने कहा, ''अगर किसी कार के डीलर से बात न हुई हो तो आप कार मुझे भी बेच सकते हैं।''

उन्होंने मुझे देखा। होंठों पर फीकी-सी मुस्कान। आँखों में पता नहीं क्या। फिर कुछ पल रुककर वो बोले, ''बसन्त, इस कार को मैंने बड़ी हिफ़ाज़त से रखा है। चलाया भी बहुत कम है।''

''जानता हूँ। मैंने कहा। मैं मन ही मन सोचने लगा-कार का ऊँचा दाम लगाने के लिए वो इस तरह की बातें कर रहे हैं। मुझे इस बात का भी शक हुआ कि साबिर साहब यक़ीनन उस सोफे के पैसे भी इस कार के दाम में जड़ देंगे, जिसे परसों उन्होंने मेरे घर रखवाया था।''

दो-तीन दिन वो बेहद व्यस्त रहे। उनके अमेरिका जाने में आख़री दो दिन रह गये थे।

मैं जब शाम को अपने दफ़्तर से वापिस आया तो कार मेरे घर खड़ी थी।

अभी मैं कार के बारे में पूछने ही वाला था कि साबिर साहब मेरे घर आ गये।

मैंने उनसे सीधा सवाल किया, ''साबिर साहब, कार की प्राइस नहीं बतायी और कार मेरे घर खड़ी कर दी।''

मैं उद्विग्न था। बेचैनी मेरी बातों में थी और शायद चेहरे पर भी। मैं इस कार को हासिल करना चाहता था। क्योंकि कार लगभग नयी थी। साबिर साहब ने इसे बहुत कम चलाया था। लेकिन मैं चाहता था कार की कीमत एक लाख के आसपास ही हो। मुझे ऐसा लग रहा था कि साबिर साहब कार की ज़्यादा क़ीमत बताएँगे और मैं 'बारगेनिंग' भी नहीं कर पाऊँगा।

साबिर साहब मुझे देखते रहे। पता नहीं क्या सोच रहे थे वो। कुछ देर बाद बोले, ''बसन्त, इस कार को मैंने बड़ी हिफ़ाज़त से रखा है।''

''जानता हूँ।'' मैंने अस्थिर होकर कहा।

''इस कार से मुझे लगाव था।'' वो बोले।

''मुझे मालूम है। मैंने व्याकुल होकर कहा। मन ही मन सोचने लगा कि साबिर साहब बातें बहुत बना रहे हैं, कार की क़ीमत नहीं बता रहे।''

''बसन्त, इस कार से मैं मुहब्बत करता था। इसलिए मुहब्बत करता था...कि अक्सर हम सब मिलकर इस कार में घूमने जाया करते थे। ...कार एक तरह से हम सबका मिलाजुला घर थी। मैं इस कार से इसलिए मुहब्बत करता था।'' साबिर साहब कहते चले गये। वो गहरी साँस लेकर चुप हो गये।

वो चुप हुए तो मैंने कहा, ''साबिर साहब, मैं कुछ समझा नहीं।''

''हम जिससे मुहब्बत करते हैं....क्या उसकी क़ीमत लगा सकते हैं?''

''जी?'' मेरे गले से कोई आवाज़ निकली।

''यह कार बहुत मामूली-सा तोहफ़ा है मेरी तरफ़ से।'' उन्होंने कहा। मैं दीवानावार उनको देखता रहा। उन्होंने अपने हाथ में पकड़ रखा लिफ़ाफ़ा मुझे थमाया। मेरे नाम की आर.सी और मेरे नाम कम्प्रीहेंसिव इंशोरेंस सालभर का।

मैं साबिर साहब को देख रहा था जिन्हें अगले दिन अमेरिका चले जाना था।

मुमकिन है, इस संसार में, दोस्तों ने एक-दूसरे को बहुत महँगे तोहफ़े दिये हों, लेकिन साबिर साहब ने जिस शाइस्तगी और जज़्बे के साथ मुझे कार भेंट की थी, उसके मानी कुछ और थे।

कुछ चीज़ें, महज़ चीज़ें नहीं होतीं, वो यादों का सरमाया होती हैं जैसे कि यह कार-मारुति एट हंड्रेड! ..मैं कार को देखता हूँ तो साबिर साहब बहुत ज़्यादा याद आने लगते हैं।

**1875 सेक्टर-6**
**बहादुरगढ़-124507**
**(हरियाणा)**
**फोन : 09813491654**

# रोटी

## तरसेम गुजराल

**दफ़्तर में क़दम रखते ही** मैंने पानी का गिलास माँगा परन्तु पानी पिलाने वाली लड़की अख़बार का फ़िल्मी पृष्ठ देख रही थी। उसने सुनकर भी नहीं सुना।

घर में, पत्नी को आर्थराइटिस था। वह रात भर नहीं सोयी थी। मैंने उसे बोतल में पानी गर्म करके दिया था और दर्द रोकने की गोली दे दी थी। उसने मुझे सो जाने को कहा क्योंकि मुझे सुबह बीस मिनट स्कूटर चलाकर सवा सात की बस पकड़नी थी। डेढ़ घंटा बस का और फिर आधा घंटा पैदल चल कर दफ़्तर पहुँचना था। डाक्टर को फोन किया तो सात बजे का टाइम मिला, सो भी बड़े कातर निवेदन के साथ।

डॉक्टर आठ बजे से पहले बाहर नहीं आया। मैं बेंच पर पत्नी के साथ बैठकर उसके कुत्ते से बचने के लिए बार-बार पैर उठाने के सिवा क्या कर सकता था? वह बार-बार दुम हिलाकर पाँव के पास आकर जीभ निकालता। कभी मुझे और कभी पत्नी को बेंच पर पैर रखने पड़ते। गोरखे के लिए, उस कुत्ते को मना करने के साथ-साथ, अच्छा मनोरंजन था।

बस स्टैंड से दफ़्तर के बारह रुपये रिक्शे वाले को देने पड़े, देर से आने का वक़्फ़ा कम करने के लिए।

अभी मेरी मेज़ की धूल मेरी कुहनियों से साफ हुई ही थी कि चंचल ने नोटिंग मेरे सामने कर दी। ठेकेदारों के एकाउंट बनाने वाले मिस्टर सिंह ने लिखा था कि इन्हें क्यों न सुधीर कपूर को दे दिया जाए! जी.एम. ने सुझाव मानते हुए सुधीर कपूर लिख दिया था।

''क्या बकवास है!'' मैंने कहा, ''पिछले सात महीने से पूरा चार्ज मिस्टर सिंह के पास है। अब जब उस तरफ़ से पेमेंट का दबाव बन रहा है तो फन्दा मेरे गले में?''

''हमें क्या पता जी!''

मेरी तड़प देखकर मिली ख़ुशी को दबाते हुए उसने कहा। मैंने अभी नोटिंग मेज की दराज़ के हवाले की ही थी कि एक शख़्स, जिसके चेहरे पर लिखा था कि न तो उसे किसी की परवाह है, न वह किसी को कुछ समझता है, दाख़िल हुआ।

उसने आते ही पहले गाड़ी की चाबी मेरी मेज़ पर रखी। फिर गॉगल्ज उतारकर टिका दिये। एक कागज़ जेब से निकाला और कहा ''मैं जवाहर हूँ। आपको पता ही होगा!''

''नहीं, बैठिए!'' मैंने कुर्सी की तरफ़ इशारा किया।

''बैठना नहीं है। आप इस पर दस्तख़त कर दो। जो चाय-पानी आपका है ले लो और चैक बनवा दो!''

''देखिए, आपको शायद किसी ने गलत सूचना दी है। यह सीट मिस्टर सिंह के पास है!''

''मिस्टर सिंह के पास थी। अब आपके लिये आर्डर हो गये हैं।'' उसने पैंट की जेब से सौ-सौ के नोट निकालकर, थूक लगाकर गिनना शुरू कर दिया।

''मैंने आज तक पगार के अलावा किसी से न कभी कुछ चाहा है, न कुछ लिया है।''

''इसीलिए...''

उसने नोट दूसरी जेब में डालकर बाकी का वाक्य हवा में उड़ा दिया।

मुझे डर-सा लगा। उसके 'इसीलिए' में काफी कुछ छुपा था।

इसलिए तुम्हें कोई पूछता नहीं। एक चपरासी पानी का गिलास तक देने को तैयार नहीं। तुम्हारे जैसे ईमानदार आदमी निरे घोंचू ही होते हैं। इसीलिए जब भी ट्रान्सफर होना होता है, तुम्हें ही धकेला जाता है... सभी फँसनेवाले काम तुम्हें ही दिये जाते हैं। रोज़ बस स्टैंड से बैग उठाये भागते-हाँफते आते हो। ...इसीलिए न तुम्हें कोई घर पूछता है, न बाहर...। घर इसलिए नहीं कि तनख़्वाह के अलावा कुछ लाते नहीं और सूखी तनख़्वाह चादर की लम्बाई नहीं बढ़ा सकती। बाहर इसलिए नहीं कि पिओगे-पिलाओगे नहीं तो सम्बन्ध कैसे बनेंगे?

''यह अच्छा तरीका है तुम लोगों का। पहले दस दिन साहब के पीछे भागते रहे अब आप लोगों के सामने गिड़गिड़ाएँ। जब आपके लिये आर्डर हो गये हैं, तो आप हस्ताक्षर करते क्यों नहीं?''

''मेरे पास कोई रिकार्ड नहीं है। सारा रिकार्ड मिस्टर सिंह के पास हैं। वह आज आये नहीं। मैं सारा लेन-देन देखूँगा, तभी करूँगा।''

''इस काग़ज़ में सब लिखा है और इंस्पेक्टर ने तस्दीक कर दिया है। वह भी आपके विभाग का है।''

''फिर उसी के दस्तख़त से काम ख़त्म क्यों नहीं मान लेते आप? मेरे हस्ताक्षर की ज़रूरत क्या है?''

''यह तो सरासर दादागिरी है। नीचे चंचल से लेकर ऊपर तक हर कुत्ते को रोटी का टुकड़ा नहीं, बिस्कुट डालते हैं हम। मन्त्री तक आकर हमारे गेस्ट हाउस में ठहरते हैं। एक आप हैं कि पैर भी नहीं लगने देते।'' उसने सोने की मोटी अँगूठी को घुमाया, जिसमें शायद नीलम जड़ा था।

''आप मुझ पर बेवजह ख़फ़ा हो रहे हैं।''

''ख़फ़ा तो मुझे होना ही होगा। मैं दस दिन से इस दफ़्तर के चक्कर लगा रहा हूँ। पहले मिस्टर सिंह और अब आप...? मुझे दस लाख से ज़्यादा रकम लेनी है। आपने बीस साल की नौकरी में भी इतनी रकम नहीं देखी होगी।''

''आप मेरा अपमान कर रहे हैं। आपको कोई अधिकार नहीं।''

मेरा चेहरा तमतमा गया। आवाज़ ऊँची उठ गयी।

दफ़्तर में जब भी कोई ऐसी पेमेंट होनी होती है, चंचल चपरासी से लेकर जी.एम. तक सभी के चेहरे ताज़े गुलाब से ज़्यादा खिले रहते हैं। उन्हें इस मुद्रा में देखकर लगता है कि एक मेज़ के गिर्द, चन्द गज़टेड, बरसों के भूखे लोग चमकते चम्मच-कटोरियाँ-तश्तरी लेकर खाने को तैयार खड़े होते हैं। मेरी इस तल्ख़ आवाज़ ने उन सभी को निराश कर दिया और वे परीक्षा

केन्द्र में खाली पर्चा देने जैसी मजबूरी में घबरा गये। मेरे अपमान की चिन्ता उन चेहरों में खोजनी फिज़ूल थी। अलबत्ता मेरे प्रति खीझ का भाव था, जैसे मैंने उनकी सब्जी में से नमक चुरा लिया हो।

लंच के वक़्त बाजवा ने खाने के लिए बुलवाया, तो मैंने मना कर दिया। पेट में अजब ऐंठन-सी थी।

बाहर से आवाज़ें आ रही थीं।

''सुशील नहीं करने वाला पेमेंट!'' बाजवा ने कहा।

''आप भी कमाल करते हो। जी.एम चाहे कि पेमेंट हो, और पेमेंट नहीं हो, यह कैसे हो सकता है!' कहते हुए चंचल ने डिबिया से तम्बाकू निकालकर हथेली पर मसला होगा।

''जवाहर जी.एम. का हिस्सा पहले ही घर पहुँचाकर पेमेंट के लिए दफ़्तर आता है।'' सोडी ने अपना तर्जुबा बयान किया।

''अब पता चलता है न, इसी सीट पर सत्येन क्यों पागल हो गया था।''

''वह तो उसके प्लाट पर क़ब्ज़ा कर लेने की वजह से।''

''जी नहीं, उधर ज़मीन पर क़ब्ज़ा हो गया, इधर जी.एम. का पेमेंट का दबाव। पेमेंट भी वह, जो होने वाली नहीं थी। जी.एम. का कहना था कि विभाग को जो पेमेंट पार्टी से लेनी है उसका नोटिंग में उल्लेख न किया जाए। उसने जी.एम. का ज़बानी आदेश मान तो लिया परन्तु इस चूक के लिए इतना परेशान रहा कि रातों की नींद उड़ गयी। विभाग को पार्टी से पिछले तीन साल का बारह लाख से ज़्यादा रुपया लेना था।''

मुझे सत्येन के पागल हो जाने की ख़बर थी, लेकिन असली कारण आज ही पता चल रहा था। जालन्धर में ख़बर उड़ती हुई कुछ इस तरह पहुँची कि सत्येन पत्नी के साथ प्रेम सम्बन्ध बनाने को लेकर काफी असन्तुलित था। पत्नी मायके चली गयी और लौटकर नहीं आयी। कोई कहता कि सड़कछाप पठान से उसने उत्तेजना की दवा ली थी, परन्तु दवा ने उल्टा असर किया। बदनामी ने इतना भयभीत किया कि वह पागल हो गया।

फोन के दनदनाने की आवाज़ यहाँ भी सुनाई देती है।

चंचल ने ही उठाया। आकर मुझसे कहा, ''साहब का था। आपके लिए। कहा है कि उनके फोन का इन्तज़ार करके ही दफ़्तर से जाएँ!''

बाजवा पत्र देने इधर ही आ रहा था। कहा, ''जवाहर ने फ़ोन कर दिया होगा। ऐसे लोगों का कोई काम नहीं रुकता। काम का रुकना साँप की पूँछ पर पैर आने जैसा होता है।''

''मैंने क्या ग़लत किया बाजवा?''

''गलत आपने नहीं किया। सारी बात मिस्टर सिंह की है। यह क्या तरीका है कि 'माल' बनना हो तो वही करें, फँसने वाला मामला हो तो कोई और फँसे। आप पुराने एकाउंट तैयार करोगे। कोई चूक होगी तो आप भरोगे। एकाउंट तैयार हो जाएँगे तो पेमेंट कर शुद्ध लाभ वही कमाएँगे। पार्टी का गुस्सा आप झेलोगे क्योंकि आप विभाग की रिकवरी नहीं छुपा सकते!''

''आपकी बात ठीक है, परन्तु जी.एम. मिस्टर सिंह के पीछे क्यों हैं?''

''आपको नहीं पता?''

उन्होंने मेरी अव्यावहारिक बुद्धि पर तरस खाते हुए कहा।

''नहीं। मैंने गूँगे के गुड़ की तरह सिर हिलाया।''

''उनके आपसी सम्बन्ध मज़बूत हैं।''

''कुछ बताएँगे भी?''

''एक हो तो कहूँ...!''

''जी.एम की इन्कमटैक्स की रेड में, जिस इंस्पेक्टर ने उनकी मदद की थी, वह मिस्टर सिंह की बुआ का बेटा है... जब एम.डी. का पिछला दौरा यहाँ का था और लगता था कि वह जी.एम. का ट्रान्सफर आर्डर थमा कर ही जाएँगे, उनकी विज़िटिंग फ़ीस का बन्दोबस्त मिस्टर सिंह ने ही करवाया था।''

''यह विज़िटिंग फ़ीस कितनी होती है?''

''आपने तो बेकार ही इतने साल नौकरी की, दीन-दुनिया की ख़बर ही नहीं। नौकरी करते रहे हैं या घास छीलते रहे हैं?

''बैंक खातों के साथ मिलान करते रहना घास छीलना ही होता है!''

''यह फ़ीस 'पेटियों' में होती है?''

'पेटी'— मैंने अपने व्यवसायी ममेरे भाई से यह शब्द सुना था। वे लोग फोन पर इसी तरह बतियाते थे। पेटी का मतलब लाख रुपया। यह पहाड़ा मैंने वहीं समझा था।

बाथरूम गया, तो शीशे में अपना चेहरा ज़्यादा स्याह लगा। मुझे कामरेड हरजीत की बात याद आयी। उसने कहा था— 'आज हमारे प्रत्येक कर्मचारी के चेहरे पर स्याही पुत गयी। तेइस मार्च का दिन था। यूनियन का इजलास शहीद भगत सिंह के साथ जोड़कर हर साल इसी दिन रखा जाता था। उस दिन आपसी गिले-शिकवे इतने प्रखर हो गये कि संगठन दो हिस्सों में बिखर गया। रातभर जोड़ने का कोई सूत्र न मिला।' दो साल प्रधान रह चुके कामरेड हरजीत का दिल भर आया। मुझसे कहा— 'मैनेजमेंट जो कुछ पाँच साल न करवा सकी, एक दिन में हो गया। देखना इस रात की स्याही प्रत्येक कर्मचारी के चेहरे पर पुत जाएगी।' मैंने चेहरे पर पानी के छींटे मारे और बाहर निकल आया।

''चलोगे नहीं? पाँच तो कब के बज गये।'' बाजवा ने आवाज़ दी।

''थोड़ा इन्तज़ार करूँगा।''

''जी.एम. के फोन का।''

''हाँ, चंचल ने यही सन्देश दिया था।''

''वहाँ तो अब तक ढक्कन खुल चुका होगा।'' उसने मुँह में उँगली डालकर ढक्कन खुलने की आवाज़ निकाली।

मैंने तैयार की हुई स्टेटमेंट पर अग्रिम पत्र लगाया और चंचल को थमा दिया।

बैग उठाकर बाहर निकल आया दिया जैसे कोई क़ब्रिस्तान से लौटकर आता है।

बस में टिकट ख़रीदने के पैसे मैंने मुट्ठी में थाम लिये और आँखें बन्द कर लीं। मेरे साथ वाली सीट पर एक तीस-बत्तीस वर्षीय चाकलेटी रंग का कोट पहने और ज़्यादा मोटापे की तरफ जाता व्यक्ति आकर धँस गया। मुझे आँखें तब खोलनी पड़ीं जब उसने मोबाइल पर ऊँचे स्वर में बात शुरू कर दी।

''टर्न-ओवर तो बहुत कम है!''

''...''

'गुप्ता जी का पता है ताले लगवा देंगे!''

''...''

''मैं पहले से ही तुम्हें सावधान करता रहा हूँ कि टारगेट के बारे में कोई समझौता नहीं। तुम समझते रहे कि मैं बकवास कर रहा हूँ!''

तभी उसकी जेब का मोबाइल बजने लगा। तब पता चला कि वह दो-दो मोबाइल लेकर

चलता है।

''अच्छा, बाद में बात करता हूँ। दूसरा फोन बज रहा है।'' दूसरे फोन पर उसने कहा—''देखो, मिलान किये बिना तुम दफ़्तर से जाना नहीं। एक बात हो गयी। पहले बिल सारे व्यवस्थित करो। दराज़ देखो। सिंगल की अलमारी देखो। फिर देखो कि सारे फीड हो गए या कुछ छूट गए हैं? मुझसे दस मिनट में दोबारा बात करो!''

फिर उसने पहले वाला फोन उठा लिया और कहा— ''हाँ अरुण, अब चैन भी नहीं पड़ रहा। जब मैं कहता था कि छः चालीस वाली ट्रेन तुम्हें पकड़नी ही चाहिए, तब तुम कहते थे कि सर्दियों में इतनी सुबह तो प्लेटफार्म भी वीरान होता है। हमारे पास नीचे-ऊपर, दाएँ-बाएँ झाँकने का समय ही कहाँ होता है। प्राइवेट काम और सरकारी कार्यशैली का फर्क तो तुम्हें मालूम होना ही चाहिए। ...एक मिनट रुको। दूसरा फ़ोन बज रहा है!''

''हाँ, मिल गये बिल?''

''क्या, चाबी साथ ले गया वो।''

''उसको फोन मारो। दस मिनट के अन्दर चाबी तुम्हें पहुँचा दे। नहीं तो ताला तोड़ देना और हर्जाना उसके सिर डालना। मैं किसी को कोई रियायत नहीं दे सकता, न ही कोई मुझे देता है। केपिटल किसी का इन्तज़ार नहीं कर सकता!''

उसके ज़ोर-ज़ोर से दोनों मोबाइल पर बात करने से बस में सो पाने का सवाल ही नहीं था। पेट में फिर से ऐंठन होने लगी थी, पहले सोचा कि टिफ़िन निकालकर कुछ खा लूँ। उस चाकलेटी कोट वाले की वजह से सीट में इतना धँसा हुआ महसूस कर रहा था कि टिफ़िन निकालना भी मुमकिन नहीं लगा। पूरा रास्ता, उसने मोबाइल बन्द नहीं किये। वह जैसे बस में न चल रहा हो, नदी में बह रहा हो और फोन डूबते को तिनके का सहारा बन रहे हों।

हरजीत जब भी किसी यूनिट को सम्बोधित करता, अपनी बात मजदूरों के काम के घंटों से शुरू करता। कहता— ''आदमी नौकरी नहीं करता था, गुलामी करता था। काम के घंटे निश्चित नहीं थे। काम के घंटे निश्चित करने के लिए संघर्ष हुआ। कर्मचारी के जीवन में यदि फ़ुर्सत के कुछ फूल खिले हैं तो वे क़ुर्बानी के खून से सींचकर निकाले गये हैं।'' परन्तु वह मोबाइल वाला आदमी तो घर जाकर भी काम से कहाँ मुक्त होता होगा।

**घर** पहुँचकर वह पानी देने के लिए भी नहीं उठी। मेरा उतरा हुआ चेहरा देखकर कहा, ''मुझे पता है आप थक कर आये हैं। आप मुझे पानी की बोतल गर्म करके दे दो, फिर मैं उठकर आपको चाय बना दूँगी। पूरा दिन मैं बिस्तर से उठ भी नहीं पायी!''

''मैं तुम्हें दवा ला देता हूँ!''

''नहीं, पैरों में ज़्यादा तकलीफ़ है। आप जरा आराम कर लो, फिर मालिश के लिए ले जाना, सुदर्शन के पास।''

''आराम ही आराम है। साढ़े सात बज रहे हैं। आठ बजे वह बन्द कर जाएगा। चलो अभी!''

सुदर्शन के यहाँ इस वक़्त भीड़ नहीं है। दो-चार लोग ही हैं।

उसके सामने एक आदमी की टाँग मेज़ पर टिकी है। खूब तेल छिड़ककर उसने मालिश शुरू कर दी है। वह आदमी कह रहा है,—''मेरे पास एक हफ़्ता ही है, दसवें दिन मुझे दिल्ली से जहाज पकड़ना है। वहाँ ड्यूटी टाइम भर खड़े रहना पड़ता है। साँस लेने की भी फ़ुर्सत नहीं होती। डालर ऐसे ही नहीं कमाए जाते। अब तो हमारे प्राइम मिनिस्टर भी कह रहे हैं कि पैसे पेड़ों पे नहीं लगते... मेरी टाँग ही ठीक नहीं होगी, तो काम क्या होगा। डर लगता है कि कम्पनी कहीं रिटर्न टिकट ही न थमा दे!''

''इतने फ़िक्रमन्द क्यों हो?''

''मैं इस रेस में अव्वल न आऊँ, तो कोई बात नहीं। परन्तु मैं मैदान से बाहर नहीं होना चाहता। आप मुझे एक हफ़्ते में ठीक कर दोगे न!''

''ईश्वर पर भरोसा रखो। ठीक हो जाएगा!''

''ईश्वर पर भरोसा ही तो नहीं रहा, नहीं तो खेत क्यों बिक जाते?''

मालिश का मज़बूत हाथ पड़ते ही उसके मुँह से कराह निकल गयी... ''मुझे सारे खेत वापिस लेने हैं। आप बस मुझे एक हफ़्ते में ठीक कर दो!''

मेरा ध्यान उसी की बातों में अटका रहा। पत्नी के पाँव की मालिश हो चुकी थी। मैंने सुदर्शन को पैसे देकर घर की राह ली।

घर पहुँचते ही फोन की कर्कश घंटी बजी। जी.एम. का फोन था।

''मैंने तुम्हें फोन पर इन्तज़ार करने को कहा था और तुम पहले ही भाग निकले।''

''मैं सर, पाँच बजे के बाद निकला।''

''एक दिन ज़रा ज़्यादा देर रुकना पड़ जाए तो तुम लोगों को पता नहीं क्या हो जाता है।'' (वह शायद 'मौत आ जाती है' कहना चाहते होंगे।) ''वो एकाउंट्स सारे कल बन जाने चाहिए। सुबह जल्दी आकर काम पे जुट जाना।''

''सर, सीट तो मिस्टर सिंह के पास है।'' मैंने तर्क देना चाहा। उनके पीने की बदबू मुझे रिसीवर से क्यों आ रही थी, समझ नहीं पाया।

''तुम्हें सीट चाहिए। सीट का लालच हो रहा है। कल सीट तुम्हें मिल जाएगी।''

''आप गलत समझ रहे हैं। मेरा मतलब है कि...''

''अपना मतलब अपने पास रखो, मुझे कल पेमेंट करवानी है, बस।''

फोन कट गया। कानों के पास पटाखों का धुआँ था।

''मैं दलिया ही खा लूँगी। आप होटल से अपने लिए कुछ ले आओ।'' फोन रखते ही पत्नी ने कहा।

''मुझे होटल का पचता नहीं। पेट का पहले ही बुरा हाल है।'' मैंने चिढ़कर कहा।

''चलो मैं बना देती हूँ।'' उसने उठना चाहा, परन्तु उठा नहीं गया।

''नहीं तुम लेट जाओ, मेरे पास सुबह वाला खाना है। गर्म कर लूँगा।''

दोपहर में खाया कुछ भी नहीं?

''छोड़ो!''

अपने लिए कुछ करने की हिम्मत नहीं बची थी। थकान से पोर-पोर डूब चुका था। रसोई की बत्ती जलाकर बन्द कर दी।

मैंने बैग से टिफ़िन निकाला। चार तह में रोटियाँ गल-सी गयी थीं। मैंने निवाला तोड़ा परन्तु फिर नीचे रख दिया। थोड़ी देर पहले मैंने कानों के पास ज़हरीला धुआँ क्यों बरदाश्त किया? क्या इसी बुझी हुई ठंडी रोटी के टुकड़े के लिए?

46, हरबंस नगर, जालंधर-2

फोन- 0181-2256760

परेश

## पृथ्वी की प्रत्यंचा

अहेरी का क्या पता
कौन-सी अँधेरी गुफा में छुपा है
माटुँगा या मुम्बई, झवेरी बाज़ार
या दुबई,
कहाँ से मारता है खींच बाण
कभी भी कट जाती है जीभ
दाँतों के बीच

नहीं भरता यह व्रण,
करता है दर्द, बार बार,
फैलें हैं छुपकर छापामार
दस हज़ार
एक समुद्र है हरा और बदलता है रंग
कभी काला, पीला, धूसर,
नहीं होता आसमान खाली
पटा पड़ा है यहाँ से वहाँ तक
विस्तार, ईस्ट अफ्रीका तक,
डरबन, केपटाउन, चैपल, मंडेला
डूबते जहाजों के मस्तूलों से
ढूँढते है जलपक्षी आधार
अंतहीन उनकी उड़ान
नहीं मिलता धरती का दूसरा छोर
जीवन ब्लैड की खूनसनी धार
पानी की चुनरी
पानी का लहँगा
बजता है राजस्थानी चेतना में
मणिमधुकर के उपन्यास 'सफ़ेद मेमने'
का वाद्यय चितलंगा
घूमती है धरती एक अदृश्य धुरी पर
बड़ी आँखोंवाली एक श्यामा लड़की
कुँवारी, उम्र में बड़ी, पर खड़ी चौखट पर
झाँकती है अपनी मैली, फटी चिक से

लौटें हैं पिता एक विवाह सम्बन्ध की
पेशकश से ना सुनकर,
घूमता है पृथ्वी का विराट
सुडौल नितम्ब वस्त्रहीन

कमरे के अँधेरे में अदृश्य हो जाती है
धरा, धूप ढ़ल जाती है
शाम होती है, बूढ़ी हो जाती है
कन्या, मृत्यु आती है
छूटता है बाण प्रत्यंचा से
निकल जाता है छू
अस्तित्व के पार।

1251/8 सी, चंडीगढ़

मनमोहन

## नीलकंठ

सोते हुए कोई नाग डसता
माथे में छेद होता
ज़हर नसों द्वारा
पाँव से नाख़ुनों तक पहुँचता
मेरे बिस्तर की चादर नीली
चारपाई के पाए नीले
और फिर सारा फ़र्श नीला हो जाता

सारे नीलेपन में से
एक शिव उठता
जिसका कंठ नीला
काया नीली
सर्व आलोक नीला

वो मुझे कहता है
अगर भागीरथी का सृजन करना है
तो जाना पड़ेगा हिमालय को
गंगोत्री के पास
जहाँ कोई पार्वती नहीं
केवल तुम होंगे या तुम्हारी अर्द्धकाया

अगर सागर मन्थन करना है
तो रहना पड़ेगा शेषनाग के पास
बिना उस शिव के
जिसके पास पार्वती जैसा कोई पारावार नहीं

सोते हुए अगर तुझे नाग डसता है
तो चलो वहाँ चलें
जहाँ न कोई शिव है न पार्वती
वहाँ सिर्फ़ ज़हर है
जो तुझे पीना पड़ेगा अमृत की तरह
फिर उदय होगा तुममें से...नीलकंठ!

## दृष्टि

तपती हुई स्याह सड़क
बेपत्ती झाड़ियों की छाया में पड़ी

कुछ गमले, घड़े और सुराहियाँ

कुम्हार की कृतियाँ
मिट्टी में गुँथी प्यास
पानी की तलाश
सुराही-दर-सुराही
हरियाली की आस
टहनी-दर-टहनी

मिट्टी इन्तज़ार में आस लिये बैठी
आएगा कोई पथरीली तपती इमारती ऊँचाइयों से
ले जाएगा पानी के पास
प्यास सीढ़ी-दर-सीढ़ी

सुराही के साथ सहकती
तपिश में हरियाली की आस
गमले में लहराती
बूँद-बूँद पानी
बीज-बीज मिट्टी
कोई जड़ टहनी बनेगी
टहनी पर कोई फूल टहकेगा
हवाओं के साथ झूमता
पत्ती-पत्ती खिलता

गमले में जंगल विकसित होता
घड़े में दरिया बहता।

## आग

आग परिवर्तित कई बिम्बों में
तकिए की धूनी
दरगाह का दीया
देहरे की ज्योति
हाथ लगाते ही

हृदय में से उठे हूक...अल्लाह हू
घरों में उठता धुँआ
अन्न का आलाप...जीने की अलामत
दिलों में दुखना
सुलगे नज़रों में
रगों की हरारत
वजन्तरी धड़कन की
आग मरे — आग जन्मे
आग के भीतर सभी तख्त
तत्त्वों के भीतर सारी आग
आदि आग...जुगादि आग

आग कहे आग को अब और न सुलगो
मगर सुलगती आग परिवर्तित हो
बिम्बों में...धूनी...दीया...ज्योति।

## सर्प-जून

इन्तज़ार था जिसका
सर्प की तरह, जब वही पल
फ़िसल गया हाथों में से
तो आँखों में आँखें डाल
उसने कहा—
''तेरी आँखों में वास है साँपों का
चाहती हूँ मैं तेरे अकेलेपन को
अपनी आँखों में समा लूँ''
मैंने कहा,
''काटना पड़ता है अकेलापन
हर किसी को अकेले ही''
वह बोली—
''ज़हर चढ़ गया है तुमको अकेलेपन का
कोई शाप है तुझे सर्प-जून काटने का?
बाहर आ, अपनी सर्प महिमा से
कभी कोई साँप देखा है साँपों की भीड़ में
सर्प मंडप में तुम हो जाओगे और अकेले
यह मेरा अन्तिम सन्देश है तुम्हारे लिए''

और उसने ख़त डाल दिया पोस्ट बॉक्स में

लोग हैरान परेशान अब
पोस्ट बॉक्स गिर्द खड़े पूछ रहे हैं—
''साँ साँ सी सुन रही है लगातार
जैसे बीन की लय पर साँप रेंग रहा हो
क्या कोई साँप घुस गया है इसमें?''

## चिड़ियाघर

आने लग पड़ी है समझ
पक्षियों की भाषा की मुझे

देख लूँ अगर अकेली अबाबील
तो ऐसे लगे जैसे कुछ बुरा होगा

इकट्ठी दो देख लूँ तो लगे
दिन अच्छा गुज़रेगा
करती अठखेलियाँ देख लूँ
अगर तीन अबावीलें
तो मन कहे आएगा तेरा ख़त
इच्छापूर्ति के लिए तब
गरुड़ भगवान के चक्कर लगाऊँ सात

अचानक देख लूँ अगर
मिट्टी में नहाती गौरायाँ
मन कहे आज मौसम रहेगा खुशगवार
होगी बारिश मिलेंगे मित्रों से
और मचाएँगे शोर

कौए का मुंडेर पर बोलना
कर जाए भविष्यवाणी तेरी आमद की
नाचता हुआ मोर लगे जैसे
मिलने की इच्छा लिए हूँ मैं

घुग्गी की धडक़कती छाती की चमक
दिलाए याद तेरे वक्षस्थल की चमक की
घोंसला बुनता बिजड़ा
दे दस्तक तेरे मेरे अधूरे स्वप्नों के दर पर
नाम तेरा रटते तोते की तरह
जब कभी खेलते हुए कबूतर-कबूतरी दिखाई दें
तो आ जाएँ याद इकट्ठे बिताये हुए क्षण
और मेरा मन करने लगे गुटर गूँ-गुटर गूँ
देख लो, स्वयं सृजे हुए चिड़िया घर में
भूलते हुए आदमियों की भाषा
कितना आ गया हूँ मैं तुम्हारे पास...अपने पास
भी!

**12 अलबर्ट रोड**
**मोहेन्द्रा हाऊस, अमृतसर (पंजाब)**
**मो. : 09915068901**

## केशव

## देहातीत

तुम्हें सुनकर
कुछ और सुनना
अनसुना करना है उसे
सृष्टि में अछूता है जो अभी

तुम्हें छूकर
छूना उसे
जो सिर्फ़ छिलका है
अभी हरा
अभी गुलाबी
देखते ही देखते पीत

झुर्रियाँ सच हैं
देह का
स्पर्श
देहातीत

हम दोनों
जीवित हैं स्पर्श में
देह में मृत।

## आना-जाना

तुम्हारा
आना है
जैसे ढोलक पर थाप
जैसे बात में बात

तुम्हारा जाना
जैसे साँझ के आले में रखा
दीया
जैसे सपने में रात
इस आने और जाने के बीच है
एक राग
जैसे नदी का कोमल सीत्कार
हर पल
जैसे पतंग
आसमान में।

*तितलियाँ*
जब तक रहतीं

शब्दों में
तितलियाँ
जीवन में रहते रंग
उदासी के टीले पर
रहती
रौनक
बहता सब कुछ
निर्द्वन्द्व
ढूँढनी नहीं पड़ती
किसी परिव्यक्त कोने में दुबकी
खुशी की खुरचन

जब-जब
शब्दों से निकलकर
तितलियाँ
चली जातीं परदेस
देस
सूना-सूना
आँगन में
पतझड़।

सैट न. 60, टाईप-IV,
कसुम्पटी, शिमला 171 009
मो. : 09418010088

कुमार रवीन्द्र

## आज सुबह ही

आज सुबह ही हमने
बच्चो!
गमले भरे नयी माटी से

उनमें रोपो नयी पौध तुम
ख़ुशबू वाले ही फूलों की
बात करो मत अब
जो हमने कीं
बच्चो, तुम उन भूलों की

हँसती हुई
धूप निकलेगी
फिर से केसर की घाटी से

अलग किसिम का
हर गमले का है इतिहास
उसे भी बाँचो
नये वक़्त के
साही के काँटे जो भी हैं
उनको जाँचो

चिपके मत रहना
तुम, बच्चो!
अन्धे युग की परिपाटी से

आँगन में जो धूप जरा-सी
आई छत से
उसे समेटो
गौरैया का जोड़ा जो है
सुनो, प्यार से उसको भेंटो

उन्हें नहीं दुत्कारो
जो हैं
तुमसे छोटे कद-काठी से!

## सुनो सुबह से

आमदरफ़्त शुरू हो जाती
इधर गली में
सुनो, सुबह से

पहले आता है ब्रेडवाला
उसके पीछे-पीछे सूरज
फिर रिक्शे पर लदे-फँदे
जाते हैं बच्चे
होता अचरज

दिन पड़ोस में होता है आरम्भ
कलह से

अभी निकलकर गयी इधर से
कई बकरियाँ
उनके पीछे
उन्हें हाँकती हुई लड़कियाँ

हँसा खाँसकर बूढ़ा कोई
बिला-वजह से

कई दूधवाले जाते हैं
इसी गली से होकर आगे
मोटरबाइक पर लड़के भी
दिन-भर ही फिरते हैं भागे

पड़ता है
नज़दीक मॉल भी इसी जगह से।

## जाने कौन गा रहा ठुमरी

बचा
सिर्फ़ कीचड़-ही-कीचड़
सुनो, हमारे कमल-ताल में

यक्ष कहीं है छिपकर बैठा
जिसने पानी सभी पिया
अम्मा ने था जिसे सिराया
पड़ा ताल में बुझा दिया

हुआ
बहुत कुछ उलटा-सीधा
सच में, साधो, गये साल में

ख़ुशबू केसरवन की खोयी
आसमान से
राख झरी
टूटी एक कठौती
जाने किसने
घर के बीच धरी

बची सगुन की
एक मछरिया
फँसी शाह के किसी जाल में

झरे हुए पत्ते-ही-पत्ते
बिछे हुए हैं चारों ओर
भीगी-भीगी रही सन्त की
कल-से-ही आँखों की कोर

जाने कौन
गा रहा ठुमरी
गये-बरस के ही ख़याल में!

क्षितिज 310 अर्बन एस्टेट-2
हिसार-125005
फोन : 01662-247347




# उदिता

## मधुर कपिला

**आज माँ की बरसी है।**

बरसी में मैं नहीं शामिल हो सकती।

अमन कहता है हम अपने तौर पर मना लेते हैं।

अमन बाज़ार गया है, कुछ सामान लेने, ताकि हम भी माँ की बरसी पर अपनी श्रद्धांजलि दे पाएँ। मैं उदास हूँ। यह कहने भर की बात नहीं है। बहुत कुछ है जो मुझे बरबस अपने में लपेट रहा है। वो दिन। वे बातें। माँ का रोष। मुझे घर से बेदख़ल करने का आदेश। और जाने क्या-क्या! मेरा घर से चले आना।

माँ की मौत। वह कब हमें छोड़ कर चली गयीं, मुझे इसका पता नहीं चला था। यों आज भी मुझे कहाँ पता चल सकता था इस बात का, यदि पिछले कल निधि, मेरी कुलीग जो माँ के पड़ोस में ही रहती है, ने नहीं बताया होता, कि उसके पड़ोस में रहने वाले श्री माथुर की पत्नी की बरसी है कल। उसमें उसे शामिल होना है। वह नहीं जानती कि माथुर ही मेरे पिता हैं। जानती भी तो क्या कर सकती थी, मैं उसमें शामिल तो नहीं हो सकती न।

किसे याद करूँ, किसे छोड़ दूँ?

इस वक़्त मैं अकेली हूँ और अपने अतीत में भटक रही हूँ।

उस दिन माँ बहुत उदास थी। उदासी का कारण और कोई नहीं मैं ही थी। लेकिन मैं चाहकर भी उसे इस बात का विश्वास नहीं दिला सकी थी कि उसने कोई गुनाह नहीं किया है। और न ही भगवान (यदि है तो) ने उसे कोई सज़ा ही दी है। लेकिन वह जिस मानसिकता में जी रही थी, उसमें मेरी सोच कहीं फिट नहीं बैठ रही थी। लेकिन यह भी सच है कि मेरी माँ आधुनिक, पढ़ी लिखी, ख़ूबसूरत, इंटेलीजेंट और कमाऊ औरत थीं। दो बच्चों को जन्म देने पर भी उसके शरीर पर चर्बी की कोई पर्त नहीं जमी थी। हो सकता है उसकी हमउम्र औरतें उससे इर्ष्या भी करती हों। कटे बाल, जींस, टॉप में वह किसी भी युवती के समकक्ष खड़ी हो सकती थी। उसे जागरूक प्रगतिवादी महिलाओं की कोटि में ही गिना जा सकता था। वह जिस मानसिकता में जी रही थी उसे मैं कतई आधुनिक नहीं कह सकती, उत्तर आधुनिकता की बात तो बहुत दूर की है, आधुनिकता को जो प्रगतिवाद दरकार है, माँ उस बात से कोसों दूर थी। यहीं पर मेरा उससे मतभेद था।

उस दिन मैं बहुत बहुत खुश था। चौंकिए नहीं तब मैं था ही था। क्योंकि पन्द्रह साल से जिस दोहरी मानसिकता में मैं जी रहा था/रही थी, उस दिन मैंने उस पर विजय पा ली थी। प्रत्येक व्यक्ति का एक अतीत होता है। अतीत जो कभी पीछा नहीं छोड़ता और न कभी अपना ही हो पाता है। लेकिन हर समय क़दम से क़दम मिलाता हुआ आपके साथ-साथ चलता रहता है। अक्सर ऐसा होता है कि क़दम आगे बढ़ना भूल जाते हैं और अतीत के कदमों पर चलने लगते हैं। मेरे क़दम भी आगे बढ़ने से इन्कार कर रहे हैं।

यह भी सच है कि अतीत सदा सुखकर नहीं होता। और जब सुखकर नहीं होता तब उसे झेल पाना क्या सहज×सी बात है? वक़्त बेवक़्त वह अपने दंश से आपको लुहूलुहान करने से भी नहीं चूकता। और चाहकर भी कम्प्यूटर में दर्ज किसी फाइल की तरह कोई उसे उड़ा नहीं सकता। या फिर किसी फाइल को सीडी में क़ैद कर उस सीडी को ही भूल जाएँ; ऐसा भी नहीं हो सकता। भूलने की कोई वजह भी हो। क्यों उसे भूल जाऊँ? उसका कोई अपराध भी हो जिसकी सज़ा उम्र क़ैद हो, जो उसे दे दी जाए। मेरे अतीत ने ऐसा कोई गुनाह नहीं किया, जिसकी सज़ा उसे दी जा सके या उसे भुला दिया जाए। लेकिन मैंने अतीत में पन्द्रह साल तक एक ऐसी सज़ा में काटे हैं जो न फाँसी थी और न ही उम्रक़ैद। वह थी पल पल मरने और जीने की सज़ा। मेरे बस में होता तो यह पन्द्रह साल अपने जीवन से उसी तरह उधेड़ देता जिस प्रकार बुने हुए स्वेटर की बुनाई पसन्द न आने पर उसे उधेड़ दिया जाता है। मैं पहाड़ नहीं था, जो टकराना जानता है। मैं तो नदी थी, जो केवल बहना जानती है। मेरे अन्दर 'था' और 'थी' इस प्रकार गड्डमड्ड थे कि मैं अपने आपको समझ नहीं पा रही थी कि मैं क्या हूँ। मैं क्या कहूँ अपने को? 'थी' या फिर 'था'? जहाँ मेरे अन्दर 'थी' घुलीमिली थी, वहीं मेरा आकार मुझे 'था' बनाता था। यों घटनाओं-दुर्घटनाओं की जमा पूँजी ही तो है यह जीवन! कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें बड़े यतन से दिल के किसी कोने में सहेजकर रख लिया जाता है, लेकिन कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें हम भूलना चाहते हैं लेकिन यह आपके ज़ेहन पर नक़्श की तरह खुदी रहती हैं। चाहने पर भी भूलती नहीं और समय-असमय दंश देते हुए अपने होने का एहसास जगाती रहती हैं और ताउम्र आपका साथ नहीं छोड़तीं।

बचपन को याद करूँ तो ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मैं सँजो कर रखना चाहूँ। सुना तो यह भी गया है कि जीवन का पहला पड़ाव ही सबसे ख़ूबसूरत, सुखद होता है। लेकिन मेरे साथ ऐसा नहीं है। यों मैं यह बात भी दावे के साथ नहीं कह सकता। जो बात किसी एक के लिए सुखकर हो सकती है, वही बात किसी दूसरे के लिए उतनी ही दुखदायी। सही और ग़लत की परिभाषा मैं नहीं दे सकता। एक समय मुझे जो सही लगता है, हो सकता है कुछ समय बाद वह ग़लत लगने लगे। इसीलिए मैं यह कहता हूँ कि मेरे अतीत ने ऐसा कोई गुनाह नहीं किया है जिसकी मैं उसे सज़ा दूँ। लेकिन यह भी सच है कि मेरे अपने लिए जो बात सही है वह दूसरों के लिए उतनी ही ग़लत साबित हो, जितनी मेरे लिए सही है। फिर इस बात का फ़ैसला कौन करे कि सही कौन है?

मैं अपनी बहन का लाडला भाई था। उसने मुझसे आठ साल पहले इस दुनिया को देखा था। ज़ाहिर-सी बात है उसका स्वागत उस तरह नहीं हुआ होगा, जैसे मेरा हुआ था। माँ-पिता के लिए मैं एक नायाब तोहफ़े से कम नहीं था। उनके कहने पर जाऊँ तो भगवान ने उन्हें दुनिया की सबसे अच्छी चीज़ बख़्शी थी, भले ही देर से ही सही। मेरे आने से उनकी फैमली को पूर्णता की पदवी से नवाज़ा गया था। अब जब अच्छी चीज़ है तो उसका स्वागत भी तो उसी आधार पर होना चाहिए। सो हुआ। मेरे सोलह संस्कार हुए थे। और हाँ, जनेऊ संस्कार को मैं कैसे भूल सकता हूँ और नामकरण संस्कार ने दिया था मुझे उदित नाम। सुना तो अपने बारे मे यह भी गया है कि मेरे सभी संस्कार इतनी धूमधाम से मनाये गये थे कि वह शादी का भ्रम पैदा करने के लिए काफ़ी थे। बहन यह कहते थकती नहीं थी। पिता शान से कहते मेरा बेटा कोई मामूली लड़का नहीं है। वह माथुर परिवार का वारिस है।

मैं बड़ा हो रहा था।

मेरे आसपास की दुनिया में घर के लोगों के अतिरिक्त अन्य लोग भी शामिल हो रहे थे। मैं घर से बाहर आ रहा था, इतना ही बस कि उसमें स्कूल शामिल था। बाक़ी सारा समय घर।

माँ मुझे क्रिकेट, फुटबॉल या फिर ऐसा ही कोई दूसरा गेम सिखाना चाहती थी। और पिता मुझे एक बड़ा अफ़सर बनाना चाहते थे। अभी मैं दसवीं में ही था कि मेरे लिए ऐसी मैगज़ीन्स आनी शुरू हो गयी थीं जिनका मेरे आनेवाले समय में बहुत लाभ होनेवाला था, यदि मैं सिविल सर्विस के लिए तैयारी करता।

लेकिन मुझे वह सब नापसन्द था। मैं नहीं चाहता था कि अभी से मेरे भविष्य के बारे में कोई दूसरा फ़ैसला ले।

लेकिन उतना ही यह भी सच है कि मैं नहीं जानता था कि मैं चाहता क्या हूँ। अपने बचपन के तेरह साल मैंने इसी बात को जानने में ही बिता दिये कि मुझे चाहिए क्या। लेकिन अपने बारे में दूसरों का सोचना भी मुझे गवारा नहीं था, भले ही वह पिता ही क्यों न हों।

शुरू के तेरह साल अपने को जानने में बिताये, तो अगले बीस बरस दोहरी मानसिकता में जिया।

दिल-दिमाग़ अलग-अलग दिशाओं में चलते रहे।

उसी दौरान मुझे मिला था अमन।

और फिर मेरी और अमन की दोस्ती गहरी होती गयी।

है न अजीब बात! जब मैं खुश था, तब घर भर में उदासी छायी हुई थी।

मेरी और अमन की दोस्ती किसी को क़बूल नहीं थी। पिता ने बोलना बन्द कर दिया था। उनके लिए मैं जैसे घर में कोई फ़ालतू सामान पड़ा रहता है उसी तरह था।

अब लोग मुझे कई विशेषणों से सुशोभित करने लगे, जो पीड़दायक थे।

उनके लिए मैं 'छक्का' था, 'गे' था। इसी तरह कुछ और भी।

मुझे और अमन को साथ-साथ रहने की इजाज़त नहीं थी।

कानून भी हमारे हक़ में नहीं था।

मैं परेशान था।

फिर मैंने अपनी इस परेशानी से निज़ात पाने का फ़ैसला किया।

इस फ़ैसले ने मुझे ताक़त दी।

माँ-बाप दोनों नाराज़ और उदास थे।

बहन अपने घर से मुझे नसीहतें दे रही थी।

लेकिन मुझे अपनी इस जकड़न से छुटकारा पाना था।

अमन का कहना था कि जीवन एक ही है उसे अपने ढंग से जीने का सभी को हक़ है।

फिर मैंने अपने दिल और दिमाग़ को एक ही धरातल पर लाने की कोशिश की। और आज से दो साल पहले मैंने 'था' और 'थी' के चक्र से निज़ात पा ली। और मैं उदित से उदिता हो गया। लेकिन माँ बाप दोनों यह सहन नहीं कर पाये।

माँ यह नहीं चाहती थी कि मैं शरीर से भी लड़की बन जाऊँ। वह इस भ्रम में भी जीना चाहती थी कि उसने परिवार को वारिस दिया है। उसे तब बुरा लगता था जब मैं बहन के कमरे में जाकर कभी होठों को रँग लेता या फिर साड़ी लपेट लेता। मुझे खाना बनाना अच्छा लगता। माँ झल्लाती और कहती तू क्यों लड़कियों की तरह है? लड़का है लड़कों की तरह रह। लेकिन उसकी लाख कोशिशों के बावजूद मैं वह सब नहीं कर पाता वह जो वह करवाना चाहती थी। मेरी कई आदतों से वह मुझसे ख़फ़ा रहती और अपने को और भगवान को कोसती रहती कि मैं उसके किस गुनाह की सज़ा हूँ!

मेरा लड़की बन जाना किसी को भी रास नहीं आया।

अजीब दुनिया है! जब मैं दोहरी मानसिकता में जी रहा था तब अपनी सोसाइटी में मुझे ले जाते उन्हें शर्म महसूस होती थी। बहन अपने दोस्तों से मेरा परिचय नहीं करवाती थी। शादी के बाद वह मुझसे कोई ताल्लुक नहीं रखना चाहती थी। और जब मैंने उस खोल को उतारकर फेंक दिया, जो मुझे जो हूँ उसे नहीं दिखाता था, तब भी सब को तक़लीफ़ हुई। माँ-बाप जिनकी आँखों का मैं तारा था उन्होंने ही अपने घर में रहने की मुझे इजाज़त नहीं दी।

मैं अपने घर से अलग हो गया।

अपने उस घर से जहाँ मैंने दोहरी मानसिकता में तैंतीस वर्ष गुज़ारे, आज मैं उनसे बहुत दूर हूँ। लेकिन अब माँ नहीं है।

मैं और अमन भरपूर ज़िन्दगी जी रहे हैं।

हमारी एक बच्ची है।

क्या हुआ जो मैंने उसे जन्म नहीं दिया। लेकिन अब उसे गोद लेने में कोई कानून आड़े नहीं आया। क्या उदित और अमन बच्ची गोद ले सकते थे?

**1860/सैक्टर 34 डी, चंडीगढ़-160022**
**फोन (0172) 4631548**

# एकलव्य के नए प्रकाशन

## पिप्पी, एमिल मार्दी और कार्लसन के मज़ेदार कारनामे




*यह संग्रह लिंडग्रेन की अलग-अलग किताबों से पिप्पी, एमिल, मार्दी और कार्लसन के मज़ेदार कारनामे प्रस्तुत करता है।*

स्वीडन की आस्ट्रिड लिंडग्रेन दुनिया भर के बच्चों की चहेती लेखिका है। बड़े भी उन्हें भरपूर रुचि से पढ़ते हैं। पिप्पी, एमिल और मार्दी उनके प्रसिद्ध चरित्र हैं जो बच्चों की इच्छाओं का जीता-जागता रूप हैं और हमें बच्चों के भीतर की दुनिया में ले जाते हैं।

मूल्य: 170.00 रुपए
पेपर बैक

## CHILDREN'S PERCEPTION OF SARKAR

A Critique of Civics Textbooks

How do children perceive the structures of the government? Is the information in civics textbooks adequate for them to understand the nature and functions of these structures? Are textbooks the only source of their knowledge of these? These are some of the questions the author pursues in this important book through his conversations with school children.




Price: Rs 70.00
Paperback

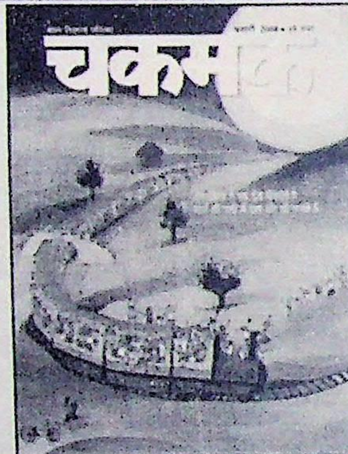
## एकलव्य के नियमित प्रकाशन




शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका

### संदर्भ

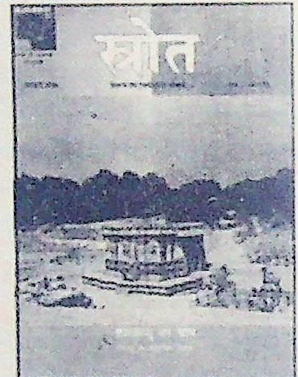
| सदस्यता | शुल्क |
|---|---|
| **एक साल** | |
| व्यक्तिगत/स्कूल | 100.00 |
| संस्थागत | 200.00 |
| **दो साल** | |
| व्यक्तिगत/स्कूल | 180.00 |
| संस्थागत | 400.00 |
| **तीन साल** | |
| व्यक्तिगत/स्कूल | 270.00 |
| संस्थागत | 600.00 |




चकमक मासिक बाल विज्ञान पत्रिका

### चकमक

| सदस्यता | शुल्क | सदस्यता | शुल्क |
|---|---|---|---|
| एक प्रति | 15.00 | तीन साल | 400.00 |
| एक साल | 150.00 | आजीवन | 1500.00 |
| दो साल | 275.00 | | |




विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स

### स्रोत

| सदस्यता | शुल्क |
|---|---|
| एक प्रति | 15.00 |
| एक साल | 150.00 |
| दो साल | 275.00 |
| तीन साल | 400.00 |

*डाक आदेश/ प्रकाशन सूची के लिए लिखें -*

**पिटारा** बाल साहित्य एवं गतिविधि केंद्र

एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल-462 016 म.प्र.
फोन: (0755) 2550976, 2671017, 6549093 ई-मेल-pitara@eklavya.in www.eklavya.in

राशि एकलव्य, भोपाल के नाम बैंक ड्राफ्ट से भेजें। एजेन्सी के लिए पिटारा भोपाल से सम्पर्क करें। डाक खर्च मुफ्त।

इन्दौर, कानपुर, दुर्ग, उदयपुर, सूरत और फैज़ाबाद में - शीघ्र ही पटना एवं देश के अन्य शहरों में भी...

# पतझड़ इधर उधर

## राजेन्द्र राजन

**दिल्ली से चंडीगढ़ आई.एस.**बी.टी. में वे ठीक वक़्त पर पहुँच गये थे। रात नौ बजे। तोषी से उनका सम्पर्क सात बजे हुआ था। तब वे करनाल और अम्बाला के बीच किसी जगह पर थे। 'पापा आप बस स्टैंड पहुँचो। वहीं मिलूँगा।'

बस अड्डे पर सवारियों की ज़्यादा भीड़ नहीं थी। रात के वक़्त यूँ तो यह बस अड्डा जीवन्त रहता है। दिन के वनिस्बत ज़ाहिरा तौर पर यात्रियों की आमदोरफ्त कम हो जाती है। वायदे के मुताबिक तोषी को बस स्टैंड पर न पाकर उनका तनावग्रस्त होना लाज़मी था। 'अज़ीब शख़्स है। कहाँ रह गया? तोषी के मोबाइल पर वे बार-बार सम्पर्क करने का प्रयास कर रहे थे। रिंग के बावजूद दूसरी तरफ़ से कोई रिस्पान्स नहीं। इस बीच कन्धे पर एयर बैग लटकाये वे बस अड्डे के दो चक्कर लगा आये थे। बेमतलब से। दिल्ली से चंडीगढ़ के पाँच घंटे के उस ऊबाऊ सफ़र में वे पूरी तरह पस्त हो चुके थे। उस पर बरखुर्दार का नदारद होना उनकी सहनशीलता को चुनौती दे रहा था। बेहतर होता गर उस मरदूद से उनका सम्पर्क न हुआ होता। सीधी बस लेकर घर पहुँच जाते।'

घोर निराशा, असमंजस के आलम में सीमेंट के काले बेंच पर एक कोना तलाशकर बैठ गये। सोचा, क्यों न चाय पी जाए। हो सकता है तोषी पापा की तलाश में पहुँच ही जाए। उन्होंने टीबैग चाय का डिस्पोज़ेबल कप लिया और पुन: बेंच पर बैठ गये। बोरियत और कैफ़ियत को कुछ हद तक कम करने की वह नाकाम-सी कोशिश थी। इस दरम्यान वे कई दफ़ा बेटे के मोबाइल ट्राई कर चुके थे।

क्या वजह हो सकती है। तोषी स्कूटर लेकर आने वाला था। कहीं कोई... अपशकुन... की आशंका ने उन्हें कुछ क्षणों के लिए जकड़ लिया। लगा वे जड़वत-से होते जा रहे हैं। पत्नी को फोन मिलाया। रूआँसा स्वर में उससे सूरते हाल सांझा किया। 'हो सकता है कि गलती से उसने मोबाइल साइलेंट मोड पर रख दिया हो।' पत्नी ने ढाँढस बाँधने का यत्न किया।

''अजीब बात कर रही हो तुम। वो तो मुझे यहाँ लेने आने वाला था। उसके घर का पता भी मुझे मालूम नहीं है। किसी डायरी में लिखा था। हाँ, याद आया, नीली डायरी। स्टडी में होगी। मेज़ पर। देखो, ढूँढो शायद मिल जाए!''

क्या ज़रूरत है? कोई बस पकड़कर घर पहुँच जाओ। रात के ग्यारह बज रहे हैं। मोहाली में भी तो कई सैक्टर हैं। न जाने कहाँ रहता होगा?

''अरे भई उसके न पहुँचने के पीछे क्या वजह हो सकती है? इसकी मालूमात ज़रूरी है। मैं तो किसी अनहोनी की आशंका से परेशान हूँ। हौल उठ रहे हैं दिल में।'' उन्होंने पत्नी को तनावग्रस्त कर दिया। वह भी रात भर फिकर में घुलती रहेगी।

जैसा ठीक समझो, करो। तुमने तो मुझे भी डिस्टर्ब कर दिया। अब रात भर नींद नहीं आएगी। बीवी ने फोन पटक दिया। सोने की चिन्ता है बस। वे यहाँ बस स्टैंड में गर्मी, उमस को बर्दाश्त कर पसीना-पसीना हुए जा रहे हैं। नाइट बसों में अपने-अपने गन्तव्य पर पहुँचने वाले यात्रियों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। लगता है रात बेंच पर ही बैठे-बैठे गुज़ारनी पड़ेगी। उन्हें नींद की झपकी आने लगी, तो बेंच पर बैठी एक अधेड़ महिला के कन्धे पर उनका सिर लुढ़क गया। महिला सकपका गयी। यकीनन उसे अटपटा लगा होगा। आख़िर ये बुढ़ऊ क्यों लुढ़का जा रहा है उस पर। ''भाई साहब। ठीक से बैठिए।''

''ओह! मुआफ कीजिएगा। नींद आ गयी थी।'' महिला के प्रति वे याचनाभाव से देखने लगे। इसी बीच मोबाइल घनघना उठा। तोषी का होगा। उनके चेहरे पर उम्मीद, उत्सुकता के मिश्रित भाव उभरे। स्क्रीन पर फोन नम्बर देखकर उत्साह की वह क्षीण सी किरण बुझ सी गयी। 'लिखो पता।' पत्नी का स्वर था। जेब से पेन निकाला और तुड़ी-मुड़ी मुरझाए-से अख़बार के किनारे पर मोहाली में बेटे के घर का पता नोट करने लगे। क्या करूँ? पौने बारह बज रहे हैं। यह उसकी ड्यूटी का वक़्त होता है। ख़ुदा जाने। घर मिलेगा या नहीं!

'अज़ीब हो तुम। कोई तो होगा वहाँ। ऑटो लेकर जाओ। जान सांसत में अटकी रहेगी। घर पहुँच कर उसकी कुशलक्षेम तो पता चलेगी। वरना मैं यहाँ और तुम बस अड्डे पर बैठे-बैठे चिन्ता में सूखते रहोगे।'

ठीक ही तो कह रही है पत्नी। उसका मशवरा मान लेना चाहिए। क्या है माँ-बाप के प्रति औलाद का फ़र्ज़? शिट! कोई संवेदना नहीं। आत्मा मर चुकी है इस पीढ़ी की। साले को पालपोस कर बड़ा किया। बाप के प्रति कतई लापरवाह। वे गर्मी में रात भर सड़ते रहें बेंच पर उसकी प्रतीक्षा में। यही उनकी नियति है? फिर उनकी ही क्यों देश के लाखों-करोड़ों बुज़ुर्गों के यही हालात हैं। लावारिसों के मानिन्द वे हर पल मरते रहते हैं। भीतर ही भीतर। मौन हाहाकार के समन्दर को दिल में समेटे।

इस बीच दो चक्कर हिमाचल रोडवेज़ इन्क्वायरी के काट आये थे। एडवान्स बुकिंग सायँ छह बजे तक थी। दिल्ली व अन्य स्थानों से चंडीगढ़ से होकर धर्मशाला जाने वाली बसों की समय-सारणी की पूछताछ कर चुके थे।

उन्हें बताया गया था कि टूरिस्ट सीजन में डीलक्स भी अमूमन भरकर आती है। भीड़-भड़ाके में सीट मिलना मुश्किल है। ऐसे में, क्या वे सवारियों की भीड़ से भिड़ पाएँगे?

बेंच पर बैठे-बैठे उनकी रीढ़ में मिर्गी-सी भरने लगी थी।

गर्म हवा के थपेड़ों से हिम्मत टूटने लगी थी। जीवटता की संघर्ष गाथा में बेटे के प्रति वह मोहभंग का मंज़र था। तोषी का यूँ उन्हें लाचार छोड़ देना उन्हें अपनी गरिमा की ठेस लगा।

पाँच दशक पुराना वह बस स्टैंड उन मुश्किल क्षणों में उन्हें सुलगते चूल्हे-सा लगा। बसों की आवाजाही ने आई.एस.बी.टी. के समूचे परिसर को गाढ़े धूप की गिरफ़्त में ले लिया था। फिज़ाँ में तारी धूप, धूल के कण किरचें बन उनकी आँखों में शूल-सा चुभ रही थी। ताउम्र जिजीविषा के संघर्ष से वे जूझते रहे थे। मगर ऐसी असहाय-सी स्थिति में उन्होंने खुद को, शायद पहली दफ़ा, घिरा हुआ पाया था।

किसी तरह उन्होंने खुद को मानसिक रूप से तैयार किया और ऑटो रिक्शा लेकर निकल पड़े, चंडीगढ़ की सुनसान सड़कों पर। नये किस्म के भय ने उन्हें जकड़ लिया था। कहीं ऑटोवाला रामपुरिया निकालकर उन्हें लूट ही न ले। यूँ भी तो वे अशक्त ही हैं।

'बेटा, ठीक जगह पहुँचा देना। रात का वक़्त है मकान ढूँढने में मुझे दिक्कत होगी।' आश्वस्त होने के लिए ऑटोवाले को बातों में लगाए रखना उन्हें उचित जान पड़ा। 'अंकल जी तुसी फिकर न करो। तुहाड्डे ठिकाणे पहुँचाना मेरी ड्यूटी है।'

ठिकाणे पहुँचाना। क्या कह रहा है ये ऑटो वाला? उनका डर और ज़्यादा गहरा गया। ठिकाणे का क्या अर्थ हो सकता है? द्विअर्थी जवाब। इसका इरादा कहीं लूटपाट का तो नहीं। उनका व्यक्तित्व पहनावा व बातचीत सम्पन्नता के सूचक थे। सवारी के पैसे पर ऑटोवालों की निगाह रहती है। मौक़ा मिला नहीं कि दबोच लिया नि:सहाय सवारी को। उनकी काहिली आटोरिक्शा के लिए परेशानी का सबब बनती जा रही थी। 'अंकल जी फेज़ फाइव बहुत दूर है। बेरका चौक के पास।'

आधा घंटे की मशक्कत के बाद वे पत्नी के नोट कराये पते पर पहुँच गये थे। मगर मकान सही है या नहीं उसकी पुष्टि बाकी थी।

'बेटा तू इक मिनट वास्ते रुक। पता करके आता हूँ।'

'नौ सौ पचासी। यही है, अंकल जी। फिर भी तूसी चेक कर लेओ।' प्रथम तल पर पहुँचकर उन्होंने कालबेल पर उँगली दबाई। एक लड़का प्रकट हुआ।

''तोषी यहीं रहता है क्या?''

''हूँ, आप कौन?''

मैं उसका डैडी। बुझे से स्वर में बमुश्किल उनके मुँह से निकला।

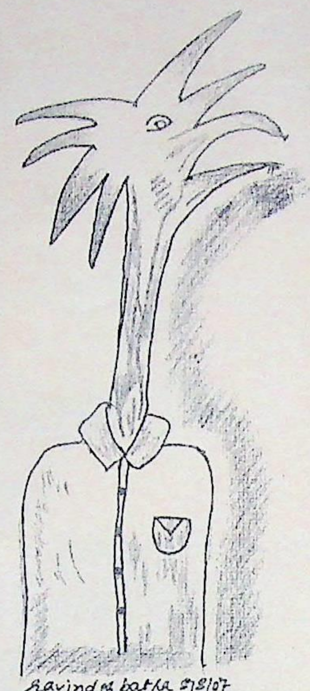
''ओह अंकल आप। आइए आइए। तोषी घर पर ही है। ठीक है मैं ऑटोवाले को पैसे देकर आता हूँ।''

तो घर पर ही है, उनका लाड़ला। मन हुआ, मिलते ही झापड़ रसीद कर दे उस मरदूद पर।

सवा बारह। वे बुत की तरह दहलीज पर खड़े रहे।

'तोषी उठ यार। तेरे डैडी आए हैं।'

उन्हें लगा तोषी का दोस्त किसी अधमरे व्यक्ति को जबरन उठने के लिए कह रहा हो। कहीं वह ड्रग एडिक्ट तो नहीं है? ड्रग्स की लत तो आम है। क्या तोषी भी... नहीं नहीं ऐसा नहीं हो सकता। ड्रग्स लेने वाला व्यक्ति कॉल सेंटर की नौकरी नहीं कर सकता। यह जॉब तो हर वक़्त सतर्क, मुस्तैद रहने वाला आदमी ही कर सकता है। कम्प्यूटर पर आँख गड़ाये। कानों पर चिपका इयर फोन। प्रत्येक नये कॉलर की आवाज़ की प्रतीक्षा में। वे ख़्वामख़्वाह तोषी पर शक कर रहे हैं। दो बड़े कमरे। फर्श पर मारबल। छतों पर प्लास्टर ऑफ पेरिस के डिजाइन। दीवारों पर हल्का पीला कम्प्यूटर मिश्रित रंग। अलमारियों में उत्तम दर्जे का वुडवर्क। किन्तु दोनों कमरे में साजो-सामान के नाम पर कुछ था तो फ़र्श पर पतली-सी तलाइयाँ बिछी हुई। उन पर पुरानी मैली व पतली चादरें। पतले तकिए का गिलाफ तो महीनों से न धोया हो। कहीं कोई एक अदद कुर्सी तक नहीं। बेड नहीं। तिपाई तक नहीं। एक कमरे के छत्त पर छोटा-सा कॉफी रंग का पंखा। बेपनाह गर्मी से लड़ने-भिड़ने में नाकाम। दूसरे कमरे में बिछी तलाई के करीब एक मिनी टेबुल फैन।




''अंकल बैठिए।'' तोषी के रूममेट ने उन्हें तलाई पर बैठने का आग्रह किया। बेहतर होता वे आटोवाले को रोक लेते। तोषी की कुशलता पूछ लौट जाते। उस फ़र्श पर वे कैसे सोएँगे? रात भर कलपते रहेंगे। अब वे विकल्पहीन थे। बस अड्डे तक लौट पाना नामुमकिन।

बैग कन्धे से उतारकर उन्होंने कमरे के एक कोने में रख दिया। बूट उतारकर बैग के करीब टिका दिये। फिर दीवार पर पीठ की टेक लगाकर तलाई के एक कोने में बैठ गये।

ओह गॉड! हॉरिबल!

''अंकल पानी।'' तोषी का रूममेट उन्हें गिलास पकड़ा गया। ''अंकल चाय लेंगे?''

''नहीं।''

उन्हें लगा वे किसी गलत जगह पर आ गये हैं। इस कमरे में और बस स्टैंड की उस सीमेन्ट की बेंच में क्या फ़र्क है? फिर उन्हें लगा कि वे किसी रेलवे प्लेटफॉर्म पर हों। ठीक उसी प्रकार जैसे ट्रेन की प्रतीक्षा में यात्री बेंचों पर जगह न पाकर अपने शरीर को कभी किसी बिजली के खम्भे, टी स्टॉल की दीवार या फिर पार्सल की बोरियों या डिब्बों से टिका लते हैं।

उनींदा रहने के कारण वे बेहाल हुए जा रहे थे। कभी भी लुढ़क सकते हैं। शरीर से रक्त निचोड़ लिया है मानो। पैर पर हल्का-सा स्पर्श

पाकर उनकी तन्द्रा भंग हुई। सामने तोषी था। आँखों में लाल डोरे लिये हुए।

''पापा। आय एम सॉरी। दिन में दो बजे तक ओवरटाइम किया था। आपको फोन करने के बाद नींद आ गयी। ना तो फोन सुन सका, ना ही बस स्टैंड पहुँच पाया। आइ एम एक्सट्रीमली सॉरी।''

आक्रोश का जलजला दबाए हुए थे वे भीतर। लावा फूट पड़ने के लिए खदबदा रहा था। बेरहम, बेहया, एहसान फ़रामोश। कितनी ही लानतें भेज दीं उन्होंने तोषी के लिए। बाप के प्रति इस कदर बेरुखी, बेअदबी और बेकद्री। सबक सिखाकर रहूँगा साले को। उत्तर आधुनिकता में पली पीढ़ी ने मनुष्य से कितना कुछ छीन लिया है। प्यार, सहजता, संवेदना। बुजुर्गों के प्रति घोर असम्पृक्तता का भाव।

अगर वे नींद के आगोश में दीवार से न सटे होते तो शायद तोषी की कॉलर खींचकर उसका हुलिया बिगाड़ चुके होते।

नहा धोकर तोषी उनके सामने था।

''पापा मैं जा रहा हूँ। मैक्सी कैब आ गयी है। मैं ड्यूटी पर जा रहा हूँ। रात एक बजे की शिफ़्ट है। सुबह दस बजे आऊँगा। आप आराम से सो जाएँ।''

तुषार चला गया। उसे यह पूछने का वक़्त नहीं था कि उन्होंने कुछ खाया है या भूखे हैं। कैसी औलाद है? उसके इन्तज़ार में घण्टों बस अड्डे पर सूखते रहे थे। एक अदद चाय के सिवा कुछ भी तो नहीं खा पाये थे। भूख से पेट में बुलबुलाहट हो रही थी। भूखे पेट तो नींद भी नहीं आएगी।

तोषी का रूममेट चाय व बिस्कुट रख गया था।

''बेटा, तोषी क्या भूखे ही चला गया ड्यूटी पर?''

''नहीं अंकल। उसने आठ बजे खा लिया था। दाल-चावल बनाये थे हमने। सुबह काल सेन्टर की कैन्टीन में नाश्ता कर लेगा। आपने शायद कुछ खाया नहीं। बना दूँ कुछ। चावल प्लॉ।''

''नहीं, वो मैंने बस स्टैंड पर ही खा लिया था। तुम आराम करो। मैं भी सो रहा हूँ। थकान से बुरा हाल है।'' कितनी सफाई से झूठ को सच में बदल दिया था उन्होंने।

''ओके अंकल। गुड नाइट!''

''गुड नाइट बेटे!''

कॉल सेन्टर की नौकरी ने तुषार को निचोड़ लिया है। ऑड वर्किंग हावरज़। कम्प्यूटर स्क्रीन पर टिकी आँखें। हिलना-डुलना भी मुश्किल। कानों में दर्द की शिकायत। याद है, दो माह पूर्व एक कान में परफोरेशन की शिकायत लेकर आया था। हफ्तों अस्पताल में ई.एन.टी. के चक्कर काट-काटकर परेशान हो गये थे वे। छह महीने बाद भरा था ज़ख़्म। इस जॉब का बुरा असर पहले कानों पर ही होता है। सर्वेक्षण बताते हैं कि श्रवण ग्रन्थि सर्वाधिक प्रभावित होती है। कितनी दफ़ा समझा चुके हैं, 'बेटा छोड़ दे ये नौकरी। तेरी शक्ल देखकर लगता है, कई सालों से बीमार हो। सेहत गिर रही है। ना दिन का पता है न रात का। सोशल लाइफ़ तो शून्य। खाने, सोने, उठने या फिर किसी भी स्वाभाविक क्रिया का कोई वक़्त नहीं। हर वक़्त अव्यवस्थित।'

माँ-बाप की नसीहतें बेअसर रहतीं। हल्की-सी मुस्कान बिखेरकर सब कुछ सम्प्रेषित कर जाता तुषार।

कभी-कभी वीक एंड में घर आता है। महीने दो महीने में। सुबह सबेरे रात की बस से पहुँचता। दो दिन सोते रहने के बाद लौटने की व्यग्रता। बस के आठ घंटे के सफ़र के बाद वक़्त पर पहुँचने का तनाव। मैक्सी कैब से पहले पहुँचना ज़रूरी है। क्या करूँ पापा। रात एक बजे ड्यूटी शुरू होती है। बारह बजे तक चंडीगढ़ पहुँचना ज़रूरी है। पिकअप वैन छूट गयी तो गड़बड़ हो जाएगी। पूर्व अनुमति के बग़ैर अवकाश ग्रहण करना कॉल सेंटर की व्यवस्था में व्यवधान पैदा करता है। फ्लोर मैनेजर का चिड़चिड़ापन। व्यवहार में कटुता। उसकी नश्तरनुमा निगाहें उसे भीतर गहरे तक बेध जाती हैं। अक्सर अवसाद के क्षणों में वह टूटने लगता है। ख़ुद से उलझने लगता है। नौकरी छोड़कर दूर कहीं भाग जाने का विचार दिलो-दिमाग पर हावी होने लगता है। कॉल सेंटर की कितनी ही नौकरियाँ छोड़ चुका इन आठ सालों में।

काफ़ी देर तक वह उस बोसीदा, दुर्गन्ध से लबरेज़ तलाई पर लेटे लेटे पंखे को निहारते रहे। पंखा अपनी ताकत खो चुका था। उस सूने कमरे में केवल पंखा था जिसे देखते रहना उनकी मजबूरी थी। उनकी नज़र सीधे पंखे पर थी। नीचे आ पाती तो आँखें बन्द कर लेते। तय था कि आज की रात तो आँखों में ही कटेगी। उनके भीतर सूनापन उन चरागाहों की मानिन्द बिछता जा रहा था जो शिशिर में अपनी हरियाली गँवा बैठती है। क्या सचमुच वे पतझड़ की दहलीज़ पर हैं?

रात भर जठराग्नि से जूझने की वजह से वे प्रातः जागते ही खुद को असामान्य-सा महसूस करने लगे। तप्त शरीर। बुखार। पैरासिटामोल टेबलेट लेनी होगी।

चाय की तलब सताने लगी। तोषी तो दस बजे लौटेगा। रसोई में उलट-पलटकर देखा। दूध नहीं था। चीनी-पत्ती का भी कोई अता पता नहीं। सोचा कालोनी में किसी चाय वाले की तलाश की जाए। दूर-दूर तक कोई चायवाला नहीं। ढाबा तो मार्केट में होगा। चाय की तलाश में मकानों की भूलभुलैया में न खो जाएँ। दो फलांग तक भटकने के उपरान्त पुनः लौट आये।

सवा दस बजे तोषी लौटा। रात बारह बजे सज-धजकर अपटूडेट होकर गया था। विदेशी सेंट का छिड़काव किया था। सुबह लौटा तो लस्त-पस्त। चेहरे पर मुर्दनी। आँखों में लाल डोरे। रक्तदान कर लौटा हो जैसे। हाथ में दूध, ब्रैड, मक्खन, अंडे का पॉलीथीन।

'नहा लिये क्या? ब्रेकफास्ट बनाऊँ क्या?'

'बेटा ये नौकरी तेरी सेहत को तबाह कर रही है। वाई डोंट यू अंडरस्टैंड?'

फिर वही अधखिली मुस्कान। भीतर दबे दर्द को शिद्दत से बयाँ करती।

ब्रेकफास्ट से तृप्त हुए। वे चाहते थे कि तोषी अपना मन खोले। उसकी चुप्पी उन्हें अखर रही थी। अन्तर्मुखी होने का यह अर्थ तो नहीं कि संवाद की तिलांजलि दे डालो। क्या कॉल सेंटर की वह जानलेवा-सी नौकरी ही उसका स्थायी कैरियर है? कहीं और कोशिश क्यों नहीं करता? दर्जनों बार वे उससे सिर खपा चुके हैं। कोई मनचाहा प्रोफेशनल कोर्स ज्वाइन कर ले। उनके परामर्श को वह हमेशा ही ठुकराता आया है। कैरियर को लेकर तोषी उन्हें कभी भी गम्भीर नहीं लगा। घर, माँ-बाप के प्रति उसका अवज्ञा भाव उन्हें सालों से विचलित करता रहा है।

वी.के. भटनागर। यही नाम था उनका। कोई भी सूत्र उनके हाथ नहीं आ रहा था।

एक खास मकसद उन्हें नौनिहाल के पास खींच लाया था। उन्हें यकीन था तोषी को कॉल सेन्टर की नौकरी से इस्तीफा देने के लिए राज़ी कर लेंगे। भिड़ जाएँगे। डट जाएँगे। पर यह महज उनका भ्रम था। वह किसी भी कीमत पर अपने पैरों पर खड़े रहना चाहता है। बाप के टुकड़े पर पलना उसे कतई गँवारा नहीं। नतीजन, तोषी उन्हें संवाद का कोई भी सिरा पकड़ने का मौक़ा नहीं दे रहा था। कॉल सेंटर की नौकरी। उफ़! अन्तहीन जद्दोज़हद। कशमकश। कैरियर और हैल्थ के मध्य एक मौन जंग। शरीर की किसे सुध। जब तक चुस्त-दुरुस्त है, इस्तेमाल करते जाओ। व्यक्ति हाड़-माँस का पुतला न होकर जैसे एक प्रॉडक्ट में तब्दील हो चुका हो। उपभोक्ता संस्कृति ने युवा खिलखिलाते लड़के-लड़कियों को उत्पाद में बदल दिया। मल्टीनेशनल कम्पनियाँ उनकी मेधा का भरपूर दोहन कर रही हैं। तुषार भी तो उसी संघर्ष और व्यवस्था के भयावह दौर का एक पात्र है। आदमी है या रोबोट! कम्प्यूटर की नित नयी तकनीक ने मनुष्य के नैसर्गिक क्रियाकलापों, सूक्ष्म ध्वनियों, सिंफनियों को समाप्त कर उसकी मेधा को अपने हाथ में ले लिया है। शायद वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य का हर काम रोबोट करेगा। मनुष्य तब सचमुच निहत्था होकर रह जाएगा।

वी.के. भटनागर यह बात अच्छी तरह समझ चुके थे कि उनका लाडला उन्हें एलयूड कर रहा है। उनके बीच वार्तालाप के छोटे-छोटे टुकड़े थे। वास्तविक रूप में मौन का नुकीला-सा टुकड़ा उनके व तुषार के बीच चुपके से पसर गया था। उस नीमख़ामोशी ने उन्हें बेचैन-सा कर दिया था। तोषी और उनके मध्य निस्तब्धता की एक ऐसी स्याह सुरंग है जिसके कोनों पर कोहरे की परतें जम चुकी हैं। आखिर कोहरा कब छँटेगा। इसी उधेड़बुन में उनकी मनोदशा उत्तरोतर बिगड़ती जा रही थी।

वे दिन भर चंडीगढ़ की सड़कों की खाक छानते रहे। कुछ दोस्तों से मिले। पुरानी यादें ताज़ा की। सेक्टर सत्रह की मार्केट में घूमे। सोचा, तोषी के लिए कुछ ख़रीद लें। तोषी का कमरा भी तो उसी की तरह ख़ामोश है। न टी.वी. सेट न ही रेडियो-टेपरिकॉर्डर। कुछ दुकानों के चक्कर लगाने के बाद उन्हें एक छोटा-सा थ्री इन वन पसन्द आया। एफ.एम., टेपरिकॉर्डर और ऑडियो सीडी प्लेयर। यूँ भी तोषी अच्छे संगीत का शौकीन है।

सोच रहे थे, तुषार वह उपहार पाकर खुश होगा। उनका शुक्रिया अदा करेगा। मगर उसके खुश्क मिज़ाज रवइये ने उन्हें निराश किया।

"थ्री इन वन है। तू तो संगीत का शौकीन है!"

"वह तो ठीक है बट ....!"

"पसन्द न हो तो कोई बात नहीं। रखे रख यहाँ। अगली बार आऊँगा तो ले जाऊँगा।"

किसी तरह वे गुस्से को ज़ब्त कर गये। उनका दिल तो कह रहा था कि उस डिब्बे को उठाकर सड़क पर पटक दें। नालायक। बाप की भावनाओं की कोई कद्र नहीं।

"खाना तो खाओगे न...!" तोषी ने सहज भाव से पूछा किन्तु उन्हें उसकी टोन चुभी। "बाहर खा लूँगा।"

"नहीं, वो बात नहीं। हम बना रहे हैं। नहा धोकर फ्रैश हो लें। डिनर के बाद स्कूटर पर छोड़ दूँगा बस स्टैंड!"

"ठीक है।" वे पुन: फर्श पर बैठ गये। दीवार के सहारे पीठ टिकाकर। वक़्त कटे तो कैसे?

"क्या खाओगे?"

"कुछ भी। जो तुम खाओगे।"

"रात को हम एक ही चीज़ बनाते हैं। मोस्टली दाल-चावल। दही ले आता हूँ मार्केट से।"

"मार्केट जा रहा है तो शिमला मिर्च ले आना। आलू-शिमला मिर्च बना ले। एक दाल बना लेना मुंगी की। मगर अपनी सहूलियत देख लो। अरे हाँ, तेरे लिए आम लाया था। फ्रिज़ में रखे हैं और हाँ, ये ले पैसे। एक बीयर ले आना।"

"रहने दो। मैं ले आऊँगा।"

वे नहा-धोकर फ्रैश हुए और तोषी के ज़ल्द लौटने की प्रतीक्षा करने लगे। वक़्त कटे तो कैसे? अख़बार उलटने-पलटने लगे। सम्पादकीय पृष्ठ पर छपे एक लेख पर उनकी निगाह टिक गयी। लेख बीपीओज़ के कुप्रभावों को केन्द्र में रखकर लिखा गया था।

'अरे वाह! गजब का लेख है।' खुद से ही बतियाने लगे वे। 'तोषी को पढ़ाता हूँ इसे। शायद कुछ असर हो।' पर पहले खुद तो पढ़ लें। वे यह सोचकर आश्वस्त हुए कि तोषी की नौकरी को लेकर उनकी चिन्ता आधारहीन नहीं थी। वह भी तो उसी व्यवस्था का शिकार हो रहा था, जिसमें लाखों लड़के-लड़कियाँ गुलामी के माहौल में साँस लेने के लिए अभिशप्त थे।

लेख में कॉल सेंटर्स में काम करने वाले युवा लड़के-लड़कियों के विषय में एक सर्वेक्षण के आधार पर टिप्पणी की गयी थी। सर्वेक्षण एसोशिएटेड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री ऑव इंडिया ने किया था। रिपोर्ट को वे एकाग्र होकर पढ़ने लगे। ज्यों-ज्यों वे लेख की पंक्तियों से गुज़रते गये, उनका तनाव बढ़ने लगा। कॉल सेंटर्स में काम करने वाले लड़के-लड़कियों का स्वास्थ्य गिर रहा है। उनमें सिरदर्द, अपच, अनिद्रा की शिकायतें आम हैं। उच्च रक्तचाप, तनाव सामान्य रोग हैं। ऐसे संस्थानों की थकाऊ व उबाऊ रात्रि सेवाएँ बीमारियों का पिटारा लेकर आयी हैं। ऑउट सोर्सिंग करने वाली कम्पनियों ने युवावस्था की महक से लबरेज़ लड़के-लड़कियों का सुख-चैन छीन लिया है। वे अपने परिवार से भावनात्मक दूरी महसूस कर रहे हैं।

रिपोर्ट के एक-एक शब्द को वे तन्मयता से पढ़ते जा रहे थे। मानो उन्हें उस विषय पर कोई प्रस्ताव लिखना हो, या फिर अभिभाषण तैयार करना हो। रिपोर्ट में बताया गया था कि कॉल सेंटर्स में काम करने वाले 30 प्रतिशत व्यक्तियों की पीठ में दर्द रहता है। यही नहीं 37.5 प्रतिशत महिलाओं में तनाव के लक्षण पाये गये। 45 प्रतिशत महिलाएँ थकान से पीड़ित रहती हैं तो 45 प्रतिशत साँस लेने की तकलीफ़ से पीड़ित रहती हैं। सोने और जागने की स्वाभाविक प्रक्रिया में व्यवधान पड़ता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि कॉल सेंटर्स की सेवाएँ प्रकृति के विरुद्ध हैं। यानी रात को जागो और दिन में आराम करो। सर्वे के मुताबिक, रात भर जागने के कारण दिन के वक़्त शरीर में हारमोन्स और रसायनों का उत्सर्जन होता है। किन्तु रात के वक़्त ये अंग स्वाभाविक उत्सर्जन नहीं कर पाते। कारण, वे आराम की मुद्रा में आ जाते हैं। ज़ाहिर है, ऐसे में हारमोन्स और रसायनों का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

वी.के. भटनागर को लगा सर्वेक्षण रिपोर्ट में तोषी का चेहरा घुलमिल-सा गया है। तोषी कितने ही सालों से कॉल सेंटर्स की खाक छान रहा है। चंडीगढ़, मोहाली, नोएडा, मुम्बई से

लेकर बंगलौर तक की यात्राएँ कर चुका है। महीना, दो महीने, छः महीने, ज़्यादा से ज़्यादा एक साल। कुछ हफ़्तों में उसका शरीर जवाब देने लगता है। जब इन्तिहा हो जाती है तो नौकरी से त्यागपत्र। पुनः नयी नौकरी की तलाश के वास्ते दिन-रात साइबर कैफे में नेट लॉगिंग। प्लेसमेंट एजेंसियों के दफ़्तरों के अन्तहीन चक्कर। नये नियुक्ति पत्र। नयी जगहों पर ज्वाइन करने एडजस्ट करने, आवास व खानपान की समस्या से जूझने का जुनून।

तोषी संगमरमर के फ़र्श पर गिलास और बीयर की बोतल रख गया।

''बेटा सुनो। वक़्त मिले तो यह रिपोर्ट ज़रूर पढ़ना। इट्स एन आई ओपनर!''

''किस बारे में है?''

''पढ़ लेना। पता चल जाएगा खुद-ब-खुद।''

तोषी ने रिपोर्ट के शीर्षक पर सरसरी नज़र फेंकी। ''पापा ये सब छपता रहता है। नो बडी टेक्स सच रिपोर्ट्स सीरियसली?''

''हैल्थ इज़ इम्पोर्टेंट ऑर जॉब?''

''जॉब। हू केयर्स फॉर हैल्थ?''

उन्होंने चुप्पी साध ली। वे कोई भी तरीका अख़्तियार करें, कोई हल निकलने वाला नहीं है।

बीयर का हल्का-सा सुरूर उन पर तारी होने लगा था। उन्होंने बोतल पर चिपके लेबल को पढ़ा-सुपर स्ट्रांग।

''खाना लगा दूँ।''

''हाँ''

वे खाने की प्रतीक्षा करते रहे और बीयर की कड़वाहट के बावजूद हल्के-हल्के घूँट हलक़ से नीचे उड़ेलते रहे। लड़कों की आवाज़ों ने उन्हें चिन्तातुर कर दिया था। किस बात पर बहस कर रहे होंगे। कहीं उनके बारे में तो कोई बात नहीं हो रही? अपनी उपस्थिति उन्हें बेमतलब जान पड़ी। याद है, यहाँ आने से पूर्व तोषी टेलीफोन पर बार-बार उन्हें अप्रत्यक्ष हिदायतें दे रहा था। ''पापा आप यहाँ आने की क्यों तकलीफ़ कर रहे हैं। दो कमरों में चार लड़के रहते हैं। मिलजुल कर। सभी स्ट्रगलर्ज़ हैं। यहाँ सुख-सुविधाएँ नहीं हैं। न्यूनतम ज़रूरतों से भी महरूम हैं। कुर्सी, मेज़, बेड, तिपाई कुछ भी नहीं है हमारे पास। फ़र्श ही हमारा बिछौना है। आपको आना ही है तो मैं किसी गेस्ट हाउस या फिर होटल में कमरा बुक करा दूँगा। फर्श पर आपको नींद नहीं आएगी। पंखा भी ठीक से नहीं चलता। यहाँ उमस है, पसीना है, गर्मी है। आपको तो पहाड़ के ठंडे पॉल्यूशन फ्री में रहने की आदत है।'

तोषी खाने की प्लेट रख गया। चावल। मूंगी की दाल। प्याज के टुकड़े। उन्होंने शिमला मिर्च की फ़रमाइश की थी। शायद मिली न हो! ठीक ही तो कह रहा था। रात को दाल-चावल बनते हैं।

'ये शोर शराबा किसलिए?'

'कुछ नहीं। आप खाना खाएँ।'

'कुछ सीक्रेट है क्या?'

'नहीं पापा। कोई खास बात नहीं है।'

'नल बन्द हो गया। पीने का पानी हम स्टोर नहीं करते।'

'अरे कमाल है, नल में तो खूब पानी आ रहा था। मैं आधे घंटे पहले ही तो नहा-धोकर फ्रेश हुआ हूँ।'

'आपने बाल्टी खाली कर दी। नल बन्द हो गया। मेरे रूममेट को नहाना था। बाल्टी भरी होती तो नहा लेता।'

बीयर के सुरूर ने उनका पारा ऊँचा कर दिया था। ज़्यादा न सही मामूली से बहक गये थे। 'व्हॉट ए नानसेंस।'

'मुझे क्या पता था यहाँ पानी कभी भी बन्द हो सकता है। तुझे पहले बताना चाहिए था। इट्स योर फाल्ट।'

तोषी आपा खो बैठा। 'चुपचाप रहकर खाना खाओ! आपकी वजह से मुझे अपने रूममेट्स का क्रिटिसिज़्म सहना पड़ रहा है। नहाते वक़्त बाल्टी भर देते तो आपका क्या बिगड़ जाता।'

'यू शट अप!' वे आपे से बाहर हो गये।

'चुप रहें आप! डोंट ट्राइ टू क्रिएट सीन। लड़कों के सामने मेरी टोपी उछाल रहे हैं आप। आप जैसे बूढ़ों की वजह से ही यंगर जनरेशन परेशानी झेल रही है। क्या ज़रूरत थी यहाँ आने की?'

ओह गॉड! फॉरगिव मी! वे खाने की प्लेट को एक तरफ रखकर खड़े हुए।

उन्होंने एक निवाला भी मुँह में नहीं डाला था। समूची ताकत से वे तलाई से उठे और बूटों की तलाश करने लगे। तस्में बाँधकर बैग कन्धे पर लटकाया और कमरे से बाहर आकर तेज़ी से सीढ़ियाँ उतर गये।

'पापा रुको। मैं स्कूटर पर छोड़ दूँगा। इस वक़्त ऑटो रिक्शा मिलना मुश्किल है!' उन्होंने तोषी के आग्रह को अनसुना कर दिया।

मुख्य सड़क पर आकर उन्होंने ताज़ी हवा का झोंका महसूस किया। रात के खूब गाढ़े अँधेरे में मोटर गाड़ियों की चुँधियाती रोशनी में वे बस स्टैंड की दिशा में कदम बढ़ाने लगे।

**सूचना एवं जन सम्पर्क**
**क्षेत्रीय कार्यालय,**
**धर्मशाला-176 215 (हि.प्र.)**

## अग्निशेखर

## जीवन-राग

(मार्गेट मिशेल की 'थार्न बर्ड' से प्रेरित)

एक ऊँचे पेड़ की फुनगी में
लम्बे नुकीले काँटे की नोक पर
आ बैठी चिड़िया
और गाने लगी
जीवन का गीत
और खोलती रही
बीच-बीच में सुनहले पंख

आकाश में रुक गया कुछ देर
सूर्य का विस्मित रथ

काँटा नुकीला
चुभता गया अन्दर अन्दर
चिड़िया के जीवन में
उसकी सोची हुयी दुनिया में
स्वप्न में
उड़ारी में

पेट और अंतड़ियों को छेदकर
निकला बाहर
और सरक उतरी चिड़िया
काँटे की जड़ तक

पर गीत गाना नहीं छोड़ा चिड़िया ने
खुश थी
जीवन-राग था उसकी आँखो में

चिर-वांछित
यह उसका लम्हा
और सेज पिया की...

टपका लहू
यह उसकी कविता...
काल-समुद्र में डूब गया
लहू के रंग का चन्द्रमा

तब से गाती हैं समुद्र में लहरें
चिड़िया के गीत
मैं डरता हूँ
खुद को कवि कहते।

## पहाड़

पहाड़ों ने
नदियों की कोमल रस्सियों से
बाँध रखे हैं समुद्र

समुद्रों का क्या भरोसा
इतने बड़े ब्रह्मांड में
कहीं किसी अदीख पृथ्वी पर बैठ जाएँ
और हमारे जीवन से
गायब हो जाएँ मेले-ठेल
प्रतीक्षाएँ

जानते हैं पहाड़
तरसेंगे हम बादल के एक टुकड़े के लिए भी
तब कोई मेघदूत न होगा
कोई कालिदास न होगा
बरसात की रातें न होंगी
एक उपमहाद्वीप से दूसरे तक
चिरती जाएँगी बिवाइयाँ टेढ़ी-मेढ़ी
गहन सन्नाटों से भरी
और डायनासोरों के रहस्यमय अन्त जैसी
बेशुमार अबूझ पहेलियाँ
पड़ी रहेंगी धूल में

पहाड़ों ने बांध रखे हैं समुद्र
अपनी नदियों से
याद है पहाड़ों को
कि यह जंगल हैं पंख उनके
और आज भी उड़ सकते हैं वे
दूर आकाश में
फिर भी हमारे लिए छोड़ दिया
उन्होंने उड़ना

और हम हैं कि...।

## कबूतर सपना

जलावतनी में
एक स्वप्न देखा मैंने
मेरे छूटे हुए घर के आँगन में
फिर से हरा हो गया है चिनार
और उसकी एक डाल पर
आ बैठी है
झक सफ़ेद कबूतरों की एक जोड़ी
मुझे देखती अनझिप
ये कबूतर
उतरना चाह रहे हैं मेरे कन्धों पर
लगा मुझे ये आये हैं
स्वामी अमरनाथ की गुफा से उड़कर
मेरे उजड़े आँगन में
क्या आज चिनार के नीचे
नये सिरे से घटित होनी है
अमर कथा

मैं तब से घूम रहा हूँ
कन्धों पर ये कबूतर लिये
अपनों के बीच
ये दृष्टा हैं
मेरी जिजीविषा हैं
कौन कहता है
इतिहास का हुआ है अन्त
और बचा नहीं यूटोपिया कोई
मैं देख रहा हूँ स्वप्न
इस उदासीन देश में
आकाश से बरसते फूलों का
हमारे घावों पर
सुबकती नदियों पर
बिछुड़े हुओं की यादों
और निष्पाप भूलों पर
बरस रहे हैं आशीष
देखो, मैं हुआ जा रहा हूँ आकाश
मुझमें उड़ रहे हैं
ये सफ़ेद कबूतर!

## विरसे में गाँव

पिता ने गर्व से दिखाई थीं मुझे
गाँव ले जाकर अपनी जड़ें
खेत, खलिहान

नदी, अख़रोट
और चिनार के पेड़
जो छिन चुके थे पिता से
विभाजन के बाद पाकिस्तानी हमले में
लेकिन बचा लाये थे वह समूचा गाँव
अपने हृदय में
हम शहर-दर-शहर बसते-उजड़ते
जहाँ भी रहे
स्मृतियों में रहे अपने गाँव में

पिता ने दिया वह विरसा
एक दिन मुझे सौंगन्ध के साथ
कि कभी न भूलूँ मैं अपनी जड़ें
जनपद अपना
नहीं तो
वह स्वीकार नहीं करेंगे
तर्पण मेरा
क्या यह पिता को था एक और
जलावतनी का पूर्वाभास
क्या वह देख रहे थे
खोदी जा रहीं हमारी जड़ें
मालूम था उन्हें
स्मृति और सोंधी महक मातृभूमि की
रखेगी हमें ज़िन्दा
ख़ानाबदोश बरसों में

मैं लड़ता रहूँगा पिता
स्मृतिलोप के खिलाफ़
और पहुँचूँगा एक दिन
हज़ार हज़ार संघर्षों के बाद
अपने गाँव की नदी पर
बुलाऊँगा तुम्हें पितृलोक से
चिनारों के नीचे
पिलाऊँगा अंजुरी भर भर तुम्हें
वितस्ता का जल

पिता, मैं साँस साँस जी रहा हूँ
गाँव अपना
तुम स्वीकार करो मेरा तर्पण!

## याद करता है बच्चा

(बेटे हिमालय के लिए)

क्या हुआ था उस बौराई हवा में
हमारे परिवार के साथ
कैसे सहम गया था गाँव
भाग गयी थी नदी
छोड़कर रामभरोसे चिनारों को

बाहर हज़ारों गुस्साए कौव्वों का
शोर था आक्रामक
और हम थे बेछत घोंसले में
या हम थे बेल पर
अँगूरों के आख़िरी गुच्छे की तरह घबराए

रो रही थी माँ
रो रही थी दादी
रो रहा था छिटकू
चाची थी रो रही
और आप हाथ जोड़े
चुप रहने को कह रहे थे

बुझा दी गयी थी बिजली
पसर गयी थी चुप्पी
गली में पटाखों की लड़ियों की तरह
गुलछर्रे उड़ा रहा था शोर

पापा,
कल जब दूरदर्शन पर
दिखाया जा रहा था कश्मीर
बर्फ़ीली चोटियाँ
झीलें
झरने
हरे मैदान
लगा मुझे, हम पीले ज़र्दे पत्ते हैं
बहार दिये गये झाड़ू से
यहाँ कैम्पों में
पापा, क्या हमें यहाँ से भी
उड़ा ले जाएगी हवा?

'सुम्बल' बी-90/12, भवानी नगर
जानीपुर, जम्मू
मो. : 0941910035

अजेय

## बदनाम लड़कियों की याद

तुम अपनी सुनाओ
मैं तो आज भी वही हूँ
कमोवेश
एक भरम को ढोते हुए
कि ताज़िन्दगी रो सकूँगा
तुममें से किसी को भी
प्यार न कर पाकर
सिसकते हुए सो सकूँगा

और पार करते हुए
रुलाई की तमाम ठंडी सीली रातें
अचानक पहुँच जाऊँगा
एक ऐसे गुनगुने दिन तक
जहाँ तुम्हारी जैसी हर उस चीज़ को
चाह सकूँगा
कर सकूँगा घृणा भी उतनी ही
अकारण
एक आवारा परिन्दे के जुनून में
चहकते हुए बेझिझक खो सकूँगा
बिना किसी शरम और कुंठा के
अपनी चाहतों और नफ़रतों के साथ
सो सकूँगा

बस हो सकूँगा
चाहे जिस तरह से!

## पृथ्वी को प्रेम करना

चाहता हूँ उड़ना
पहुँच जाना दूर अंतरिक्ष में
जहाँ से एक चेहरे की तरह दिखती हो पृथ्वी
और पूछना
उस तपते चेहरे से—
'अब कैसा है दर्द?'

इससे पहले कि हो जाए कुछ अनहोनी
चाहता हूँ उग आएँ उसकी
दो आत्मीय बाहें
और लपककर गले मिलूँ
उसे कन्धे के पास थपथपाऊँ
और हो जाऊँ विदा—
'अपना ख़याल रखना दोस्त!'

इससे पहले कि
छोड़ दे वह अपनी धुरी पर घूमना
चाहता हूँ प्रकट हों उसके दो गतिशील पैर
कुछ दूर तक चलकर आए वह
मुझे छोड़ने

और यादों में
ले जाऊँ मैं जुदाई के वे बेकल भाव

या फिर उसे मिल जाए जुबान
और महसूसूँ आवाज़ में उसकी कपकपाहट
जब वह कहने को होगी—
'मेरी ख़बर लेते रहना'!

इससे पहले कि
कुछ ऐसा हो जाए कि
वह अपनी कक्षा से भटक जाए
कोई आए और खींच ले जाए
अनन्त ब्रह्मांड में उसे
बाँधकर एक 'टेंजेंट' में
मृत्यु के ठंडे इलाके में
चाहता हूँ प्रेम करना
बीमार दुबली लड़की के चेहरे जैसी पृथ्वी को
जी भरकर
और पूछ लेना उसी से
कि इन छोटी-मोटी चाहतों से बढ़कर क्या
है कोई रिश्ता
पूरी ज़िन्दगी में
चाहे वह पृथ्वी हो
या कोई भी प्रेमिका!

## प्रार्थना

ईश्वर,
मेरे दोस्त
मेरे पास आ!
यहाँ बैठ
बीड़ी पिलाऊँगा
चाय पीते हैं
गपशप करते हैं
बहुत दिनों बाद फ्री हूँ
तुम्हारी गोद में सोऊँगा
तुम मुझे परियों की कहानी सुनाना।

फिर न जाने कब फ़ुर्सत होगी!

प्रसार अधिकारी (उद्योग)
ज़िला उद्योग केन्द्र केलंग
हिमाचल-175132
मो. : 09418063644

## सुरेश सेन 'निशान्त'
## छँटनी

छँटनी के नाम पर
पीले पड़े पत्ते की तरह
थर-थर काँपते रहे हम।

धरती के अन्दर
गहरे और गहरे उतरकर
कोयला और अभ्रक
बन गये थे हमारे ये जिस्म।

अपनी सबल काया को
झोंक देना चाहते रहे
हम मेहनत की भट्ठी में।

हमें कोई उज्र नहीं था
इस देह को तपाकर
सड़क, पुल, पटरियाँ
कुछ भी बना लेता कोई।

भूख की आँच में
सुलगते रहे हम
हमारी तपिश से
गर्म है माहौल।

हमें नहीं था जरा भी इल्म
कि हम सुलग भी रहे थे।

हमारी तेज आँच से डरकर
अपने चहुँ ओर
लगा लिया है उन्होंने सख़्त पहरा।

आर-पार की लड़ाई में
अब हम या वो

छँटनी हो के रहेगी

द्वारा श्री कुलदीप सिंह सेन
गाँवः सलाह, डा.सुन्दरनगर-1
ज़िला : मंडी-174401 (हिमाचल प्रदेश)
मो. 09816224478

## महाराज कृष्ण भरत
## विस्थापित कैम्प

ठिगने कद की चारदीवारी में कैद
कंकड़ीली ज़मीन के बिस्तर पर
अपने तकिएनुमा बाजू का
सहारा लेती मेरी माँ
रात के सन्नाटे में
बदलती रहती है—
जब करवट पर करवट
मुझे, कश्मीर की याद
बहुत सताती है।

पूनम की रात में
यारबल के धोबीघाट का एहसास
तम्बुओं की अनवरत कतारों में
आगन्तुकों को भटकाएगा
और साँझ गये
मुझसे मिलने के लिए
किसी को खटखटाना नहीं होगा दरवाज़ा
खिड़की से झाँकता हुआ
नहीं मिलेगा
कोई चेहरा अधेड़!
केवल
फटेहाल सरकारी तम्बू का
परदा सरकाना होगा,
जो कि देता है खुला आमन्त्रण
किसी को भी
बेरोक भीतर चले आने को
और मैं
तुमसे मुख़ातिब हो जाऊँगा
अपने घर-परिवार के साथ।
बरसाती मौसम में—
आँगन में कई नदियों का
संगम हो जाता है—
और रिसने लगती हैं हर ओर
पानी की बूँदे टप-टप, टप-टप
माँ परेशान हैं—
नवजात शिशु के लिए।
बह जाता है घर का असबाब
ठूँठ
ज़मीन से रिश्ता तोड़
ख़तरे की घंटी बजाते हैं!

रात का अँधेरा
कई योजनाओं को ज्यों का त्यों छोड़
चल देता है —
चिलचिलाती तेज़ाबी धूप को बुलाने
कभी न ख़त्म होनेवाले दिन से मिलने!

मिलने आते हैं अकसर
कई रेंगते जीव—
छिपकलियाँ, बिच्छू और साँप
मैं उछल-कूद के खेल में
व्यस्त हो जाता हूँ!

'घर' में रहते हुए भी
मुझे
मेरा घर
बार-बार क्यों याद आता है।

विद्या भवन, शारदा कालोनी
पटोली ब्राह्मण, मुठी, जम्मू-181205
मो. 09419113462

## आदर्श

(चित्रकार रघुराय के छायाचित्रों को देखकर)

### भूल

पन्ना पलटते ही
फड़-फड़, फड़-फड़
दिखा पाखीसमूह
लगा
हुआ अब अब यह उड़ना
पन्ने की
फड़ फड़ाहट से।

### दृष्टि

अभी-अभी ही कूदी वह
रंग भरी खुली देग में
छीटें छितराए चहुँओर
उसकी किलकती हँसी के साथ

मुस्कुरा उठे वह
जिन-जिन पर छिड़के
पनीले रंग

कूदना, किलकना
सराबोर हो जाना
उनकी नज़र में
बचपना है

उसकी नज़र में
बचपना है
किफ़ायती मुस्कुराना ।

25, एम आई जी कालोनी, उधमपुर
जम्मू-कशमीर-182101
मो. 09419270049

अरुणा शर्मा

## उसी बस्ती में औरत

कन्धों पर है टिका
सूरज उसके आँगन का
परिस्थितियों के ताने-बाने में
उलझ-उलझ जाते हैं दिन और रात
धूप में पकती है देह
उपले और दुख थापते
जानती है वह, उसकी अँगुलियों की थाप पर
भूख सिंकेगी लौटते आदमी की
कि, उसके पास है जलते तवे पर
कथक का प्रशिक्षण
पीढ़ियों से
बीतता समय देता है उसके आसमान
उसके आँचल में छेद
उस नीले तारों भरे आसमान के समानान्तर
जिन्हें ओढ़ सो जाती है वह
हर रोज़ रात
ख़ुद को भूल कर

54 ए/बी, गाँधी नगर, जम्मू - 180004
मो. 09419805782

रमेश मेहता

## सुबह हो गयी

उठ मेरी बच्ची
सुबह हो गयी!

मन्दिरों के कलशों पर
उतरी हैं
उजले सूरज की काली किरणें
पवित्र ग्रन्थों के पन्नों पर
फड़फड़ाती हैं सन्तों की आँखें
शब्द अपने अर्थ तलाश रहे हैं
और तुम सो रही हो!

उठ मेरी बच्ची
सुबह हो गयी!

देख रेडियो पर बजती है सारंगी
बरसती है अमृतमय रसधार
रुँधे हुए कंठों की पुकार
क्या तुझे सुनाई नहीं देता चीत्कार
जन जन का?
क्या दंगों के भय से
शुतुरमुर्ग हो गयी है तू
या आदिम सभ्यता में तलाशती है
दृष्टान्त
भीड़ की हिंसा का शिकार हो जाने के बाद
चुप क्यों हो जाती है बस्ती?

उठ मेरी बच्ची
सुबह हो गयी!

सुबह के उजाले में
धुलते अँधेरे को
अपनी आँखों से हटाकर देख
मेरी बच्ची
आसमान फिर पहले-सा सपनीला दीखता है
धरती फिर काट रही है हिंसा की फ़सल
शब्द-कीर्तन में खो रही है
राहत-शिविरों की खटर-पटर
अविश्वास के जंगल में
गुम हो गये हैं
आस्था के हिरण

उठ मेरी बच्ची
सुबह हो गयी!

यह सब तुझे पुकार रहे हैं
क्या आज तुझे काम पर नहीं जाना है?

235, ओल्ड् दिहाड़ी, जम्मू-180005
मो. : 09419210100

दिलीप कुमार कौल

## हिटलिस्ट

तुम्हारे घर के दरवाज़े पर
चिपकाई जाती है हिटलिस्ट
जो चेहरे तुम्हारी ही तरह
तुम्हारे साथ ही बड़े हुए;
उन्हीं में से कोई
रात के अँधेरे में
पुकारता है तुम्हारा नाम

सोने की तैयारी कर रहे तुम
जानी-पहचानी आवाज़ सुनकर नीचे आते हो
और दरवाज़ा खोलते ही
अपने जैसी ही एक फ़िरनधारी आकृति
दिखाई देती है
जो एक बार फिर
सुनिश्चित करती है तुम्हारा नाम
अँधेरे में
तब तक तुम्हारी नज़रें पहुँचती हैं
उस चेहरे के काले एहसास तक
कि फ़िरन की गर्माहट के भीतर से
सर्द मौसमों की मार से लड़नेवाली गर्माहट के भीतर से
बाहर निकल आती है चीनी पिस्तौल
गोली क्षणभर में ही धँस जाती है तुम्हारे हृदय में
ठीक तुम्हारे हृदय में!
...
फट गया है हृदय
अन्तिम क्षण में बदहवास-सा
प्रवाहित करना चाहता है रक्त हर अंग में
तुम्हारा कर्मठ हृदय!
लेकिन उसकी बची-खुची धड़कनें
बाहर धकेल देती हैं रक्त को
गोली के छिद्र में से
एक-एक कोशिका में से
तेज़ी से निचुड़ता हुआ ऑक्सीजन
ख़त्म होने को ही है
कि तुम्हें याद आते हैं पूर्वज
जिनके रक्त में बह रहा वितस्ता नदी का पवित्र जल
तुम्हारे रक्त में आया
जो व्यर्थ हो रहा है बहता हुआ
गोली की छिद्र में से—
...
आख़िरी छटपटाहट के साथ ही
थम जाती हैं सारी पीड़ाएँ
और तुम जाग जाते हो
अपने बिस्तर में
बेतहाशा धड़कते हृदय के साथ
साँसों को सँभालने की कोशिश करते हुए
ठंडे पसीने से लथपथ
अपनी शरणस्थली की उमस से भरी
एक गर्म रात में।

द्वारा प्रिया कौल
जवाहर नवोदय विद्यालय, मंगेशपुर
नज़दीक कुतुवगढ़, पो. ऑ. कुतुबगढ़
दिल्ली-110039

## योगिता यादव
## इन दिनों

इन दिनों शहर में एक हलचल-सी मची है
कुछ आँखें पड़ोस की बस्ती पर टिकी हैं

सुना है उस पार से आयी है कोई ख़बर
तभी तो तलाशे जा रहे हैं इन घरों से कुछ शहर

कुछ टूटते किनारे, कुछ डूबते भँवर
किशनगंगा में जो बह गये
वो थोड़े से प्रेम पत्र

कुरेदो समधियाँ, फिर से खोलो कोई कब्र
कोई तो जवाँ हुआ होगा, सत्तावन परतों में दबकर

मिलेगा तो ब्याहेंगे, सजाएँगे आँखों से स्याही निकालकर
ले चलेंगे उसे बुनियाद के लुटे खंडहरों में
जो उसने माँगा सुहाग का बिस्तर

911, सुभाष नगर, जम्मू
मो. 09419148717

## शेख़ मोहम्मद कल्याण
## तुम

शाम ढलते ही
हर रोज़ उतर आती हो
आँखों में
मौसम-सी
याद आती है जब
शाम की लालिमा को
हमने पिया साथ-साथ
और तुम उलझती चली गयी रंगों में
उदास रंग/चटख रंग
हर बार की तरह
चुरा ले जाती हैं तितलियाँ हर रंग।

उदास क्षणों में
डायरी के पन्नों पर उतारता हूँ
खीझभरे काले अक्षर,
बार-बार टाँकता हूँ
समय को खूँटी पर
तेज़ आँधियों के गुस्से से
उखड़ जाती हैं खूँटियाँ।

तुमसे दूर होते ही
समझ आने लगती है फिर
धरती और आकाश की दूरी
शून्य में निहारने लगता हूँ रंग
हर रोज़
हर बार
शाम के ढलते ढलते।

505/2 नरवाल पाई सतवारी,
जम्मू-180003
मो. 09419289072

## सरोज परमार
## नदी

पलछिन खिलखिलाती नदी
हम सब के बीच रहते
काहे खो रही वजूद
हैरान हैं झींगे
पशेमान है मछलियाँ
क्या पेड़ पौधे पंछी बादल
देखते भोगते यूँ ही
गुम हो जाएँगे
तब बहना, तैरना, फैलना
चहचहाना, उड़ना क्रियाएँ
शायद व्याकरण की
धरोहर हो जाएँगी
इस परिदृश्य की कल्पना
कर भीतर की नदी
सूखने लगी है।

'अज्ञात' सुग्गर रोड, पालमपुर
ज़िला : कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश
दूरभाष : 1894-230869

# अबू मलंग का कंकाल

## राजकुमार राकेश

**अँधेरे का कोई मरहला खाली** नहीं जाता, अर्धनिद्रावस्था तक में वही दृश्य मुझे डराने के लिए लौट-लौट न आता है। दासकबीर अबू मलंग के कंकाल की तरह नाचता और दौड़ता चलता है।

अबू मलंग से मेरी मुलाकात काफी साल पहले हुई होगी, उन सालों की तो अब गिनती भी सम्भव नहीं दिखती। दासकबीर से तो मेरी मुलाकात उससे भी पहले की है। तब उस की उम्र दस-बारह साल की रही होगी। अजीब बात यह हुई थी कि वे दोनों मुझे इकट्ठे कभी नहीं मिले। फिर एक रोज़ अचानक अबू मलंग ग़ायब हो गया था। हालाँकि वह अचानक ही ग़ायब हुआ हो यह महज किसी पौराणिक अर्धसत्य की तरह है। वह तो उस हादसे के एकदम बाद गायब हुआ पाया गया था जो उस रोज़ दोपहर बाद पास की सरकारी राशन की दुकान में शुरू और सम्पन्न हुआ था। यह उन हादसों की ही तरह का एक हादसा था जिनकी शुरुआत तो अनायास हो आती है लेकिन वे ख़त्म कभी नहीं होते। बहरहाल, यह हादसा उस दुकान में हुआ था जो नामकरण के लिहाज से अभी तक सरकारी राशन की सस्ते मूल्य की दुकान थी, लेकिन अब तक उसे नयी ठेके की निजीकरण प्रथा के चलते एक ठेकेदार किस्म के व्यक्ति दलीपसिंह भूरिया को कमाने और खाने के लिए सौंप दिया गया था। यही भूरिया उसे अब अपनी शर्तों पर चलाता था और इसका मुनाफ़ा हड़प करके अपने (और सम्भवत: अपने परिवार के) शरीर की चर्बी बढ़ा रहा था। यह घटना, उस रोज़, माहवार आने वाले खांड के कंट्रोल कोटे के वितरण के समय शुरू हुई थी। दलीपसिंह भूरिया खांड के नियत कोटे से प्रत्येक ग्राहक को सौ ग्राम मात्रा कम तोल में दे रहा था, जबकि पैसे पूरी मात्रा के वसूल कर रहा था। गाँव के पुरोहित कृष्णदास ने काफ़ी पहले दासकबीर की जन्मपत्री बाँच रखी थी और भविष्यवाणी की हुई थी कि कबीर के खोपड़े पर राहु, केतु और शनि की दशाएँ-अन्तर्दशाएँ गिद्धों की तरह मंडरा रही हैं इसलिए उसके जीवन के साथ अन्ततः कोई भी हादसा होना तय है। इसलिए जब झगड़ा शुरू होने लगा तो किसी को भी हैरानी या शक़-शुबहा नहीं हुआ। दासकबीर ने जिस क्षण दलीपसिंह भूरिया को पूरी मात्रा देने का आग्रह किया तो झगड़े की भौंह टेढ़ी हो गई।

यह कठिन लड़ाई की आसान शुरुआत थी। आख़िर बुरे से बुरा ग्रह भी इम्तिहान, संघर्ष और अन्तिम वार के कई चरणों से ही गुज़रता है। दलीपसिंह भूरिया ने टेढ़ी हो आयी अपनी भौहों को अचानक सीधाकर लिया और प्यार, स्नेह और मिठास से यह समझाने की कोशिश की कि दरअसल इस बार सरकार की तरफ से तोल ही कम आया हुआ है। पर जब उसने पाया कि दासकबीर तर्क पर तर्क किये जा रहा है तो वह उसी स्नेह और अपनत्व के वशीभूत होकर बोला, ''देखो मित्रो सुनो... सब सुनो! अगर हम लोग अपनी ही चुनी हुई सरकार की बात नहीं मानेंगे तो फिर हमारा यह देश तरक्की कैसे करेगा?''

उपस्थित जनों के चेहरों पर सन्तुष्टि का भाव रेंगने लगा था। आख़िर सवाल देश की तरक्की से जा जुड़ा था। पर दासकबीर के भेजे में यह तर्क भी घर नहीं कर सका। उसने इसकी काट का अलग तर्क पेश कर दिया, ''कम मात्रा तोलकर लोगों को ठगने से देश की तरक्की नहीं होती। पिछले हफ़्ते इधर जो 'उपभोक्ता जागरुकता कैम्प' लगा था उसमें हुए सारे भाषणों में मात्रा के प्रति सचेत रहने के लिए ही तो हमें कहा गया था।''

यह बात गलत नहीं थी। सरकार की तरफ़ से लगाये गये इस कैम्प का आयोजन दलीपसिंह भूरिया के ही हाथ में था। बड़े-बड़े अफ़सरों और तथाकथित उपभोक्ताकर्मियों ने दाल-भात पर इकट्ठे हुए ग्रामीणों को उपभोक्तावाद, उपभोक्ता जागरूकता, उपभोक्ताकरण, खुले बाज़ार इत्यादि पर खूब भाषण पिलाये थे। उसके बाद ही श्रोताओं को दाल-भात खिलाया गया था। दास कबीर के उपरोक्त कथन का एक सन्दर्भ इसी से जुड़ता था। पर दलीपसिंह भूरिया के तेवर कड़े हो गए, ''कबीरा! जो दाल-भात तूने वहाँ उड़ाया था उसके पैसे तेरा बाप रामा देगा?''

बात मैं-मैं तू-तू के रास्ते से होती हुई हाथापाई तक आ पहुँची। ठीक तभी स्थानीय नेता वेदपाठी कंठीराम भारद्वाज परिदृश्य पर आ प्रकट हुए। उनकी पीठपीछे उन्हें 'मुआ मड़ेला' कहकर याद किया जाता था। भारद्वाज जी ने बीच-बचाव करते हुए अन्ततः

यह व्यवस्था दी कि दासकबीर को खांड के तोल की मात्रा पूरी दे दी जाए और इससे जो घाटा हुआ उसे ख़ुद उनके कोटे से पूरा कर लिया जाए। इस प्रकार झगड़ा ख़त्म हुआ। यही ख़ात्मा एक अनन्त झगड़े की शुरुआत थी जिसकी कल्पना करके अबू मलंग भले ही काँप-काँप उठा हो लेकिन दासकबीर को इसकी रत्ती भर भी आशंका नहीं हुई थी।

उसी शाम दलीपसिंह भूरिया कुछ लोगों के साथ, जिन्होंने अपने हाथों में हाँकी की स्टिक पकड़ रखी थी और कलाइयों पर साइकिल की चेन बाँध रखी थी, दासकबीर के घर के आँगन में जा खड़े हुए थे। थोड़ी देर बाद दासकबीर की नहीं, बल्कि उसकी माँ रानी और बापू राम की हड्डियाँ भी चटक रही थीं। जब यह हादसा घट चुका, तब अबू मलंग अचानक वहाँ प्रकट हुआ था। दलीपसिंह भूरिया ने लौटते-लौटते उसकी टाँग का कटोरा तोड़ डाला था। जब तक वह दूसरी टाँग के कटोरे पर वार करता, उसी के एक साथी ने उसे यह कहकर रोक लिया था कि इस बेचारे गरीब को ख़ामख़्वाह क्यों मार रहे हो। दलीपसिंह भूरिया ने हाथों में पकड़ी स्टिक तो रोक ली पर जुबान के कोड़े को रोक पाना उसके लिए मुमकिन नहीं हुआ था। ''इन गरीबों की माँ की... !'' लगभग चीख़ते हुए उसने कहा, ''साले गुंडे, चोर, डाकू, मवाली यही तो सब हैं।'' अराजकता फैलाते हैं। बच्चे जनने के सिवाय दूसरा तो इनका कोई काम है नहीं।'' तब तक दासकबीर की तो शादी भी नहीं हुई थी। रानी और राम के यही एक बेटा था। इसका मतलब यह हुआ कि यह आक्षेप सीधे अबू मलंग पर था क्योंकि उसी के तीन नाबालिक बच्चे थे। अबू मलंग इस आक्षेप का निराकरण करना चाहता था, पर तभी वेदपाठी कंठीराम भारद्वाज उर्फ़ 'मुआ मड़ेला' परिदृश्य पर प्रकट हो चुका था। उसने अपने होंठों पर तर्जनी रखकर कहा, ''मलंगे! बोल मत। बोल मत! भूरिया बात एकदम सही-सही करता है। जाना है तो चला जा अपने देश पाकिस्तान। पर बोल मत। फिर वहाँ जाकर चार औरतें रख, चाहे अठारह बच्चे पैदा कर। चाहे पाँच बार की नमाज़ अदाकर। पर बोल मत!''

उस दिन के बाद अबू मलंग हमेशा के लिए ग़ायब हो गया था। इधर पता चला कि दलीपसिंह भूरिया ने दासकबीर के विरुद्ध पुलिस थाना में शिकायत दर्ज करवा दी थी। दंगा करने और शान्ति भंग करने के जुर्म को लेकर।

**कंठीराम** भारद्वाज के किसी पूर्वज ने पीपल के पेड़ के पास पीने के पानी की बावड़ी खुदवा रखी थी। भारद्वाज जी उसमें से पानी भरने की इज़ाजत कुछ चुनिन्दा और ख़ास लोगों को देते थे। इसलिए बतौर खीज उतारने के लिए लोगबाग उन्हें 'मुआ मड़ेला' कहते थे। यानि वे दुबले-पतले कंकाल की तरह थे और बेहद कंजूस किस्म के व्यक्ति थे, इसलिए उन्हें मरा हुआ कहना किसी को भी बुरा नहीं लगता था। यह बात काफ़ी हद तक अजीब और अविश्वनीय लगती थी कि वे इस इलाके के बेहद मशहूर, ख्यातिप्राप्त, शक्तिसम्पन्न और प्रभावशाली राजनेता किरपालचन्द पांडे के ख़ासमख़ास थे। 'मुआ मड़ेला' कहते कहते थक चुके कुछ युवा लोगों ने अब इन्हें किरपालचन्द पांडे का दल्ला कहना शुरू कर दिया था। भारद्वाज जी की कई आदतों में एक यह भी प्रमुख थी कि वे अपनी जान पहचान के बहुत से लोगों के जीवन और मरण से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी तथ्यपरक बातें अपनी वाचिक परम्परा में चलाने के लिए काफ़ी मशहूर थे। दासकबीर के बारे में उनका कहना था— कबीर को रामू ब्राह्मणों की बस्ती के कूड़ेदान से उठाकर लाया है। यहाँ तक कि अब इस वाक्य की सच्चाई पर ही किसी व्यक्ति को सन्देह नहीं रह गया था। एकबार ख़ुद मैंने कंठीराम भारद्वाज से इस कथन की सच्चाई के बारे में पूछा तो वह मुस्कुराहट में टाल गया था। जब मैंने दूसरीबार पूछा तो उसने कोई वेदमन्त्र गुनगुना दिया था, जो मेरी समझ में नहीं आया। जब भी भारद्वाज जी को कुछ समझाना नहीं होता था तो वे इसी तरह मुस्कुराते, हँसते और बोलते थे। ऐसे हर कृत्य से उनकी कल्पित महानता में इज़ाफ़ा होता था या कम-से-कम ख़ुद उन्हें ऐसा ज़रूर लगता था। इस कहानी में भी कंठीराम भारद्वाज का महत्त्व बाकी पात्रों की तुलना में इसलिए भी ज़्यादा है। इससे भी आगे इस कहानी के रेशे-रेशे की जानकारी मुझे उन्हीं से प्राप्त हुई है। यह भी हो सकता है कि इनमें बहुत सारा झूठ, भ्रम और तथ्यहीनता भरी पड़ी हो, पर इस सबके बिना हमारा काम चल जाने की कोई सम्भावना नहीं बचती। इसलिए मैंने भारद्वाज जी की कही हर बात पर विश्वास करके ही आगे बयान देने का इरादा पक्का कर लिया है।

तो दलीपसिंह भूरिया और उसके दल के हाथों पिट चुकने के बाद दासकबीर तो किसी तरह बच गया पर उसकी माँ रानी और बापू राम तीसरे दिन तक दम तोड़ गये। पुलिस ने उन पर आत्महत्या का और कबीर पर दंगा करने का मुकदमा दायर कर दिया था। कंठीराम भारद्वाज, दासकबीर की मदद पर आ गया और किसी तरह बात रफ़ा-दफ़ा हो आयी। वैसे फैला यह भी कि थानेदार को दिल्ली से किरपालचन्द पांडे का फोन आया था। कंठीराम भारद्वाज ने दास कबीर को इतना भर समझाया कि जब इधर डाक-बंगले में पांडे जी आएँ, तो तुम मेरे साथ चलकर उनका अहसान ज़रूर जता देना।

यह ख़बरें जब ख़ूब फैल चुकीं, तो दिन ढले दलीपसिंह भूरिया अपने लठैतों के साथ कंठीराम भारद्वाज के घर के आँगन में आ पहुँचा। भारद्वाज जी संध्या-वन्दना की तैयारी में जा जुटे। दलीपसिंह भूरिया ने कड़क आवाज़ में कहा, ''वेदपाठी! सुन और हमारे सवाल का जवाब दे! तुम्हीं तो

हमसे सौ ग्राम, हर बार, कम तुलवाते हो और अब उस कबीरपन्थी से जा मिले!''

कंठीराम भारद्वाज हाथ में जलती हुई धूप लेकर बरांडे में आ खड़े हुए, ''आ भूरिया। आ जा बैठ ले, तनिक शान्ति से...तू कहे तो पहले संध्या-वन्दना कर लूँ, तू कहे तो पहले तेरे सवाल का जवाब दे दूँ!''

दलीपसिंह भूरिया ने अपने सभी लठैत सज्जनों को हैरानी में डालते हुए अपने तैश को काबू कर लिया, ''संध्या-वन्दना कर लीजिए।'' हालाँकि, हर कोई यही समझ रहा था कि वह कहेगा, कि पहले जवाब दो।

कंठीराम भारद्वाज फिर आधे घंटे बाद लौटे और बरांडे में पड़े अपने आसन पर बैठकर मुस्कुरा दिए, ''तो हाँ भूरिया! अब बोल, कौन मुसीबत आन खड़ी हुई?''

दलीपसिंह भूरिया भी मुस्कुराने लगा, ''वेदपाठी जी! यह आपने क्या किया?''

''हमने?'' कंठीराम भारद्वाज इत्मीनान से बोले— ''हमने क्या किया? हमने तो अपने मित्तर भूरिया को जेल जाने से बचा लिया, वर्ना पांडे जी ने तो दारोगा से कह ही दिया था। मेरा मतलब कह ही दिया था...''

''पांडे जी मेरा क्या पुट लेंगे?'' भूरिया गुस्से में वापस आने लगा, तो भारद्वाज जी तपाक से बोल पड़े— ''भूरिया! हम सबको अपने भेजे में एक बात तो ज़रूर डालनी पड़ेगी। आख़िर कबीरा भी तो अपना ही छोरा है। निकला तो ब्राह्मणों के ही कूड़ेदान से है। उसको कोई गँवाना थोड़े ही है। उसको सबक देना था, सो तो तुम दे चुके। अब उस बिचारे को कोई गँवाना थोड़े ही है। बाकी रहा तोल-मोल, तो तुम तोलो-मोलो। तुमको कौन रोक रहा है, भाई। पांडे जी से बात करना होगा तो हम किस खेत के गाजर हैं। यह वेदपाठी की जुबान है। वेदपाठी की। प्राण जाएँ तो जाएँ, पर हमारी जुबान नहीं जांती। हमारे वेदपाठी कुल की यही तो रीत रही। रघुकुल तो कल पैदा हुआ है।''

दलीपसिंह भूरिया के चेहरे पर गुस्से के शिकन हँसी-खुशी में बदल गये। सारे लठैत भाई भी हँसने लगे। कंठीराम भारद्वाज ने अपने घर के अन्तःपुर में सन्देश भिजवाया कि सभी अतिथियों को चाय-वाय पिलवाया जाए। सब हुआ, और फिर सब विदा हो



गये। कंठीराम भारद्वाज को जब अपना घर सूना-सूना लगने लगा तब अचानक दासकबीर आ गया। उसे देखकर वे बहुत खुश हुए, ''कबीरा! एक बार तुझे पांडे जी से मिलवा दिया तो समझ ले पूरा समाज तेरा परिवार हो जाएगा।''

पखवाड़े भर तक कंठीराम भारद्वाज दासकबीर से लगभग इसी वाक्य को हेरफेर कर दोहराते रहे। दासकबीर का यह विश्वास पक्का होता चला गया कि पांडे जी सचमुच महान आदमी क्यों हैं। इस पखवाड़े के चौदहवें दिन, जब आसमान पर चौहदवीं का चाँद खिल रहा था, दासकबीर ने सहमते हुए पूछ लिया था, ''वेदपाठी जी। पांडे जी इतने महान आदमी कैसे हैं?''

कंठीराम भारद्वाज चौंके तो नहीं, किन्तु बड़ी अजीब और अजनबी-सी लगने वाली नज़र से दासकबीर की आँखों में आँखें डाले रहे। दासकबीर को यह नज़र बेहद कड़ी लगी थी, जिसने उसके सीने की पसलियों को चीरकर उसके दिल में आघात करने की कोशिश की थी। जब यह हो चुका तो कंठीराम भारद्वाज ने किसी टी.वी. चैनल के एक विज्ञापन की हूबहू मुद्रा बनाते हुए अपनी दाईं तर्जनी दासकबीर के चेहरे की तरफ़ उठा दी थी, ''कबिरा! अब की जो पूछ लिया, दोबारा मत पूछना!'' फिर अचानक ही वे मुस्कुरा दिए, ''कबिरा! तू बड़ा भोला है रे! इतना भी नहीं जानता। भैय्ये, पांडे जी महान हैं क्योंकि वे महान हैं। श्रीकृष्ण क्यों महान थे? पांडे जी भी वैसे ही महान हैं। वे बिकवा सकते हैं। वे बनवा सकते हैं। वे खरीदवा सकते हैं। तो समझा कुछ?''

दासकबीर तनिक उदास हो आया, ''हाँ वेदपाठी जी!'' जैसे वह सचमुच समझ ही गया हो।

''ज़मीन तो तेरे पास कौन कम है!''

मुंडी हिलाई थी दासकबीर ने, ''हाँ। वो तो है!''

''कल मिलना ही तो है!'' कंठीराम भारद्वाज उसे समझाने लगे। जैसे, पांडे जी के सामने तुम्हें किस तरह का और कैसा व्यवहार करना है, और कैसा नहीं करना है। पाँव छूना, आशीर्वाद पाना, हर बात ध्यान से सुनना और हर बात पर सिर्फ़ 'हाँ' कहना या सिर्फ़ गर्दन हिलाना, वापस लौटती पर फिर पाँव छूना। ''महान आदमियों के सामने यही तो व्यवहार करना होता है!''

सरकारी डाक बंगला पुराने महलों की शानोशौकत से कम नहीं था। किरपालचन्द पांडे भीतर थे और हज़ारों लोग बाहर। हर कोई अपना काम निकलवाने के लिए उतावला। ठेके, परमिट, लाइसेंस, कोटे, नौकरियाँ, तबादले इत्यादि और यह सब करवा सकने वाले दलाल सक्रियता से इधर-उधर भागते दौड़ते दिख रहे थे। भीतर मीटिंग चल रही थी इसलिए बाहर भी दौड़-धूप सामान्य से ज़्यादा थी। भवन के मुख्यद्वार

पर बावर्दी पुलिस के अतिरिक्त दो टेरियार कुत्ते भी तैनात थे। वे भीतर झाँकनेवालों को खा जानेवाली नज़र से घूरते चल रहे थे। इन कुत्तों के गले में लटके पट्टे पर इनके सम्पूर्ण सुरक्षाकर्मी होने का प्रमाण पत्र लटका था। दासकबीर को लेकर जब कंठीराम भारद्वाज इन कुत्तों के सामने आ खड़ा हुआ तो उनमें से एक बेहद ख़तरनाक ढंग से भौंक दिया। तब फीती चढ़े एक बावर्दी पुलसिए ने मुस्कुराकर रास्ता बनाया। भारद्वाज जी मुस्कुरा दिए और दासकबीर की तरफ़ तर्जनी उठाकर बोले, ''अपना ही पिशु है। पांडे जी ने ही इसे अन्दर जाने से बचवाया था। आज अन्दर बुलाया है।''

भीतर प्रवेश करने के बाद एक और बन्द दरवाज़ा उनका इन्तज़ार कर रहा था। वहाँ कुत्ते तो नही थे, अलबत्ता सादे कपड़ों में एक व्यक्ति खूँखार-सी नज़रों से उनकी तरफ़ ताका था। ''मैं कंठीराम भारद्वाज वेदपाठी!'' सुनकर वह व्यक्ति हौले से मुस्कुरा दिया और कपाट खोलकर उन्हें भीतर जाने दिया। तकरीबन ऐसे ही तीन द्वार उन्हें और लांघने पड़े। तब जाकर दृश्य खुला था। माथे पर चन्दन का टीका लगाये पांडे जी सामने वाले सोफ़े पर पसरे हुए थे। आगे पड़ी तिपाई पर नये डिजाइन का शीशे का गिलास भरा पड़ा था। उनकी बाईं बगल में जो आदमी सतर्क बैठा था उसका नाम फतेहसिंह डागर था। वह भारतीय प्रशासनिक सेवा का अधिकारी था। इधर दाईं तरफ नयी लाईट के दो चिकने लौंडे पीते हुए ठट्ठा रहे थे। इनमें एक पांडे जी का बेटा विवेक और दूसरा भूमंडलीकृत मसालेवाली एक कम्पनी मै. मूलचन्द फूलचन्द की विरासत की चौथी पीढ़ी का कर्णधार कर्मचन्द रोहतगी वल्द धर्मचन्द रोहतगी था। दासकबीर को यह परिचय कंठीराम भारद्वाज ने दरअसल बाद में दिया था, लेकिन कहानी की ज़रूरतों के हिसाब से यह पहले आ गया है। बल्कि सबसे पहले तो कंठीराम भारद्वाज ने पांडे जी के पैर छुए थे और बाकी सब को कमर झुका-झुकाकर प्रणाम किया था। फिर पीछे लौटकर दासकबीर के कन्धे पर हाथ रखकर कहा था— ''कबिरा! सब महाजनों के पैर छू। जल्दी कर। आशीर्वाद माँग। भूल गया, कल मैंने क्या समझाया था। कबिरा मांग। जीवन सुधरेगा। इहलोक-परलोक। छू ले...!''

**सरकारी** डाक बंगला तो इस भवन की शानोशौकत की छाया भी नहीं था। दास कबीर को यहीं लाकर रखा गया था। पर इस भवन के भीतर नहीं, इसके पिछवाड़े में बनाये गये एक छोटे-से कमरे में, जहाँ से बाहर की दुनिया देख पाना किसी हाल में सम्भव नहीं था। अम्मा और बापू के उस कच्चे घर से यह कमरा हज़ार गुना अच्छी सुविधाओं से लैस था। फिर भी याद उस छूटे हुए घर की ही ख़ूब आती थी। सामने चमचमाता वह भवन दिखता तो यह यादें अधिक गहरी हो जातीं। इसमें सब ओर ताले जड़े हुए थे। लेकिन हर ताले के ऊपर एक यह वाक्य लिखा हुआ था— 'ईमानदारी की विजय और भ्रष्टाचार की क्षय!' और भवन के शीर्ष पर उस का नाम लिखा था— पुनर्स्थापना (ईमानदारी) भवन! कोष्ठक में लिखे ईमानदारी शब्द से यह प्रतीत होता था कि इस भवन का असली नाम 'ईमानदारी की पुनर्स्थापना' भवन है।

इस सब से ज़्यादा ज़रूरी और हैरतअंगेज़ कारनामा यह था कि हर रोज़, देर शाम गये, पिछवाड़े का एक दरवाज़ा खुलता और कुछ नकाबपोश किस्म के लोग इधर चढ़े जादुई किस्म के ताले को हटाकर भीतर चले जाते। बहुत भीतर के किसी अँधेरे गुफानुमा संसार में रोशनियाँ जलतीं। आधी रात तक कुछ करते रहने के बाद वे सब नकाबपोश पंचतारा गाड़ियों में छूमन्तर हो जाते और जादुई ताला अपनी जगह पर आ बैठता। दासकबीर उन शरीरों की लचक को पहचानने की कोशिश करता, जैसे इन शरीरों को वह जानता रहा हो। एक रात उसने विवेक पांडे का चेहरा देख लिया। उसकी बगल में एक सुन्दर-सी लड़की थी। उनके पीछे जो काले लिबासवाला कंकाल चलता दिखा था, वह उसे 'मुआ-मड़ेला' की याद दिलाने लगा था। इस याद ने उसके मुँह से अचानक एक आवाज़ निकाल दी थी— ''वेदपाठी जी!''

वे लोग तनिक सकते में उसे अपने नकाबों के पार से देखते रहे थे। वह कुछ ज़्यादा ही डर गया, और चीख पड़ा था, ''वेदपाठी जी! मैं दास कबीर...''

इधर एक बुढ़ियाया-सा शरीर था जिसने अचानक अपने चेहरे का नकाब हटाया और बोला, ''वेदपाठी! लड़के से बात कर लो।'' यह किरपालचन्द पांडे थे।

कंठीराम भारद्वाज ने भी अपना नकाब हटा दिया और दासकबीर के बिल्कुल पास आकर बोले, ''कबिरा! आज तू इम्तिहान में पास हो गया रे! तो आ, चल अन्दर!''

दासकबीर के भीतर जो भय आर-पार इन दिनों तैरता रहता था, वह उसके दिल के हर कोने को कब्ज़ा कर जा बैठा। तब तक जादुई ताला खुल चुका था। जब सब लोग भीतर प्रवेश कर चुके तो कंठीराम भारद्वाज ने दासकबीर के कन्धे पर हाथ रखकर कदम बढ़ाने के लिए कहा। फिर कपाट-पर-कपाट खुलने और बन्द होने लगे। बहुत भीतर जाकर कहीं रोशनियाँ जलीं, तो लगा कि पुरातन राजा-महाराजा के दरबार में आ पहुँचे हों। अब तक सब नकाब उतर चुके थे। देश की गणमान्य हस्तियाँ, राजनेता, राजकवि, राजवैद्य, राजमन्त्री, मेनकाएँ, अंडरवर्ल्ड डॉन— कई कई लोग थे। दास कबीर जिन कुछेक चेहरों को पहचानता था उनमें किरपालचन्द पांडे, फतेहसिंह डागर, कंठीराम भारद्वाज, विवेक पांडे और कर्मचन्द रोहतगी ही प्रमुख थे। उस भीड़ में एक आदमी और भी था जिसे वह भली भाँति पहचानता था, तथा जिसकी वहाँ मौजूदगी उसे अनायास ज़्यादा डराने

लगी थी, वह दलीपसिंह भूरिया था। इस समय वह पांडे जी की बाईं बगल में बैठा हँस रहा था। दासकबीर के दिल के अँधेरे कोनों में सटा बैठा डर गहराने लगा था!

''अरे, बैठो भाई!'' पांडे जी ने तर्जनी दासकबीर की तरफ़ उठाकर कहा, ''क्या नाम तुम्हारा...बैठो!''

कंठीराम भारद्वाज ने उसकी बाँह पकड़कर कहा, ''कबिरा! बैठ! मैं कहता न था, तेरा सब लोक सुधर जाएगा!''

जब वह सचमुच बैठ गया तो उसकी छाती काँपने लगी थी और अंतड़ियों में भयानक खलबली मची हुई थी। लग रहा था जैसे उसका दिमाग खोपड़े से उछलकर सीधा पेट में आ घुसा है। औरतें नाचने लगीं। कपड़े नदारद होने लगे और शराब उड़ने लगी। बीच में जो बातचीत होती उस का अर्थ बहुत कोशिश करने पर भी दासकबीर की समझ में नहीं आ पा रहा था। बीच में कभी कंठीराम भारद्वाज 'कबिरा' कह देते तो जैसे बाकी सब लोग मुस्कुराने लगते। फिर जब भारद्वाज जी तनिक खुल आए तो बात-बात पर कह डालते, ''काहे फ़िक्र करते हो पांडे जी! अपना कबिरा है न!''

पांडे जी ने अपनी आँखें मलते हुए कहा, ''वेदपाठी! तुम अबू मलंग के बारे में भी यही तो कहते थे।''

अबू मलंग का ज़िक्र इस तरह सुनते हुए दासकबीर का शरीर वापस काँपने लगा था।

फिर उलटे क्रम में कपाट खुलने और बन्द होने लगे थे। जब कंठीराम भारद्वाज गाड़ी में सवार होने को थे तो दासकबीर भी पीठ थपथपाते हुए बोले, ''कबिरा! हमारे विश्वास का सवाल है।''

**यद्यपि** बातें भी थोड़ा बहुत समझ आने लगी थीं, पर इससे फ़र्क नहीं पड़ता कि कुछ समझ आता है या नहीं आता। बल्कि ज़रूरी यह था कि इन महफ़िलों में दासकबीर को अपनी उपस्थिति से ही मज़ा आने लगा था। उस रात जब इस कहानी में आगे आने वाली यह घटना घटी, उस वक़्त जब वह स्कॉच के नशे की गिरफ़्त में आ चुका था। इस स्थिति में उसके भीतर का भय आनन्द मार्ग पर चल आने को होता था। कहानी में अब जिस घटना का ज़िक्र आने वाला है, उससे चन्द लम्हे पहले कंठीराम भारद्वाज ने दास कबीर को सूचित किया था, कि उसके बापू ने उसके लिए जो भी ज़मीन छोड़ी है, उस पर कर्मचन्द रोहतगी की भूमंडलीकृत मसाला कम्पनी की ओर से एक आधुनिकतम मार्केटिंग काम्पलेक्स का निर्माण कार्य जारी है। इसमें मसालों से लेकर अख़बार तक का उत्पादन होगा। होटल बनेगा जिसमें आम जनता के मनोरंजन के लिए लड़कियाँ नाचेंगी। ''यह सब तुम्हारी ज़मीन पर होगा कबिरा!'' भारद्वाज जी ने उसकी पीठ थपथपाई, ''सच तेरा कितना नाम होगा!''

दासकबीर मज़े में था। इसप्रकार की बातों से बहुत ऊपर! कर्मचन्द रोहतगी सामने विवेक पांडे की बगल में बैठा हँस रहा था और विवेक पांडे ठीक उस जगह पर विराजा था जहाँ किरपाल चन्द पांडे बैठते थे। कंठीराम भारद्वाज ने दास कबीर से कुछ दस्तख़त लिये और इसके ठीक अढ़ाई मिनिट बाद वह घटना घट गयी जो इस कहानी की पूर्णता के लिए बेहद ज़रूरी है। बल्कि यह सब भी उतना ही अचानक हुआ जितना उन कागज़ों का आना और जाना हुआ था। तो दरअसल हुआ यह कि फतेहसिंह डागर ने शराब के किसी घूँट के बाद अपनी मूँछ पर हाथ फेर दिया। विवेक पांडे को इस हरकत पर गुस्सा आ गया। वह उठा और अपने पैर से जूता खोलकर, दे तड़ातड़, फतेह सिंह डागर का खोपड़ा हलकान कर डाला, ''हरामज़ादा! हमारे सामने मूँछ पर हाथ फेरता है।''

आस-पास बैठे तमाम लोग हँस दिए थे।

कुछ ही देर बाद फतेहसिंह डागर मुस्कुरा दिया था, ''विवेक बाबू! इस बात को पांडे जी तक पहुँचाया जाएगा।''

विवेक पांडे ने दूसरे पैर का जूता खोलकर हाथ में ले लिया, ''खुसरा हरामज़ादा!'' फिर अपना सेलफोन उसकी तरफ़ बढ़ाते हुए बोला, ''ले बता दे! मेरा बाप लाईन पर है।''

फतेहसिंह डागर सकपका गया, तो विवेक पांडे ने उसके कान के साथ सेलफोन लगाकर कहा, ''ले बता!''

फतेहसिंह डागर अचानक ऊँची आवाज़ में बोलने लगा, ''महाराज! मैं क्यों पिटा? क्यों पिटा महाराज?... नाम को मारो गोली महाराज... क्यों पिटा महाराज? विवेकजी के जूतों से क्यों पिटा महाराज?''

विवेक पांडे ने सेलफोन छीनकर लैंडलाइन फोन मिलाया, और उसका स्पीकर ऑन कर दिया, ताकि सभी उपस्थित सज्जन उधर से आनेवाली आवाज़ों को सुनते चलने का हितलाभ अर्जित कर सकें। ''पापा! मैं विवेक,'' फोन चालू होते ही उसने कहा, ''यह फतेहसिंह डागर आई.ए.एस. बोल रहा था। पूछता है, मेरे जूतों से क्यों पिटा!''

ख़ामोशी के अन्तराल दोनों ओर से ही कुछ लम्बे चले। सिर्फ़ फोन की सैं-सैं इस खामोशी में खलल डालती रही।

''पापा! फतेहसिंह डागर पूछ रहा है आख़िर वह मेरे जूतों से क्यों पिटा?''

सवाल के इस दोहराव के बाद फोन के स्पीकर पर किरपालचन्द पांडे की आवाज बड़ी स्पष्ट होकर उभरने लगी, ''अरे! एक दल, एक बल, एक संसार, एक दुनिया, एक ग्राम, एक घर, सब कुछ एक! मैं एक, तू एक, वो एक! तो फिर कौन पिटा, कैसे पिटा, किसने पीटा? वह क्यों पिटा, इसने क्यों पीटा? व्यक्ति पिटा, समाज तो नहीं पिटा। व्यक्तिवाद पिटा, समाजवाद तो नहीं पिटा! व्यक्ति समाज के लिए पिटा। यही हमेशा रहा, हमेशा रहेगा। इधर कौन पिटा? मीटिंग बुला लो। फैसला हो जाएगा। हम

तो कहते ही हैं समाजवाद लाना है, तो भयमुक्त रहो। ईमानदार बनो। ईमानदारी की पुनर्स्थापना ही तो हमारा दायित्व है। समाजवाद की नीति है। डागर से कहो, हमारी इस नीति को समाज पर लागू करे। इसी काम की तो तू तनख़्वाह पाता है। जल्दी मीटिंग बुला लो। कौन वह माई का लाल है जो इस समाजवाद को पीट सके, और कौन ऐसा गधा है जो पिट सके...!''

पांडे जी की आवाज़ जब बन्द हुई तो एक बार फिर सभा में ख़ामोशी छा गयी। फिर अचानक जैसे फतेहसिंह डागर को कोई दिमाग़ी दौरा पड़ गया। वह उठ खड़ा हुआ और ऊँचे-ऊँचे बोलने लगा, ''तुम सब साले चोर। तू चोर, मैं चोर, वह चोर, यह चोर। चोर-चोर! हम सब चोर। चुरा ली ज़मीन तुम सब चोरों ने इस ग़रीब कबीर की। बहुत इन्तज़ार कर लिया हम सब चोरों ने। हम-तुम सब चोर कल तक जिस थानेदार के सामने पड़ने से बचते थे आज वही बाहर खड़ा हमारे घड़ों में पानी भर रहा है। पांडे जी जम्हूरियत के राजा हैं। लोकशाही के बादशाह हैं। तभी तो कबीर की ज़मीन छिन गयी। इसने ख़ून दिया। उसने ख़ून लिया। ख़ून-ख़ून। मर गया बापू। मर गयी अम्मा!''

फतेहसिंह डागर जब तक बोलता रहा, तब तक चारों ओर की स्थिति सामान्य रही लेकिन ज्यों ही उसकी आवाज़ बन्द हुई, तो विवेक पांडे उठा और एक कोने में पड़ी लोहे की मोटी-सी छड़ उठाई और फतेहसिंह डागर को अपनी दाईं कलाई उठाने के लिए कहा। डागर साहब ने किसी आज्ञाकारी बच्चे की तरह आज्ञा का पालन किया, तो विवेक पांडे ने उसकी कलाई पर छड़ मार दी। फतेहसिंह डागर ने हँसना चाहा, पर उसके मुँह से चीख़ निकल गयी। जब यह चीख़ धीमा पड़ी तो विवेक पांडे ने कंठीराम भारद्वाज से कहा, ''मुआ-मड़ेला! ले जा, इस हरामी को हस्पताल में। कहना, बाथरूम में फिसल गया था। डलवा दे इसके हाथ में जम्हूरियत के कड़े।''

कंठीराम भारद्वाज ने उठकर फतेहसिंह डागर को सहारा दिया तो विवेक बाबू ने कहा, ''डागर! कल पता करके आना अफ्रीका में गाँधीबावा कितनी बार पिटे थे!''

''जी!'' फतेहसिंह डागर ने गर्दन हिला दी।

''और यह भी पता करके आना कि इस बिचारे कबीर की ज़मीन के नकली कागज़ किसने बनवाये थे!''

''जी!''

''और यह भी कि अबू मलंग को किसने मारा था!''

''जी!''

''और पतस्तर बँधवाकर कल सुबह दस बजे बंगले पर मुआफ़ी माँगने आ जाना!''

''जी!''

''और इस बिचारे कबीर की लाश कैसे ठिकाने लगेगी, यह योजना बनाकर लाना!''

''जी!''

हँसी के ठहाकों के बीच दासकबीर का नशा हिरन हो गया था और शरीर थरथराने लगा था।

**दासकबीर** पागलों की तरह इधर-उधर चहलकदमी करता रहा। उसे विश्वास यह हो गया था कि इस विशाल भवन के किसी अँधेरे कोने मे अबू मलंग का कंकाल पड़ा कराह रहा है। कुछ ही देर में वही कराहट उसे भयानक चीख़ों में बदलती सुनाई देने लगी थी।

उसने उछलकर दीवार फाँदी और सड़क पर आकर दौड़ने लगा। इक्का-दुक्का वाहन अभी भी आ, जा रहे थे। पर वह दौड़ता रहा। दौड़ता रहा। अचानक, वह मेरी कार से आ टकराया था।

उसके सिर पर जख़्म था और ख़ून रिस रहा था। लेकिन वह होश में था। काफी कुछ बड़बड़ाता हुआ। इसमें सब से ज़्यादा बोधगम्य एक ही वाक्य था— ''उधर! उधर! अबू मलंग का कंकाल है।'' बाकी सब बातें ऊल-जलूल और अर्थहीन-सी थीं।

उसके बोलते चलने के इस अन्दाज़ से मेरे भीतर एक ऐसा अनाम भय रिसता चला गया था जिसे आज से पहले अपने पूरे जीवन में मैंने कभी महसूस नहीं किया था। हालाँकि अपनी बाकी बची चेतना में मैंने यह भी महसूस किया था कि किसी भी व्यक्ति का कंकाल कैसे पहचाना जा सकता है। किन्तु दासकबीर की आवाज़ में बसे आत्मविश्वास से तो यही प्रतीत होता था कि उसने सचमुच ही कोई मानव कंकाल देखा है। पर फिर यही सवाल आ घेरता कि आख़िर कोई मानव कंकाल दौड़ कैसे सकता है?

बाद में, जब मैं इस कहानी के डिटेल्स पर शोध कर रहा था तो मुझे याद आया कि कार चलाते वक़्त जब मेरी नज़र दासकबीर पर पड़ी थी तो वह भी मुझे किसी कंकाल की ही तरह दौड़ता नज़र आया था। इस समय मेरे साथ कंठीराम भारद्वाज मौजूद था, और सामने किसी मदिर का शिलान्यास चल रहा था। किरपालचन्द पांडे, विवेक पांडे, फतेहसिंह डागर, दलीपसिंह भूरिया जैसे सभी लोग भगवा वस्त्रों में मंच पर विराजे 'जैश्रीराम' के नारे लगा रहे थे। तभी कर्मचन्द रोहतगी भारद्वाज जी को मंच पर ले जाने के लिए चला आया था।

दासकबीर की फिर कोई सूचना नहीं मिली, सिवाय इसके कि वह हस्पताल से ग़ायब पाया गया था। पुलिस में यह रिपोर्ट दर्ज थी कि वह बिना सूचना दिए भाग गया है। ज़ाहिर है, दासकबीर से मेरी मुलाकात फिर कभी नहीं हुई। अलबत्ता अबूमलंग के कंकाल की तरह दौड़ते जाने का वह दृश्य मेरी रातों की हर नींद में ख़लल डालता चलता है।

**6/सी-9, एस.डी.ए. हाउसिंग फ्लैट्स,**
**विकासनगर,**
**शिमला - 171 009 (हि. प्र.)**
**मोबाइल : 09816656766**

# मेरे ख़्वाबों में ज़िन्दगी भर दो!

## स्नोवा बॉर्नो

**तिलिस्मी दोस्त, एक मुद्दत हुई** तुम्हें ख़त लिखे हुए। उससे ज़्यादा अरसा हो गया तुमसे मिले हुए। तुम्हें बताये बिना माँ के साथ पोलैंड, फिर फिनलैंड गयी। यहाँ लौटकर हम लद्दाख की उसी बेमकसद यात्रा पर निकलीं। फ़िर...अब तक जो हुआ, उसे तुम्हें बताते हुए डर लगता रहा। तुम्हें फोन करने की हिम्मत भी नहीं हुई। अभी कुछ रोज़ पहले ही तो फोन को खोला है।

इसबार पोस्ट बॉक्स में ज़्यादा डाक तुम्हारी ही निकली। किताबें और चिट्ठियाँ...ज़्यादातर माँ के नाम...और अब काग़ज़ों की दुनिया के बीच में...अकेली!

आज तुम्हारे साथ बीता एक-एक पल याद आ रहा है। तुम्हारे साथ दोस्ती मेरी हुई थी, और अन्तरंगता मेरी माँ को मिली थी तुम्हारी। माँ हमेशा मुझसे ज़्यादा जीवन्त और ख़ूबसूरत रहीं। तुमने ही एक बार कहा था, ''वाइना, तुम्हारी माँ में तुमसे ज़्यादा जीवन और नशा है। उसकी संगति ही समझो कि मुझे तुमसे ख़ूब मिलते रहने के बहाने मिल जाते हैं, हालाँकि मेरी दोस्ती युवा लोगों से ही ज़्यादा रही है।''

तुम दोनों की किताबों की दुनिया...साहित्य की बातें और लेखन के साथ हिमालय की लम्बी घुमक्कड़ियाँ..

लेकिन यह भी सच है कि जब तक माँ मेरे साथ थी, तब तक मेरे हिस्से में तुम्हारे पत्र और तुम्हारा बहुत प्रेम आता रहा। हाँ, जादू... जैसा कि मैंने तुम्हारा नाम रखा था...जादू...तुमने मेरी माँ पर इतना जादू कर दिया था कि एक बार तो डैड भी हैरान रह गये थे। मैंने उन्हें तुम्हारे बारे में बताया था।

पोलैंड से उन्होंने फोन पर ठहाका लगाकर कहा था, ''तुम्हारी माँ के नसीब में पुरुष नहीं लिखा है...और स्त्रियों से तो उसकी कभी पटी ही नहीं। इस भारतीय लेखिका को, जिसे तुम जादू कहती हो, मुझसे मिलवाना; मैं देखूँगा कि इसकी मिट्टी किस ग्रह की है? भारत में यह कहाँ से टपक पड़ी? हमें खुश होना चाहिए कि कोई बला तुम्हारी माँ को ले उड़ी। ज़रूर यह लेखिका टू इन वन या ऑल इन वन है।''

और मैं पता, क्या सोचती हूँ? चलो, सिरे से बात करें। तुम कहती भी हो कि कही जाने लायक बातों को अन्दर से निकालकर, लिखकर ही भेजा करो। पहले तुम्हारी बात करूँ...

तुमने अपनी एक बात इस बार फिर दोहरा कर रेखांकित की है: ''मुझे एक लड़की चाहिए, जिसे मैं गोद-भर में नहीं, अपने पूरे जीवन में भर सकूँ...जो मुझे माँ और दोस्त समझ सके।'' कहा था न, मैं हाज़िर हूँ मेरे आक़ा... तुम्हारी नशीली गुड़िया...वाइना! एक और शरीफ़ोंवाला आसान उपाय है कि मैं तुम्हारे लिए अच्छा-सा लड़का देखूँ। क्या कहा? शादी नहीं करोगी? तो भी बाधा नहीं है। ईश्वर के यहाँ सबको खुली छूट है। उसके अपने माँ बाप ने कौन-सी शादी की थी?

तुमसे मिलना भी क्या ख़ूब रहा। उन दिनों की बात... जब मैंने तुम्हारी लिखी एक कहानी पढ़कर तुम्हें पत्र लिखा था। तुम यहाँ आयी और माँ से क्या मिली, तुम दोनों हिमालय की घुमक्कड़ियों में गुम हो गयीं। जैसे, मैं तो बीच में एक डाकिया थी।

...हाँ, तो क्या सोचती हूँ मैं? तुम्हारी जगह कोई तुम जैसा ही शानदार लेखक होता तो? तुम्हारी जगह पुरुष होता तो मैं तुम्हारे फेर में पड़ जाती और तुम माँ के...माँ तुम्हारे...?

डैड क्या कहते तब?

तुम यकीन नहीं कर सकतीं...वो नाचते! उसी तरह, जिस तरह डैड की ज़िन्दगी में दूसरी स्त्री के आने पर माँ नाची थीं। माँ और डैड कभी पति-पत्नी बन कर नहीं रह सकते थे। फिनलैंड और पोलैंड में जन्मे वंडर किन्तु रियल लोग। भारत में पनपकर भी मैं इन दोनों की स्वतन्त्रता के लिए ही सदा प्रार्थना करती रही। हो सकता है, मेरे जन्म तक ये आपस में कभी लड़े-भिड़े हों और अलग रहने का फ़ैसला किया हो, मगर सच यही है कि मैं जानती ही नहीं कि मेरे माँ-बाप क्यों एक साथ नहीं रहे और क्यों एक-दूसरे के सुख-दुख में सदा पहुँचते भी रहे?

तुम्हारी जीवन-शैली हमारे कितने क़रीब रही...इंटरनेशनल! तुम ख़ुद को बेइन्तहा चाहती हो। मेरी माँ की तरह! आज जहाँ मैं आ गयी हूँ, वहाँ से तुम्हें देखूँ तो मेरी तरह भी। अकेली होती जाती मैं...आज भी सोचती रहती हूँ कि मैं कौन हूँ? कहाँ से हूँ? उस पर तुमसे मिली वह तड़प...'क्या चाहिए मुझे?..क्यों चाहिए?...और मिल भी जाए तो?...?'

तुम्हें अपने बचपन के उस मीत, पारू, के बारे में बताया था न...मेरा अच्छा दोस्त...अचानक उसे पता चला कि मैं फ़िल्मों में जाना चाहती हूँ। उसी दिन से वह मेरी देह के प्रति आक्रामक हो उठा। हम दोनों में एक विरक्ति पैदा हुई, फिर अचानक वह कहीं चला गया...लौटा ही नहीं आज तक। मैं एक लम्बे सदमें में रही। उसका एक दोस्त, सामीन, हमारे जैसे परिवार में जन्मा गोरा इंडियन, जो मेरी उदासी से परेशान होकर उसे जगह-जगह ढूँढता फिरा, आज मेरे बहुत क़रीब है। माँ की तरह...तुम्हारी तरह। आज मेरी जो हालत है, उसे तुम समझ सकती हो...कि मुझे किसी से कुछ नहीं चाहिए। मैं किसी ऐसे आकर्षण में नहीं हूँ अब, जिसके लिए कभी तड़पती थी। न वो मन है, न वो उमंग...हाँ, अपना 'होना'

है...लेकिन मेरा यह दोस्त यही मानकर चलता है कि मैं अपने पारू के चले जाने के बाद टूट गयी हूँ।

सामीन को एक ही धुन सवार है कि वो मुझे मेरे खोये हुए मीत से मिला कर रहेगा। एक दिन मैंने उसे चौंकाया, ''यदि तुम समझते हो कि मुझे उसी की ज़रूरत है, तो मैं उससे पहले तुम्हें चुनूँगी। वह मुझसे सब कुछ चाहता था... तुम कुछ नहीं चाहते...''

मगर उसकी ज़िद कहती है: ''जो लोग ज़ख्म देते हैं, वही जानते हैं कि उन्हें कैसे भरा जाता है। उन्हीं में जबरदस्त रूपान्तरण होते हैं...वरना ज़ख़्म हरे ही रहें तो बेहतर!'' डैड की लम्बी बीमारी के दिनों में जब माँ पोलैंड चली गयी, तो सामीन का बहुत सहारा रहा। लेकिन कल जब वह मिला तो बहुत परेशान लगा। जैसे कुछ कहना चाहता हो, पर कह नहीं पा रहा। मैंने उसे आज मिलने को कहा है। मैंने एक फ़ैसला किया है...

तुम्हारी तरह अद्भुत और साहसिक नहीं हूँ, लेकिन अकेले हो जाने के बाद अपने लिए बहुत चौकस हो गयी हूँ। हालाँकि अपने में डूबी हुई...कुछ न कुछ लिखती हुई। नर-नारी के विकासमान सम्बन्धों, मन के अज्ञात क्षेत्रों और अपनी चेतना की खोज-ख़बर पर लिखना अच्छा लगता है। अपने और दूसरों के भरोसे तोड़ने और किसी भी अज्ञात सफ़र में निकल पड़ने का मन होता है। माँ ने मेरे लिए खुले रास्ते बना दिये हैं। मैंने यहाँ देखा है, रूपसियों को या तो उनके घर के लोग जीवन के सफ़र में आँगन या पास के बाज़ार से आगे कहीं जाने नहीं देते, या वे स्वयं ही रुई में बन्द पड़ी रहकर छोटे दायरे में बड़े 'सुख' लूट लेती हैं।

तुम्हारी बात और ही है...निशान छोड़े बिना सिर्फ़ धरती नहीं नापती हो, तुम अपने और दूसरों के कितने ही भाव-समन्दर बिना भीगे पार कर लेती हो। इमोशंस जैसे तुम्हारी चाकरी के लिए हैं, तुम्हें तरंगित करने के लिए नहीं। यह तुम्हारा कर्स है या ब्लिस, मैं नहीं जानती, पर जो तुम्हारी निकटता पाते हैं, वे आनन्दित होते हैं।

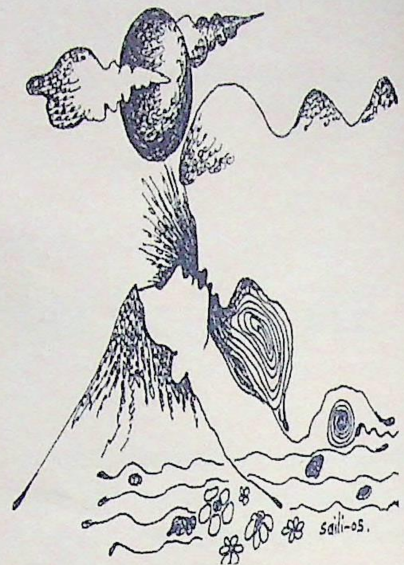
तुम्हारी और मेरी कहानियों पर इधर-उधर कुछ छपने लगा है। किसी ने लिखा है कि जब तुम्हारे इकतारे वाला संगीतमय अफ़साना किसी अंजाम तक नहीं पहुँच पाता तो सहसा 'एक ख़ूबसूरत मोड़' लेकर नयी धुन में छुट्टी पा लेता है, भले ही उसमें कितना भी गहरा सन्देश हो। लम्बे और सीधे सफ़र के बाद सहसा एक निराला पड़ाव और फुलस्टॉप। तुम्हारी नायिका हमेशा 'प्रथम पुरुष' होकर अपने बारे में तो बोलती ही है, नायक के मनोजगत की पड़ताल भी स्वयं करती जाती है। अन्तत: लड्डू तुम्हारे ही दोनों हाथों में देखकर उन्हें झपट लेने का मन होता है टनाटन! हम दोनों के काम की कुछ बातें और पढ़ने में आयी : जादुई भाषा में इन आफ़तों को अद्‌भुत कहानी कहना आता है। परिवार, समाज और राजनीति के इलाके में पूरी अनपढ़ हैं। इनकी जीत यह है ये स्त्री-पुरुष और समाज के बाहरी पचड़ों में नहीं पड़तीं और उन्हें उनके बुनियादी स्वभाव की याद दिलाती हैं।

माँ तुम्हें एक रहस्य की तरह देखती रही। तुम्हारे लिखे को नहीं, सीधे तुमको देखती रही। तुमने उससे भी माँगी थी अपने लिए एक लड़की, जो तुम्हारी हमसफ़र और हमराज़ भी बन सके। माँ ने मुझसे कहा था कि कश्मीर के झगड़ों में कितनी ही लड़कियाँ आज अनाथ हो रही हैं, जिन्हें सच में गोद चाहिए। वह होती तो...ओह, माँ... ठहरो, जादू...लिखा नहीं जा रहा है... आँखों में धुन्ध...

जादू...अब जान ही लो। तुम्हारी सबसे प्यारी सखी... मेरी माँ... अब इस दुनिया में नहीं है।

डैड उससे तीन महीने पहले चले गये थे। दोनों की मरजी थी कि उनके जिस्म दफ़नाने की बजाय जलाये जाएँ और मैं उनकी चिता को अग्नि दूँ। पहली बार मैंने जिस्मों को पंचतत्त्वों में विलीन होते देखा...राख होने के अर्थ जाने। समय रहते ख़ुद को राख की तरह जानना। मेरे सामने इस वक़्त तीन शीशियाँ हैं; एक में डैड, दूसरी में माँ...तीसरी में दोनों। एक-एक चुटकी व्यास नदी को दे आयी थी...उसी जगह... जहाँ हम दोनों चाँदनी रातों में देर तक बैठती थीं।

जिन रिश्तों में बोझ नहीं होता, वह कभी नहीं मरते। मैंने देखा है, लोग ढोते हैं और खुश होने के ढकोसले भी कर लेते हैं। कितने ही लोगों के लिए यह भी कितना बड़ा तप है। ऐसे




तपस्वियों से बनी इस दुनिया में हम रहने का जुगाड़ कर लेते हैं, यह भी चमत्कार है! वरना 'कब से हूँ क्या बताऊँ जहान-ए-ख़राब में; शब्व-ए-हिज्र को भी रखूँ अगर हिसाब में!' सच तो यही है कि एक भी लौ बचे तो अपना काम हो जाता है। मनुष्यता की आड़ मे गन्धाती यह दुनिया ख़ूबसूरत हो उठती है। तुमसे सीखे हुए ग़ालिब को थोड़ा और गाऊँ तो इस तरह बात बने : 'रहने दो अभी सागर-ओ-मीना मेरे आगे...' हालाँकि 'बाज़ीचए- अतफ़ाल है दुनिया मेरे आगे...'

तुमसे मिले हुए दो बरस हो गये। लेकिन पिछले सात महीने तो मैं अपनी पूरी दुनिया से ही कटी रही। किसी को कुछ बताने का मन नहीं था। अपने दुख से हम सबसे पहले उन्हीं की रक्षा चाहते हैं, जो हमारे लिए दौड़े चले आते हैं। मैं पहले तो माँ और डैड के देश में घूमती रही। जब कुछ सँभली तो दूर-दूर रहनेवाले उनके अजनबी भाई-बहनों को तलाश किया। कुछ मिल गये तो उन्हें अपने बारे में बताया। जिस स्त्री को मैं डैड की दूसरी पत्नी समझे हुए थी, वह उनकी मित्र निकली। उसने वहाँ मेरी बहुत मदद की। सबने ज़िद की कि मैं उनके साथ रहूँ, मगर जानते वो भी थे कि यह मुमकिन नहीं। अपनी घाटी को कैसे छोड़ सकती हूँ? चली आयी। माँ ने लीज़ पर जो होटल ले रखा था, उसे पहले उनके कर्मचारी सँभालते थे, अब मुझे ही सारा प्रबन्ध देखना

होता है। पर्यटन में गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा आ गयी है। तुम चकित हो जाओगी सुनकर कि अब मैं अकेली सारे काम सँभाल रही हूँ। महीनों रहनेवाले ख़ास लोगों के लिए ख़ास 'सेल्फ़ मैनेजिंग' व्यवस्था। एडवांस लेकर सिर्फ़ जगह देती हूँ और अपने साथ हो लेती हूँ।

तुम्हें पता है, बर्फ़ के दिन यहाँ बहुत ख़ूबसूरत होते हैं...तुम्हारे उस प्यारे नग़मे की तरह : 'जाड़ों की नर्म धूप और आँगन में लेटकर...वादी में गूँजती ख़ामोशियाँ सुनें...' हाँ, वही, फ़ुर्सत के रात-दिन! लेकिन जो फ़ुर्सत मेरे हाथ लगी है, वह मुझे मार डालती है... जादू, तुम चली आओ मेरी दुनिया में। लगता है, माँ की रूह पहाड़ों में तुम्हें ढूँढती है। तुम्हारी देह का घर चाहिए उसे। तुम आओगी तो उसे कुछ देना नहीं पड़ेगा, अपने आप मिल जाएगा। कितनी तृप्त होगी वह हमें साथ देखकर! यह मेरा वहम भी हो सकता है, लेकिन यह कैसे हो सकता है कि यह सृष्टि तो अनन्त हो, और मनुष्य की चेतना नश्वर? देखना, हम दो में से किसी एक के गर्भ में आएगी वो...या कौन जाने हमारे आसपास कहीं आ चुकी हो और हमारी आहट पाना चाहती हो।

सपने में एक बार बोली, "जादू चोर है। वह सबके दिल चुराती है और अनजान बनी रहती है...बहुत मुक्त दिल की है, पर बहुत कंजूस है... किसी भी वृक्ष से फल चुरा सकती है, किन्तु उस पर लता-सी लिपटकर महक नहीं सकती। अपनी डाल सदा हरी रखती है, ताकि उस पर सुन्दर परिन्दे उतरते रहें। ज़रूरत और एहतियात हैं ये उसके, स्वभाव नहीं... इमोशंस की नदी है वो..."

फिर कई रातों तक वह हम दोनों को सम्बोधित करके ऐसी-ऐसी बातें कहती रही जो मेरे लिए बहुत नयी थीं। सपना टूटते ही मैं उन बातों को नोट कर लेती थी। वह कुछ ऐसे शब्द कह रही थी : "ओ, शोख़-सदाबहार लड़कियो! सारे संवेगों, देह-ज्वारों और आसक्तियों को न सिर्फ़ बनाये और नवरूपों में सजाये रखती हैं हम, बल्कि उन्हें सृष्टि-स्वभाव में विकसित और प्रस्फुटित भी होने देती हैं। जिस धागे में यह सब हमने पिरो रखा है, उसे ही सँभालना है। महारास का हिस्सा बने रहने के लिए अतिरिक्त अभ्यास या प्यास नहीं है हमारे पास! अतिरिक्त से पार हैं हम! असाध्य हैं हम! घर-घुसड़ जीवन जीने के लिए पसीने बहाने वालों की छाया से ही बचकर रहना है। धरती पर रहो, उसमें गड़ो नहीं...आकाश में हैं हमारी धरती के पंख। हमें 'उड़ती हवाओं वाले' प्रियतमों के तन-मन छूने हैं। इस छुअन के बिना कोई भी डाल हरी नहीं होती; न ही कोई श्वास सुवास देती है। कोई सरस साथ और सबल हाथ तुम्हें मिलेगा...पहचानना!"

पता नहीं मेरे सपनों में ये कैसे शब्द आ रहे थे? माँ के माध्यम से...या मेरे ही किसी दबे-ढके या भूले-बिसरे घर से? देखो तो, क्या छिपा हुआ होगा इन अटपटे वाक्यों में...

"कुछ रूहें तड़पती हैं देह बनने के लिए, जिसे वे तुम दोनों को दे सकें, तुमसे तुम्हारा ले सकें। नामुमकिन सी शोख हसीनाएँ हो तुम...एक-दूसरी को सिर-आँखों पर लेकर नाचो..."

मैं जानती हूँ, सपने में माँ जो कुछ कहती रही, उसमें कहीं मेरा अवचेतन भी शामिल है...या फिर आज मैं माँ को पहले से ज़्यादा अपने पास पाती हूँ। पता नहीं सपनों की इन बातों को मैं पूरी तरह पकड़ पायी या नहीं, मगर लेह के सैनिक अस्पताल में जिस्म छोड़ने से पहले वह तुम्हारे लिए तड़प रही थी और तुमसे बातें करती रहती थी। मैंने उसे बताया कि मैं जादू को बुलाने जा रही हूँ तो उसने मुझे रोक कर कहा, "मैं कुछ देर में जाने वाली हूँ। उसको मेरे मरने की ख़बर तब देना, जब तक ख़ुद अच्छी तरह सँभल जाओ। उसके अपने भीतर कौन सी कम पीड़ाएँ छिपी हैं?"

फिर माँ ने मुझे तुम्हारी एक मनपसन्द ग़ज़ल गाने को कहा:

*'अपनी आँखों के समन्दर में उतर जाने दे,*
*तेरा मुजरिम हूँ मुझे डूब के मर जाने दे।*
*आग दुनिया की लगायी हुई बुझ जाएगी,*
*कोई आँसू मेरे दामन में बिखर जाने दे...'*

मैं गा चुकी तो उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा, "उसने अपने विरह को इतना निजी, अज्ञात और कलात्मक बना लिया है कि उसे नहीं समझ पाने में ही उसके अज्ञात विरह की गरिमा है। अनबूझ बावरी है वो! दिव्य...डिवाइन की दीवानी।" माँ रह जाती तो पता नहीं तुम दोनों कितने आकाश लाँघती! मैं तो देखती ही रह जाती...

जादू...बाहर कोई आया है... शायद सामीन है...बाकी बाद में लिखूँगी...

क़रीब चौबीस घंटे के बाद मैं दोबारा लिखने बैठी हूँ। एक रात और एक दिन में बहुत कुछ घट गया...

कल जब दरवाज़ा खोला तो देखा, वो खड़ा है। उसके हाथ में कोई छपा हुआ कागज़ था। अन्दर आकर उसने मुझे अख़बार की कटिंग पर निशान लगी एक ख़बर और फोटो दिखाया। यह पारू के मर जाने की ख़बर थी। दस महीने पहले की ख़बर। उसकी लावारिश लाश बनारस के एक घाट पर गंगा की लहरों से टकराती मिली थी।

मुझे अविचल देखकर सामीन हैरान था।

"सामू, मैं अख़बार नहीं पढ़ती और शायद यह अख़बार यहाँ मिलता भी नहीं, इसलिए तुमने और पारू के माँ-बाप ने सोचा होगा कि मुझे अँधेरे में रखा जा सकता है... जबकि मुझे मेरी एक सहेली ने फोन करके इस ख़बर के बारे में बता दिया था और यह कटिंग भी भेजी थी।"

वह स्तब्ध था : "और तुम...?"

"नहीं, सामू...मैं अपनी ही तरह से चीज़ों को लेती हूँ। मैं नहीं मानती कि किस्से इस तरह से ख़त्म हो जाते हैं..."

"मैं भी चाहता हूँ...पारू लौट आए... यह ख़बर ग़लत हो..." कुछ देर वह ख़ामोश बैठ रहा, फिर उठ कर चल पड़ा।

मैंने उसकी बाँह पकड़कर उसे सोफे पर खींच लिया। वह हैरत से मुझे देखने लगा।

उसका चेहरा अपने हाथों में भरकर मैंने अपनी आँखें उसकी परेशान आँखों से मिलायी और कुछ तल्ख़ी से बोली, "कहा न... क़िस्से इस तरह से ख़त्म नहीं हो जाते! मुझे सच-सच बताओ..."

"मैं उसके बारे में और कुछ नहीं जानता..." वह विचलित हो गया।

"उसके बारे में नहीं पूछ रही हूँ...वह लौट भी आएगा तो मुझे अच्छा लगेगा। तुम अपनी बताओ..."

"..."

"उस रोज़ से मुझे चाहते हो, जिस रोज़ तुमने पहली बार मुझे देखा था...कहते कुछ

नहीं थे। फिर मेरे लिए पारू की दीवानगी देख कर और भी ख़ामोश हो गये थे...''

''वाइना, प्लीज़...मुझे ख़ामोश ही रहने दो...''

''तो रहो न ख़ामोश...मेरे पीछे क्यों पड़े रहते हो?'' मैंने उठते हुए कहा, ''जाओ...तुम भी जाओ...ख़ुद को धोखा दो और मुझे भी...दोबारा मुझसे यह न पूछना कि मैं किस हाल में हूँ...बना लो अपने लिए एक बन्द गुफा... और मैं...मैं भी क्यों नहीं बना सकती? सम्भावना नहीं होने पर भी हमें पारू का इन्तज़ार है...मान लो उसे कभी न कभी आना ही है...अगले जन्मों में ही सही...तो क्या हम दोनों उसे एक-दूसरे में कुछ और अच्छी उमंग के साथ जी नहीं सकते?''

वह चुप रहा। मैं वहाँ से हटने लगी तो उसने मुझे थाम लिया। हम घंटा भर बिना बोले एक-दूसरे के आँसुओं और आवेगों को महसूस करते रहे।

शाम ढल रही थी। मैंने उसे धीरे से अपने सीने से हटाया और ताला-चाबी लेकर सामने खिड़की के रास्ते बाहर निकल गयी। दरवाज़े पर ताला लगाकर खिड़की से भीतर आयी। परदे फैलाकर अपना और उसका सेलफोन बन्द कर दिया। हमने कॉफ़ी पी और फिर मिलजुल कर खाना पकाने में लग गये। मैंने बेडरूम को सजाया और कम्प्यूटर को एक टचिंग संगीत पर ले आयी। हम नहा-धोकर खाना खाने बैठे। मेरी शर्ट और पतलून उस पर सही आ गयी थी वह हँसता हुआ खुद को आईने में देखने चला गया।

''ख़ुद को ही देखते रहोगे?'' बहुत धीमी आवाज़ में मैंने पीछे जाकर कहा तो वह मेरी तरफ़ मुड़ा। मैं उसी के दिये हुए उन कपड़ों में थी, जो मैंने आज तक नहीं पहने थे। उसने मुझे बाँहों में उठा लिया।

जादू, एकबार तुमने कहा था कि जिस तरह जीवन को अपने रास्ते बहने देना चाहिए, वैसे ही जीवन से जुड़ी अहम घटनाओं को अपने हाथ से प्यारे रुख़ देने चाहिए। मैंने यही किया। हालाँकि पारू के मर जाने की ख़बर को ग़लत मानकर कितने ही दिन मैं भीतर ही भीतर पुकारती रही थी, 'लौट आओ, पारू...'

जितनी सच्ची यह पुकार थी, उतनी ही सच्ची पिछली रात थी।

मेरे चरम भावावेग में सामीन मुझे कुछ बताना चाहता था। कुछ ऐसा जिसे सुनकर शायद मैं ठिठक जाती।

''एक भी शब्द नहीं सुनूँगी... चाहे तुम भी कल से सदा के लिए ग़ायब हो जाओ...''

उसकी संजीदगी सहसा मुस्कराहट में बदली तो मेरे भीतर छिपा हुआ संशय हटा।

सुबह उसने बताया, ''मैं तुम्हारे साथ पति बनकर नहीं रह सकता... किसी भी लड़की के साथ नहीं...''

मैं हँसी, ''पागल...ठीक यही मैं कहने वाली थी। सभी लोग पति-पत्नी होने के लिए नहीं बनते। दोस्ती, प्रेम, सहयोग और सम्मान भी कोई चीज़ है कि नहीं? जिन अधिकांश लोगों को पति-पत्नी बनकर रहना होता है, उनमें भी हमारी तरह के लाखों लोग होते हैं।''

फिर मैंने उसे हँसाया, ''हालाँकि उससे भी बड़ी संख्या उन लोगों की है, जो जन्म से ही शादीशुदा लगते हैं। गधे बनने के लिए शादी करना ज़रूरी नहीं है।''

आज हम दोनों तुम्हारी और माँ की बातें करते रहे। सामीन ने जाते-जाते कहा, ''वास्तविक चीज़ें अचानक मिलती हैं... तुम इमोशनल होकर जादू से कुछ मत माँगना।''

मैं उसे दरवाज़े तक छोड़ने गयी तो बोला, ''सच्चे रिश्ते अकसर दिखते नहीं, निभ जाते हैं।''

मैंने लपककर उसे कुछ देर के लिए भीतर खींच लिया, ''बहुत अच्छे हो...शादी करोगे मुझसे?''

वह मेरी गिरफ़्त से छूट कर, अपने होंठों और बालों को सलीके पर लाते, दूर हटा। फिर हँसा, ''जादू हो तुम भी!''

जाते-जाते बोला, ''तुम दोनों जादूमन्तर जब कहीं घूमने निकलोगी, तो मुझे साथ लेना मत भूलना। तुम्हारी माँ का कुछ अंश मेरे भी हिस्से में आ गया है।''

और अब माँ की बातें, जो उसने अपनी आख़िरी साँसों से पहले कही थीं :

''अपने भीतर के पुरुष को साधना। वह हर नारी में रहता है। स्त्री की आँखों की मस्तियों और उनमें छलकते पैमानों को हमारा पुरुष भी देखता है। हमारे होंठों पर पसरी रहने वाली ख़ामोशियों और उनके पीछे मचलती कथाओं को प्रायः पुरुषों ने ही गाया है, जबकि हमारा अपना 'पुरुष' उन्हें ज़्यादा क़रीब से पढ़ सकता है...मीरा की तरह। पुरुष के मामले में भी यही सच है। उसे अन्ततः अपने भीतर की नारी से ही तो मिलना है। वहीं हम पूरे होते हैं। बाहरी कलाओं का अन्त है यह!

''ऐसे 'अज्ञात' होना है हमें कि मुसव्विर सिटपिटा जाएँ। अगर किसी गीत ने हमें गा दिया तो वह अपनी तड़प को तूफ़ान देकर रह जाए। किसी भी साज़ पर नहीं गाया जा सकता हमारा नग़मा! एक ऐसे पते की ज़रूरत पड़ती है हमें, जहाँ से हम गाएँ और सुनने वाले को हमारी झलक भी न मिले...''

अब वह बात, जिसे माँ ने हमेशा अपने सीने में दफ़न कर रखा था। समझो कि तुम्हें जिस लड़की की तलाश थी, उसकी बात है। माँ के अन्तिम दिनों में लेह में एक पन्द्रह साल की कश्मीरी लड़की, सुनेहा बराबर हमारे साथ रहकर माँ की देखभाल करती रही। उसने मेरा भी बहुत ख़याल रखा। अपने नाम जैसी ही लगी वो।

एक दिन वह हमारे पास बैठी थी तो माँ ने कहा, ''सुनेहा तुझे अपनी बड़ी बहन मानती है... तुझे कोई ऐतराज़ तो नहीं?''

मैंने पहली बार सुनेहा को ध्यान से देखा। वह सहम गयी। मैंने लम्बी-लम्बी उँगलियोंवाले उसके नाज़ुक हाथ अपने हाथ में ले लिये। वह सहसा रो पड़ी संकोचवश उठकर चली गयी। मुझे लगा कि उसमें कहीं मेरा रूप भी मिला है।

''यह उसी व्यक्ति की बेटी है, जो कश्मीर से तुझे नयी-नयी चीज़ें भेजता था।''

''कैप्टन बशीर अंकल...जो आतंकियों के हाथों मारे गये थे?''

''हाँ, वही। इस लड़की की माँ तो पहले ही गुज़र गयी थी। यहाँ अपनी मौसी के साथ रहती है, जो मुझे पहले से जानती है। उसी के साथ मुझे देखने आयी थी...अब रोज़ आती है।''

माँ किसी उलझन में थी। मैं किसी भेद के खुलने की आहट सुनने लगी।

''तुम्हें बताया था न...विवाह के बाद जब मैं पहली बार लद्दाख गयी थी तो एक अभियान में बर्फ़ के तूफ़ान में फँस गयी थी...''

''और बशीर अंकल ने आपको बचाया

था..."

"हाँ, इतना ही बताया था तुझे..आज पूरी बात बताती हूँ। बहुत दूर जहाँ मैं भूखी-प्यासी फँसी हुई थी, जान की बाज़ी लगाकर उसने मुझे ढूँढ निकाला था। वह सारी ज़रूरी चीज़ें और दवाएँ लेकर पहुँचा था। उस अजनबी मददगार को देखते ही मुझमें जान पड़ गयी थी। भारी बर्फ़बारी के बीच तूफ़ान थमने का नाम नहीं ले रहा था। हेलिकॉप्टर का पहुँचना नामुमकिन था। बड़ी-बड़ी चट्टानों की आड़ में तम्बू गाड़कर उसने मुझे बचाया। उसे भी ठंड ने जकड़ लिया था। हम घंटों एक-दूसरे की गोद में पड़े रहते। रात को कड़ाके की ठंड में हमारे जिस्म सटे रहते। जिस्मों की गर्मी ने ही शायद हमें बचाये रखा। बशीर के आने के चौथे दिन आसमान साफ़ हुआ। हम बाहर निकले तो सेना के हेलिकॉप्टर को अपनी ओर आते देखा। हम ख़ुशी से चीख़ते हुए अपने शॉल हवा में लहराने लगे।"

"बशीर मुझे घर तक छोड़ने गया था। उसके बाद हम कभी नहीं मिले। जब उसे किसी से पता चला कि मैंने एक बेटी को जन्म दिया है तो वह तुझे तेरी उम्र के हिसाब से उपहार भेजता रहा। मैं नहीं जानती कि मरने से पहले कैप्टन बशीर ने अपनी बेटी या किसी और को क्या बताया होगा, लेकिन मैं तुझे बता देने के बाद ही मरना चाहती हूँ कि तू चाहे मुझ पर ज़्यादा गयी है, पर तेरे भीतर बशीर भी मौजूद है। उसकी यह बेटी तुम्हारे और जादू के लिए मेरा ही एक अग्रिम जन्म है... पूर्वजन्म..." ये माँ के अन्तिम शब्द थे।

सुनेहा को मिली सरकारी मदद का फ़ायदा रिश्तेदारों ने ही उठाया होगा। इसके पिता की एक वसीयत मेरे हाथ लगी। अब सुनेहा हमारे साथ ही रहेगी। उसकी पढ़ाई-लिखाई काफ़ी अरसे से रुकी हुई थी। आजकल वह शिमला में पढ़ रही है। मैं उसे तुमसे मिलाने को बेचैन हूँ। उसकी ज़िन्दगी हम उसी के सपनों पर रचेंगे। है न? ...आँखें उमड़ रही हैं... अच्छा...

तुम्हारी वही, मगर...नयी-नयी वाइना।

**फिनपोल हाउस,**
**पोस्ट बॉक्स-81, मनाली-175131**
**हिमाचल प्रदेश**

## पुस्तकें मिलीं

**स्मृतियाँ** (कहानी संग्रह): हिमांशु जोशी, प्रकाशक : आलेख (दिल्ली), मूल्य : 220 रु.

**कुछ अनकही** (उपन्यास): मृदुला बिहारी, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस (जयपुर), मूल्य : 450 रु.

In Defence Of People And Poetry (letters) : Sheshendra Sharma, Publisher : Jyotsna Publications (Hyderabad), Price : 75/-

**हिन्दी, उर्दू और मराठी ग़ज़लों में छन्दों की योजना** (प्रबन्ध): डा. अजीज नदाफ, प्रकाशक : सुविद्या प्रकाशन (सोलापुर), मूल्य : 250 रु.

**मौसम भर यादें** (कविता संग्रह): हुस्न तबस्सुम 'निहां', प्रकाशक : सुकीर्ति प्रकाशन (कैथल), मूल्य : 80 रु.

**हैवनली हेल** (कहानी संग्रह): नीलम कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक : शिल्पायन (दिल्ली), मूल्य : 150 रु.

**1. ठहरा हुआ एहसास 2. ज़िद मछली की 3. किन्हीं रात्रियों में 4. कार्तिक का पहला गुलाब** (कविता संग्रह): इला कुमार, प्रकाशक : समय प्रकाशन (नयी दिल्ली), मूल्य : क्रमशः 60, 40, 60, 40 रु.

**अंतिम पड़ाव** (कहानी संग्रह): राजेन्द्र कुमार शर्मा, प्रकाशक : साहित्यागार (जयपुर), मूल्य : 100 रु.

**दो प्रेमी** (उपन्यास): सर ह्यू सेमौर वालपोल (अनुवाद : रामदत्त पंत-महेश दर्पण), प्रकाशक : अयन प्रकाशन (दिल्ली), मूल्य : 200 रु.

**जेठ की तप्त** शिला (कविता संग्रह): कीर्तिनारायण मिश्र, प्रकाशक : सरला प्रकाशन (दिल्ली), मूल्य : 100 रु.

**सन्नाटा चीरते शब्द** (कविता संग्रह): डॉ गिरिजाशंकर शर्मा, प्रकाशक : प्रख्यात प्रकाशन (बीकानेर), मूल्य : 40 रु.

**सावधान.....कमज़ोर है** (व्यंग्य संग्रह): कृष्ण गोपाल सिन्हा, प्रकाशक : रामपुर राज लाइब्रेरी (रामपुर, उ.प्र.), मूल्य : 250 रु.

**बहुत नर्म चादर थी जल से बुनी** (कविता संग्रह): नरेश चन्द्रकर, प्रकाशक : परिकल्पना (लखनऊ), मूल्य : 60 रु.

**नवगीत की विकास यात्रा** (आलोचना): माधव कौशिक, प्रकाशक : हरियाणा साहित्य अकादमी (पंचकूला), मूल्य : 160 रु.

**अबाबील मधुमालती और तुम** (कहानी संग्रह): राधे मोहन राय, प्रकाशक : अयन प्रकाशन (नयी दिल्ली), मूल्य : 225 रु.

**संगम** (कविता संग्रह): डॉ अंजना संधीर, प्रकाशक : पार्श्व पब्लिकेशन (अहमदाबाद), मूल्य : 375 रु.

**प्रवासिनी के बोल** (कविता संकलन) : सं. डॉ. अंजना संधीर, प्रकाशक : पार्श्व पब्लिकेशन (अहमदाबाद), मूल्य : 400 रु.

**तुम्हारे लिए** (ग़ज़ल संग्रह) : डॉ इन्दिरा अग्रवाल, प्रकाशक : कश्ती प्रकाशन (अलीगढ़), मूल्य : 50 रु.

**खोई हुई मुस्कान** (कहानी संग्रह) : राजेश 'कमाल', प्रकाशक : चिन्मय प्रकाशन (जयपुर), मूल्य : 95 रु.

**घरों से घिरी दुनिया** (कविता संग्रह) : सवाई सिंह शेखावत, प्रकाशक : रचना प्रकाशन (जयपुर), मूल्य : 160 रु.




# कुड़ीमार*

## ओमप्रकाश तिवारी

**वह नहर के किनारे खड़े** होकर उसमें बहते पानी को बड़े गौर से देख रहा है। उसे देखकर लगता है कि उसकी कोई चीज़ पानी में खो गयी है। नहर का गन्दा पानी मन्थर गति से बह रहा है। नहर जोकि शहर के बीच से निकलती है, किसी गन्दे नाले की तरह हो गयी है। उसमें लोग कूड़ा-करकट भी फेंक देते हैं। हालाँकि उसका पानी सिंचाई के लिए है। वह अकसर यहाँ आकर खड़ा हो जाता है और घंटों नहर के पानी को बहते हुए देखता है। फिर अचानक चिल्ला पड़ता है। 'हाँ... हाँ... मैं कुड़ीमार हूँ... मैंने कुड़ी मारी है... लेकिन सभी कुड़ीमार हैं...। वो शर्मा, कोहली, ढिल्लन, ढिल्लो, कपूर, चावला, मिश्रा, पांडेय, यादव सभी कुड़ीमार हैं...।'

यह कुलदीप सिंह है। कुछ ही दिन पहले जेल से छूटकर आया है। तब से अकसर इस तरह बोलता रहता है। उसे लगता है कि उसके कान के पास कोई 'कुड़ीमार...कुड़ीमार...' कहता रहता है। वह काफ़ी देर तक इसे बरदाश्त करता है, लेकिन जब सहन नहीं होता तो चीख़ पड़ता है— 'हाँ... हाँ, मैं कुड़ीमार हूँ... कुड़ीमार हूँ...।'

लोग समझते हैं कि जेल में रहकर उसका दिमाग खिसक गया है। वह पागल हो गया है।

दरअसल, वह नहीं चाहता था कि उसे तीसरी बेटी हो। बेटे की चाहत में उसकी पत्नी कुलवन्त कौर एक बार फिर उम्मीद से हुई तो...? यह सोचकर वह परेशन रहता।

कुलदीप सिंह को लड़कियों से न तो चिढ़ थी न ही वह इनसे नफ़रत करता था। वह अपनी दोनों बेटियों को बहुत प्यार करता था। वह लोगों से कहता भी था कि हमारी बेटियाँ ही बेटा हैं। इन्हीं को पढ़ा-लिखाकर बड़ा करना है। किसी काबिल बनाना है। आजकल बेटे-बेटी में कोई फ़र्क़ नहीं है। जो काम बेटे करते हैं, वही बेटियाँ कर रही हैं। बल्कि लड़कियाँ दो कदम आगे हैं। वह गर्व से कहता कि सानिया मिर्ज़ा को देखो। माँ-बाप का ही नहीं, पूरे देश का नाम रोशन कर रही हैं। सवाल मौका, अवसर, समानता और आज़ादी मिलने का है। लड़कियों को भी यदि लड़कों जैसा महत्त्व दिया जाए। आजादी दी जाए। वैसी ही परवरिश की जाये तो वे भी सब हासिल कर सकती हैं, जो लड़के करते हैं।

अपनी इसी सोच की वजह से वह तीसरा बचा पैदा करने के हक में नहीं था। लेकिन उसकी घरवाली और माता-पिता चाहते थे कि एक बेटा पैदा हो जाए। बेटा नहीं होगा तो बुढ़ापे का सहारा कौन बनेगा? वंश कौन चलाएगा? इन सवालों का जवाब वह केवल इतना कहकर देता कि जमाना बदल गया है। लड़कियाँ क्या नहीं कर रही हैं! लेकिन हर कोई उसके तर्क को ख़ारिज कर देता और वह हार जाता।

वह अपनी पत्नी से कहता कि हमारी आर्थिक स्थिति एक और बच्चे की इजाज़त नहीं देती। बच्चों का पालन-पोषण और पढ़ाई-लिखाई कितनी मुश्किल होती है, तुम अच्छी तरह से जानती हो। पहले ही घर की सारी जमा-पूँजी अपनी पाँच बहनों की शादी करने में गँवा चुका हूँ। उसकी पत्नी उसकी बातों को ध्यान से सुनती और चुप रहती। वह भी सोचती कि कह तो ठीक ही रहे हैं। लेकिन वह एक बेटे की इच्छा को दबा न पाती। दूसरी ओर पति की बात से सहमत भी थी। यही कारण था कि उसने बेटे के लिए कभी जिद नहीं की, लेकिन परिवारवालों का दबाव और पड़ोसियों का तंज उससे बरदाश्त न होता। उसे 'निपूती' कहा जाता तो वह तिलमिला उठती। वह तो लोगों को सुनाती हुई कहती भी कि दो-दो फूल जैसी बच्चियों को पैदा किया है। बाँझ नहीं हूँ। कहनेवाले पहले अपनी तरफ देखें! लेकिन इससे उसके दिल को तसल्ली न होती। उसे भी लगता कि बिना बेटे के जीवन निर्वाह मुश्किल होगा। बेटियाँ तो अपने घर चली जाएँगी। फिर उनका क्या होगा? वह तो बुढ़ापे में अकेले ही रह जाएँगे। कुलदीप सिंह के पिता करतार सिंह एक मामूली किसान थे। लेकिन उन्होंने तीन बेटे और पाँच बेटियाँ पैदा कर दीं। इतने बच्चों को पाल-पोस कर बड़ा करने और उन्हें किसी काबिल बनाने में ही सारी ज़मीन बिक गयी। आज कुलदीप के सभी भाई एक अदद नौकरी के मोहताज हैं। ज़मीन बिकने, गाँव छोड़ने का दर्द और मज़दूर बनने की पीड़ा कुलदीप के ज़ेहन में नसूर बनकर रह गयी है। जब भी इनकी याद आती है, वह तड़प उठता है और लम्बी साँस लेकर कहता है कि काश! पिता जी इतने बच्चे न पैदा किये होते..।

एक हादसे में चोट लगने के बाद कुलदीप सिंह के पिता ने चारपाई पकड़ ली तो बहनों की शादी की ज़िम्मेदारी तीनों भाइयों पर आ गयी। सभी ने मिलजुल कर अपनी औकात से अधिक खर्च करके बहनों का विवाह किया। लेकिन एक भी बहन अपने घर खुश नहीं है। एक का तलाक हो गया। एक ने ससुरालवालों से प्रताड़ित होने के बाद आत्महत्या कर ली। बाकियों की

ज़िन्दगी भी खुशहाल नहीं है। इनकी वजह से भी कुलदीप को बहुत पीड़ा मिलती है। वह सोचता है काश! वह इतनी बहनों का भाई न होता...। अभी उसे अपना दुख और बहनों का भी दुख सहना पड़ता है। इन्हीं सब कारणों से उसने तय किया था कि वह दो बच्चे ही पैदा करेगा। चाहे बेटा हो या बेटी। लेकिन दो बेटियों के बाद जब उसे तीसरे बच्चे को इस दुनिया में लाना पड़ा तो वह विचलित हो गया।

एक दिन उसने अपनी चिन्ता अपने एक दोस्त को बताई। दोस्त ने सलाह दी कि वह लिंग परीक्षण करवा ले। यदि लड़की हुई तो गर्भपात करवा दे। कुलदीप को दोस्त की बात अच्छी नहीं लगी। वह गर्भपात के पक्ष में कभी नहीं रहा। उसकी नजरों में यह एक हत्या और पाप है। वह यह पाप नहीं कर सकता। लेकिन उसके पास इसके अलावा दूसरा रास्ता यही था कि वह बच्चे को इस दुनिया में आने दे।

उसने इसकी चर्चा कुलवन्त कौर से की, तो उसने भी झिड़क दिया। बोली, ''यह क्या फालतू का सोचते रहते हैं आप? कुड़ी हो या मुंड़ा, है तो अपना ही ख़ून ना? उसकी हत्या हम कैसे कर सकते हैं?''

''लेकिन यदि फिर बेटी हो गयी तो? कुलदीप ने अपनी आशंका प्रकट की।''

''तो पाल-पोस लेंगे। यदि एक बेटा पाल-पोस सकते हैं तो एक और बेटी क्यों नहीं? लेकिन गर्भपात कभी नहीं।'' कुलवन्त ने पूरी गम्भीरता से अपना निर्णय सुना दिया। इससे कुलदीप परेशान हो गया। उस समय तो वह चुप्पी लगा गया, लेकिन कुछ ही दिन बाद वह फिर गर्भपात के मुद्दे पर आ गया। इस बार भी मियाँ-बीवी में काफ़ी बहस हुई और अन्ततः हथियार कुलवन्त को ही डालना पड़ा।

आख़िरकार कुलदीप ने तय कर ही लिया कि वह डॉक्टर से मिलेगा। पत्नी को लेकर वह डॉक्टर के पास गया तो डॉक्टर ने भ्रूण परीक्षण करने से साफ इनकार कर दिया। यह भी बताया कि यह कानूनी जुर्म है। इस पर कुलदीप ने डॉक्टर से सवाल कर दिया कि डॉक्टर साहब सभी तो ऐसा कर रहे हैं? मैं क्यों नहीं कर सकता? इस पर डॉक्टर नाराज़ हो गयी। उसने धमकी दी कि यदि उसने फिर ऐसी बात कही तो वह उसे पुलिस के हवाले कर देगी। कुलदीप सिंह डर गया और घर आ गया। लेकिन उसकी समझ में नही आया कि लोग किस डॉक्टर के पास जाते हैं, जो लिंग परीक्षण करके गर्भपात भी कर देता है।

वह सोचता रहा कि यदि डॉक्टर लिंग परीक्षण नहीं करते तो प्रदेश में इतनी तेज़ी से महिला-पुरुष अनुपात घट क्यों रहा है? उसे अख़बार में पढ़ी वह ख़बर याद आयी कि कन्या भ्रूणहत्या में प्रदेश अव्वल है। वह सवाल करता कि जब लिंग परीक्षण ही नहीं होता तो कन्या भ्रूणहत्या कहाँ से हो रही है?

उसे ध्यान आया कि जितनी अस्पतालों में वह गया है, वहाँ यह ज़रूर लिखा होता है कि 'इत्थो लिंग निर्धारण नहीं कीता जान्दा है। यह कानूनी जुर्म है। करने और करानेवाले को सजा हो सकती है।' कुलदीप सोचता कि फिर भी लोग कन्या भ्रूणहत्या करा और कर रहे हैं।

एक दिन तो उसने अख़बार में पढ़ा कि लोग इंटरनेट से जानकारी लेकर अमेरिका से कोई किट मँगाकर कन्याओं को पेट में ही मार डाल रहे हैं। उसने सोचा वह भी इंटरनेट से इस जानकारी को हासिल करेगा। उसने अख़बार में से उस वेबसाइट का नाम भी नोट कर लिया। अगले दिन वह साइबर कैफे गया। एक घंटे तक मगजमारी करता रहा, लेकिन उसकी समझ में कुछ नहीं आया। हारकर घर आ गया।

कुलदीप सिंह को अपने गाँव का हाकम सिंह याद आया। उसनेअपनी पत्नी का तीन बार गर्भपात कराया था। क्योंकि उसकी पत्नी के गर्भ में लड़कियाँ थीं। यह बात उसे लिंग परीक्षण से ही पता चली थी। चौथी बार जब उसे लिंग परीक्षण से यह ज्ञात हुआ कि उसकी घरवाली के गर्भ में लड़का है तभी उसने उसका गर्भपात नहीं कराया।

एक बार हाकम सिंह की पत्नी हरदीप कौर ने उससे कह दिया कि उसे एक बेटी चाहिए। इस पर वह बिफर गया। गुस्से में घरवाली को गालियाँ तो दी हीं उसकी पिटाई भी की। इसके बाद से हरदीप कौर की उससे अपनी चाहत को बताने की हिम्मत नहीं हुई।

एक बार हाकम सिंह किसी से डींग मार रहा था कि उसे बेटी-सेटी नहीं चाहिए।

—क्यों?

—क्योंकि बेटी को पालो-पोसो, लिखाओ-पढ़ाओ और ब्याह कर किसी हरामी के साथ विदा कर दो। यह मुझसे नहीं हो पाएगा।

—तुम भी तो किसी की बेटी अपने बेटे के लिए लाओगे?

—मेरी बात और है।

—लेकिन, यदि तुम्हारे जैसा ही सभी सोचने लगें और करने लगें तो इस दुनिया के सभी बेटे कुँवारे रह जाएँगे?

—रह जाएँ, मेरी बला से। मैंने दुनिया का ठेका नहीं ले रखा है।

—तुम्हें बेटियों से इतनी नफ़रत क्यों है?

—बेटियाँ कई बार माँ-बाप की नाक कटवा देती हैं। प्यार-वार कर बैठती हैं। रोको तो भाग जाती हैं। इससे कितनी बदनामी होती है। यही नहीं, बेटी घर से निकलती है तो सोहदे उसे छेड़ते हैं। कई बार गुंडे उठा ले जाते हैं। बलात्कार कर देते हैं। इससे उनके माँ-बाप को कितना शर्मसार होना पड़ता है। इससे तो अच्छा ही है न कि, इन्हें पैदा ही न किया जाए।

कुलदीप सिंह सोचता, ऐसा क्यों होता है? बलात्कार औरत से ही क्यों होता है? बलात्कार होने पर औरत की ही इज्जत क्यों जाती है? उसी के माँ-बाप को क्यों शर्मसार होना पड़ता है? रही बात प्यार की तो इसमें क्या दोष है? प्यार तो रब की अनमोल देन है। आदमी अपने अहं में समझ नहीं पाता, तभी तो प्रेमियों को भागना पड़ता है। या फिर जान देनी पड़ती है। इसमें लड़कियों का क्या दोष है? दोष तो हमारे समाज में है। हमारे मन में है। सोच में है और सजा औरत को दे रहे हैं। आख़िर कब तक यह चलेगा? कहाँ जाकर रुकेगा यह अन्याय?

कुलदीप सिंह को किसी का कहा याद आया कि राजे-रजवाड़े पैदा होते ही बेटियों को मार डालते थे। उनके यहाँ तो बाकायदा एक दाई हुआ करती थी। जिसे यह साफ हिदायत होती थी कि यदि रानी या ठकुराइन को बेटी पैदा होती है तो उसका तुरन्त काम तमाम कर दिया जाए...। दाई बेटी पैदा होते ही उसे मार डालती

थी और कह देती थी कि बच्चा मरा हुआ पैदा हुआ। कैसे औरत ही औरत की दुश्मन बन जाती है? बन जाती है या बना दी जाती है। दाई यदि नवजात बच्ची की हत्या न करती तो क्या वह जीवित रह सकती थी? ज़ाहिर है, अपनी जान बचाने के लिए वह बच्ची को मार डालती थी। ऐसी भी कहानियाँ सुनने को मिलती हैं कि कई दाइयों ने कई बार नवजात बच्चियों को बचाया भी है, किसी और को देकर। कुलदीप सोचता कि यदि राजे-रजवाड़े ऐसे थे तो प्रजा कैसी रही होगी?

— वे ऐसा क्यों करते थे? कुलदीप ने उस आदमी से पूछा था।

— क्योंकि यदि किसी राजा के यहाँ सुन्दर कन्या हुई तो दूसरा राजा उसके राज्य पर आक्रमण कर देता था और उसकी बेटी से जबरन शादी करता था। इस कारण राजा बेटी पैदा ही नहीं करते थे। उस समय लिंग परीक्षण नहीं होता था अतः उन्होंने बच्चियों को पैदा होते ही मार डालने की व्यवस्था कर दी थी।

—चलो वह तो राजा थे, लेकिन प्रजा?

—जैसा राजा, वैसी प्रजा। कहावत ऐसे ही थोड़े कही गयी है। इसका कुछ तो मर्म होगा ही। प्रजा की बेटियों पर राजा, सामन्त, ज़मींदार, सेनापति और अन्य सरकारी अधिकारी बुरी निगाह रखते थे। इन्हें किसी की कोई लड़की पसन्द आयी नहीं कि उसे उठवा लेते थे। ऐसे में कौन है, जो बेटी पैदा करना चाहे? हमारा समाज कहने को आज आधुनिक हो गया है, लेकिन औरत को लेकर उसका नजरिया अब भी नहीं बदला है। पहले दबंग लोग दूसरों की बहू-बेटियों से बलात्कार करते थे। आज तो हालात यह है कि घर में ही बेटी सुरक्षित नहीं है। पिता, चाचा और भाई तक कि निगाह गन्दी हो गयी है। ऐसे में, कौन बेटी पैदा करना चाहेगा? बेटी जवान हुई नहीं कि माँ-बाप के दिलों की धड़कनें बढ़ जाती हैं। माना कि आज लड़कियाँ घर के बाहर निकल रही हैं। लेकिन वह कितनी सुरक्षित हैं? छोटे शहरों, कस्बों और गाँवों को छोड़ भी दें तो महानगरों तक में लड़कियों की आबरू सुरक्षित नहीं है। मैं तो कहता हूँ कि लड़कियों को लेकर हमारा डर, हमारी कुंठा हमारे डी.एन.ए. (जीन) में समा गयी है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहू-बेटियों पर हुए अत्याचार से हमारे मन में बेटियों की एक निरीह और प्रताड़ित-पीड़ित स्त्री की छवि बन गयी है। आज हम इस छवि से भागने के लिए ही भ्रूणहत्या कर रहे हैं। जबकि ज़रूरत अपना नज़रिया बदलने की है। उसने कहना जारी रखा। हमारे प्रदेश में यह कुप्रथा इसलिए भी ज़्यादा है, क्योंकि यह सीमाप्रान्त क्षेत्र रहा है। विदेशियों के अधिकतर हमले इधर से ही हुए। उनका हमला देश पर ही नहीं हमारी बहू-बेटियों की आबरू पर भी होता था। जब-जब ऐसा होता, कई माँ-बाप यह कसम खाते कि वह बेटी नहीं पैदा करेंगे। फिर हुआ देश का बँटवारा। यह प्रान्त विभाजित हो गया। साम्प्रदायिक दंगे हुए तो उसकी सबसे ज़्यादा मार हमारी बहू-बेटियों पर पड़ी। कितनी महिलाओं ने अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए ख़ुद ही अपनी जान ले ली और कितनों की अस्मत लूट ली गयी, इसका कोई हिसाब-किताब नहीं है। इस दुर्घटना के बाद भी कई माँ-बाप ने यह कसम खायी कि वह बेटी नहीं पैदा करेंगे। कालान्तर में यही कसम हमारे डी.एन.ए. में समा गयी और अशिक्षा, गरीबी, दहेज और अन्य आधुनिक बुराइयों ने उसे मानसिक रूप से मजबूत कर दिया। परिणाम, आज कन्या भ्रूणहत्या रोके नहीं रुक रही है। राज्य में एक हज़ार पुरुष पर 775 महिलाएँ हैं। दिनोंदिन यह स्थिति भयावह ही होती जा रही है। यह धरती हीर-रांझा की है। सोनी-महिवाल की है। आज यह किस्से बन गये हैं। हम इन्हें सम्मान से सुनते-देखते हैं। इनका आदर करते हैं और पूजने की हद तक चाहते भी हैं। कभी इन्होंने एक-दूसरे से प्रेम किया था। लेकिन तब ज़माना इनके खिलाफ़ था। यह एक-दूसरे से मिल नहीं पाये। यही हालत आज भी है। प्रेम करनेवालों को हमारा समाज आज भी बरदाश्त नहीं कर पाता। प्रेमी युगलों को आए दिन ज़हर खाकर अपनी जान देनी पड़ती है, क्योंकि उनका प्रेम ज़माने की स्वीकार नहीं होता। लड़की के प्यार की भनक लगते ही पहले तो माँ-बाप-भाई उसे पीट-पीट कर सही करने का प्रयास करते हैं। इसके बाद भी यदि वह नहीं मानती तो उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है, और यदि मान जाती है तो पूरी ज़िन्दगी ऐसे आदमी के साथ जीवन व्यतीत करती है जिसे वह चाहती ही नहीं। प्यार ही नहीं करती। उसके सीने में एक याद हमेशा शूल की तरह चुभती रहती है। जिसकी पीड़ा को वह आँसू के रूप में भी नहीं व्यक्त कर पाती।

फ़िल्मों की नायक-नायिका को हम बेशक समर्थन देते हैं, लेकिन जब वही कहानी हमारे घर में घटित होती है तो हम बरदाश्त नहीं पाते हैं। हम खलनायक से बड़े हैवान हो जाते हैं। हमारी क्रूरता हिंसा की सारी हदें पार कर जाती है। हमारे समाज को इस दोहरे चरित्र को त्यागना होगा। सृष्टि के लिए जितना पुरुष ज़रूरी है उतना ही औरत भी। फिर दोनों के साथ समान व्यवहार क्यों नहीं किया जाता? बेटी होते हुए भी बेटे की आकांक्षा क्यों? यदि हमने अपना नजरिया नहीं बदला और कन्या भ्रूणहत्या इसी तरह होती रही तो एक दिन यह मानव सभ्यता ख़त्म हो जाएगी।

कुलदीप सिंह सोचता कि बेटी को पेट में मारना पाप है और अपराध भी, लेकिन मेरे लिए ही क्यों? सभी तो गर्भ में ही बेटियों को मार डाल रहे हैं। फिर मेरे तो दो बेटी पहले से ही है। क्या ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिसे दो बेटी हो उसे कानूनन लिंग परीक्षण कराने और गर्भपात की छूट होनी चाहिए। कुलदीप ने किसी से सवाल किया था।

—तब लोग इसका भी दुरुपयोग करेंगे। उस व्यक्ति ने अपनी आशंका प्रकट की थी।

—कानून का दुरुपयोग तो अब भी हो रहा है। मेरी समझ में कानून न्याय संगत होना चाहिए। जिसे दो बेटी हो उसे लिंग परीक्षण और गर्भपात की छूट मिलनी ही चाहिए।

—हाँ, तेरी बात में दम तो है। सरकार को इस नज़रिये से भी सोचना चाहिए। लेकिन शायद वह डरती है कि यदि यह छूट दे दी गयी तो लोग इसका बेजा इस्तेमाल करेंगे। फिर असली गुनहगारों पर शिकंजा नहीं कसा जा सकेगा।

—सब बकवास है। कुलदीप सिंह झुंझला गया। बोला—जो कानून का दुरुपयोग कर रहे हैं उनका कुछ नहीं हो रहा है। न कोई पकड़ा जाता है और न किसी को सजा होती है। मेरे बाप ने पाँच बेटियाँ पैदा कीं, अब मैं सात पैदा करूँ तो समाज का सन्तुलन बना रहेगा? पूरे समाज का ठेका मैंने ही लिया है क्या? कहते हैं राज्य में लिंग अनुपात में भारी गड़बड़ी हो

गयी है। पुरुषों के मुकाबले औरतों की संख्या कम हो गयी है। ऐसा इसलिए हो रहा है कि लोग बेटियों की हत्या पेट में ही कर दे रहे हैं। ये कौन लोग हैं जो ऐसा कर रहे हैं? मैं तो डॉक्टर के पास गया तो उसने साफ कह दिया कि यह कानूनन अपराध है। वह लिंग परीक्षण नहीं करती। जब लिंग परीक्षण ही नहीं होता तो पेट में कन्या भ्रूणहत्या की बात कहाँ से आ गयी। लेकिन नहीं। यह तो हम ग़रीबों के लिए है जिनके पास पैसे हैं, जो रसूखवाले हैं, उनके लिए कानून जेब में होता है। लिंग परीक्षण भी होता है और गर्भपात भी...। धनाढ्य घरों और पढ़े-लिखे शिक्षित घरों में देखिए। क्या सन्तुलन होता है? एक बेटा और एक बेटी। यह सन्तुलन यों ही नहीं बन जाता है...। इसे बनाया जाता है...। जैसे हाकम सिंह बना रहा है। कुलदीप सिंह को याद आया कि पिछले ही दिनों तो एक अख़बार में यह ख़बर छपी थी कि पढ़-लिखे और पैसेवाले लोग कन्या भ्रूणहत्या में सबसे आगे हैं।

यह सोचते-सोचते कुलदीप को नींद आ गयी। सोते में वह सपना देखता है। वह ऐसे लोक में चला गया है जहाँ औरतें हैं ही नहीं। वहाँ सभी आदमी उदास हैं। जिसे देखो वही मुँह लटकाये घूम रहा है। उसने सोचा यहाँ के लोग इतने उदास क्यों हैं? उसने देखा कि यहाँ केवल आदमी ही हैं। न औरतें हैं और न ही बच्चे। आदमी भी कोई युवा नहीं है। सभी के सभी बूढ़े। उसने सोचा ऐसा कैसे हुआ? जब कुछ समझ में नहीं आया तो एक आदमी से पूछ लिया। पहले तो उस आदमी ने उसे गौर से देखा और देखता रहा। जैसे वह दूसरे ग्रह का प्राणी हो। फिर वह मुस्कुराया, और फिर ज़ोर से हँसने लगा और तब तक हँसता रहा जब तक कि वह थक नहीं गया। इस बीच कुलदीप उसे आश्चर्य से देखता रहा। हँसने से वह थक गया था। हँसी थमी तो थोड़ी देर तक हाँफता रहा, फिर बोला-भाई साहब, यह तो आप जानते ही होंगे कि 'बिन जननी घर भूत का डेरा।' जवाब में कुलदीप ने कहा— हाँ।

—फिर यहाँ भूतों का डेरा है। प्रत्युत्तर में वह आदमी बोला।

—मैं कुछ समझा नहीं। अपने ही थूक को बड़ी मुश्किल से गले के नीचे उतार पाया कुलदीप।

—भाई साहब, हमारे यहाँ औरतें नहीं हैं। बिना औरत के जीवन में उमंग होती है क्या? उत्साह होता है क्या? आदमी का प्रेम सूख जाता है। जीने की इच्छा ख़त्म हो जाती है। यहाँ आप देख ही रहे हैं। हर आदमी ऐसे जी रहा है जैसे जीना उसकी मजबूरी हो। बिना औरत के जीना तो जीना मजबूरी ही हो जाता है। जानते हैं, आदमी की ज़िन्दगी औरत होती है। यदि औरत ही नहीं तो ज़िन्दगी कहाँ? यहाँ किसी के पास ज़िन्दगी नहीं है। सब अपने मरने का इन्तज़ार कर रहे हैं। एक-एक कर सभी मर रहे हैं और एक दिन सभी मर जाएँगे। फिर यहाँ कोई नहीं होगा। सृष्टि के साथ हमने जो खिलवाड़ किया है उसका परिणाम भुगत रहे हैं। वह आदमी एक साँस में बोल गया और फिर हाँफने लगा।

—क्या यहाँ शुरू से ही औरतें नहीं थीं?

—नहीं।

—फिर?

—यह तो हमारी बेवक़ूफ़ी का परिणाम है। सभी लोगों ने मिलकर कन्याओं की हत्या माँ के पेट में करनी आरम्भ कर दी और आज आप देख ही रहे हैं कि क्या दशा है। एक दिन यहाँ भूत रहेंगे। यह भूत लोक कहलाएगा। वैसे तो यह आज ही भूत लोक हो गया है। यहाँ जो लोग हैं, उन्हें आप इन्सान नहीं कह सकते।

कुलदीप सिंह की आँख खुल गयी। मैंने यह सपना क्यों देखा? उसने सोचा। क्या यह कोई संकेत है? उसने इस सपने का ज़िक्र अपने एक दोस्त से किया तो उसने झट कहा कि हाँ, संकेत ही तो है। इस राज्य के लोग बेटियों की हत्या पेट में ही कर दे रहे हैं और बेटों की शादी के लिए दूसरे राज्यों से लड़कियाँ ख़रीदकर ला रहे हैं। यदि यह सिलसिला ऐसे ही चलता रहा तो एक दिन यहाँ भी ऐसी ही नौबत आ जाएगी। दोस्त की बात सुनकर कुलदीप बड़बड़ाने लगा— मेरी बला से। पूरे समाज की चिन्ता करना मेरा ही काम तो नहीं है। मेरे यहाँ तो पहले ही दो बेटियाँ हैं। मैं तीसरी और नहीं पैदा कर सकता।

एक दिन कुलदीप सिंह के एक दोस्त ने उसे एक डॉक्टर से मिलवाया। वह पैसे लेकर लिंग परीक्षण करने को तैयार था। कुलदीप सिंह अगले ही दिन अपनी घरवाली को लेकर उसके क्लीनिक पर चला गया। डॉक्टर ने लिंग परीक्षण करके बताया कि उसकी घरवाली के पेट में बच्ची है। इस पर कुलदीप ने तुरन्त कहा कि वह गर्भपात कर दे।

डॉक्टर ने बताया कि बच्चा छह माह का हो गया है। अब गर्भपात नहीं हो सकता। हाँ, एक रास्ता है। इसे ऑपरेशन करके निकाल देते हैं।

—फिर तो वह ज़िन्दा रहेगा? कुलदीप की घरवाली का यह मासूम सवाल था।

—ज़िन्दा तो तब भी रहता है जब उसकी सफ़ाई हो जाती है। लेकिन आजकल कौन इन चक्करों में पड़ता है।

—हमें रब से डरना चाहिए। यह तो साफ़-साफ़ हत्या है। कुलदीप की घरवाली साफ बोल गयी।

—अपनी मरजी। मैंने तो आठ-आठ महीने की बच्चियों को ठिकाने लगाया है। यही नहीं सामान्य प्रसव के बाद भी हमारे यहाँ बच्चियों को ठिकाने लगा दिया जाता है। बस रकम थोड़ा ज़्यादा लगती है।

—यह अस्पताल है कि कत्लगाह। कुलवन्त कौर के मुँह से बरबस ही निकल गया। उसे वह डॉक्टर साक्षात यमराज नज़र आया। वह डर गयी और मन ही मन सोची कि यह आदमी है कि शैतान। लेकिन वह प्रत्यक्ष कुछ बोल नहीं पायी। केवल इतना ही कहा कि आप ठिकाने लगाइए। हमें नहीं करना यह पाप। कहते हुए वह अस्पताल से बाहर आ गयी। उसके पीछे-पीछे कुलदीप भी आ गया। उसे अपनी पत्नी पर गुस्सा भी आ रहा और नहीं भी आ रहा था। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि उसकी पत्नी ने सही किया कि गलत। इसी असमंजस में वह चुपचाप घर आ गया। तब उसकी जुबान खुली।

—यह तुमने ठीक नहीं किया कुलवन्त।

—और तुम ठीक करने जा रहे थे? ऐसा काम कसाई करते हैं। वह डॉक्टर तो पैसे के लिए कसाई हो गया है। हम भी वैसे हो जाएँ? जब हम एक बेटा पाल सकते हैं तो एक बेटी और क्यों नहीं पाल सकते? अब जबकि वह पेट में आ ही गयी है तो हम कौन होते हैं उसे मारनेवाले?

—क्योंकि हमें उसकी ज़रूरत नहीं है।

—ज़रूरत नहीं है तो उसकी हत्या कर दें?

दो और बेटियाँ हैं इनका भी गला घेंट दो। मुझे भी मार डालो। सारी बला टल जाएगी और तुम्हारे मन को शान्ति भी मिल जाएगी।

कुलदीप को कोई जवाब नहीं सूझा तो चुप्पी लगा गया। इस तरह दोनों मियाँ-बीवी एक सप्ताह तक लड़ते रहे।

एक दिन अख़बारों-चैनलों में ख़बर आयी कि एक निजी नर्सिंग होम का संचालक लिंग परीक्षण और कन्या भ्रूणहत्या के मामले में पकड़ा गया। उसके अस्पताल में दो गड्ढे थे जिसमें वह गर्भपात करके भ्रूण को फेंक देता था। उन गड्ढों से न केवल भ्रूण जैसे माँस के लोथड़े मिले, बल्कि हड्डियाँ तक बरामद हुई हैं।

—अच्छा ही हुआ। उसने कर्म ही ऐसे किये थे। मैं तो कहती हूँ कि उसे गोली मार देनी चाहिए। कसाई कहीं का! कुलदीप चुप ही रहा। सोचने लगा कि उसका क्या होगा? पैसा ले-देकर सब मामला रफ़ा-दफ़ा कर दिया जाएगा। सजा तो गरीबों को होती है। पैसेवाले तो अपराध करके भी अपराधी नहीं होते। साला, एक रास्ता मिला था वह भी बन्द हो गया। बुदबुदाते हुए वह घर से बाहर चला गया।

अभी तक तो कुलदीप इस बात से अनजान था कि उसके पत्नी के पेट में पल रहा शिशु क्या है। लेकिन अब जब कि वह जान गया कि वह कन्या शिशु है तो वह परेशान हो उठा। अब उसे इस शिशु को इस दुनिया में लाने के सिवा और कोई चारा ही नहीं बचा था। उसे याद आयी अपनी बहनों की दुर्दशा। उनका दुख। दहेज के लिए आग में जलती बहन। दहेज के लिए घर से निकाल दी गयी बहन। पति के दारूबाज़ निकल जाने से परेशान बहन। ग़रीबी और अभाव भरा जीवन जीती बहन। बलात्कार पीड़ित पड़ोसी की बेटी। उसके जेहन में एक भी तस्वीर ऐसी नहीं उभरी जहाँ से उसे राहत मिले। वह परेशान हो उठा। उस रात वह सो नहीं पाया।

इसी बीच उसके मन में यह ख़तरनाक विचार आया कि वह पैदा होते ही बच्ची को मार डालेगा। यह सोचकर एक बार तो वह काँप गया। नहीं, ऐसा वह नहीं कर पाएगा। लेकिन यदि नहीं करेगा तो उसे खुद आत्महत्या करनी पड़ जाएगी। फिर, इनका क्या होगा? कहाँ जाएँगी माँ-बेटी? नहीं, सभी को ज़िन्दा रखने के लिए आनेवाले को ही जाना होगा। इसी असमंजस में वह तब तक रहा जब तक कि तीसरी बेटी ने जन्म नहीं ले लिया। लेकिन उसके पैदा होते ही कुलदीप सिंह के अन्दर बैठा शैतान जाग गया। उसके उस नवजात को माँ की गोद से उठा लिया और ले जाकर नहर में फेंक दिया। उस समय उसकी घरवाली बेहोश थी। जब वह होश में आयी तो उसने कह दिया कि मरी हुई बच्ची पैदा हुई थी। फेंक आया। लेकिन जिस तरह उसने उससे आँखें चुराते हुए यह बात कही, वह सच्चाई समझ गयी। उसके मुँह से केवल इतना ही निकला — यह तुमने ठीक नहीं किया। यदि एक बेटे को पाल-पोस सकते हो तो एक और बेटी को भी... । आगे वह बोल नहीं पायी। उसका गला रुँध गया और आँखों में आँसू की गंगा बह निकली। कुलदीप को लगा कि कुलवन्त के आँसूओं में उसकी नवजात बच्ची डूब उतरा रही है। वह काँप उठा।

अगले दिन नहर से उस बच्ची की लाश मिली। मोहल्ले में हो-हंगामा हुआ और पुलिस ने खोजबीन करके कुलदीप सिंह को गिरफ़्तार कर लिया। इस बीच घरवाली की दशा देखकर कुलदीप सिंह भी टूट चुका था। उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। इस अपराध में उसे सजा हुई दस साल की।

जेल में उसे नींद न आती। आँख लगते ही कुलवन्त कौर का रोता हुआ चेहरा सामने आ जाता। कुलवन्त कौर के आँसूओं में डूबती-तैरती बच्ची दिखाई पड़ती। बच्ची 'बचाओ-बचाओ' चिल्लाती। कई बार तो यह भी कहती कि पापा, मुझे मत मारो, मुझे मत मारो! मेरा क्या गुनाह है पापा? मैं तुम्हें कभी तंग नहीं करूँगी। आप जैसा चाहेंगे वैसा ही करूँगी। मुझे बचा लो पापा। मुझे मत मारो पापा। मेरे प्यारे पापा! वह अकबका कर उठ बैठता। आसपास देखता। चारों तरफ़ अँधेरा ही अँधेरा होता। इसके बाद उसे नींद न आती। वह रात भर अपनी बैरक में टहलता रहता।

किसी-किसी रात वह सपना देखता कि नहर में बच्ची को फेंक दिया है। वह चिल्ला रही है, रो रही है और वह क्रूरता से हँस रहा है। उसकी हँसी देखकर बच्ची रोना बन्द कर देती है। पानी में डूबने से पहले कहती है कि कुड़ीमार तुझे जीवन में कभी चैन नहीं मिलेगा।

किसी-किसी रात उसे किसी गड्ढे में बहुत सारे मादा भ्रूण दिखाई देते। बच्चियों की हड्डियाँ दिखाई देतीं। साथ ही नज़र आता क्रूरता से मुस्कराता हुआ एक डॉक्टर का चेहरा। वह कहता कि देखा मैंने क्या किया है? तभी सभी भ्रूण लड़की बन जाते और डॉक्टर को उसी गड्ढे में धकेलकर उसे मिट्टी से दबा देते और ख़ूब ज़ोर-ज़ोर से हँसते हुए ग़ायब हो जाते। डॉक्टर 'बचाओ-बचाओ' चीख़ता रहता लेकिन उसकी मदद को कोई न आता।

जेल में रहकर इस तरह के सपने देखकर कुलदीप लगभग पागल ही हो गया। वह जेल में ही रह-रहकर चीख़ने लगा कि हाँ, मैं कुड़ीमार हूँ... । मैं कुड़ीमार हूँ... ।

फिर भी जेल में जब उसकी बेटियाँ और पत्नी उससे मिलने जातीं तो वह कहता— मुझे देखने मत आया करो। मैं पापी हूँ। हत्यारा हूँ। इतना कहकर रो पड़ता। उसी बेटियाँ भी रोतीं और पत्नी भी। फिर वह सँभलता और बेटियों से कहता कि तुम दोनों बेटी नहीं बेटा हो। तुम्हें यह साबित करना होगा। तुम्हारा बाप कायर निकला, लेकिन तुम अपनी माँ की तरह बहादुर बनना। तुम्हें मेरे माथे पर लगे कलंक को धोना होगा।

उसकी बेटियों ने उसे निराश नही किया। दोनों पढ़ाई में अव्वल हैं। अपने दम पर पढ़ाई कर रही हैं। आज उनका एक सपना है। वह आश्वस्त हैं कि वे अपने सपने को ज़रूर साकार करेंगी।

जेल से बाहर आने के बाद कुलदीप सिंह को यह जानकर बड़ी तसल्ली हुई। लेकिन जेल में अधिक चिन्तन के कारण उसका मानसिक सन्तुलन गड़बड़ा गया है। अक्सर उसे लगता है कि कोई उसके कान के पास ज़ोर-ज़ोर से 'कुड़ीमार...कुड़ीमार...' कह रहा है। वह बहुत देर तक इसे बरदाश्त करता है, लेकिन जब नहीं सह पाता तो चिल्ला पड़ता है कि हाँ-हाँ मैं कुड़ीमार...हूँ, मैं कुड़ीमार... !

( * कुड़ीमार— बेटी का हत्यारा )

**वरिष्ठ उपसम्पादक-अमर उजाला,**
**ए-5, एस.एस.जी.सी., कपूरथला रोड,**
**जालन्धर-21 ( पंजाब )**
**मो. : 09417532782**

# बहाने से रो दी

## इन्दु बाली

**शिवांगी से शादी करने के** बाद हेमन्त को एक पल का भी चैन नसीब नहीं हुआ था। शिवांगी एक पढ़ी-लिखी, समझदार, अच्छे स्वभाव की लड़की थी पर जाने क्यों कभी-कभी उसकी आँखों में पागलपन की झलक दिखाई देती जो हेमन्त को अन्दर तक दहला देती। अचानक वह बोलने लगती ''नहीं माँ, नहीं।'' फिर एकदम मौन हो जाती और घण्टों मौन रहती। फिर जब हेमन्त बहुत-बहुत प्यार से पूछता ''क्या बात है? तुम यह कभी भी क्या बोलने लगती हो? मुझे बताओ क्या बात है, मुझसे अपने मन की बात बाँट लो तो मन शान्त हो जाएगा।'' पर इसका उलटा असर होता और वह दिनों तक मौन छत को निहारती रहती। ''अचानक हेमन्त को सामने पा वह बुरी तरह से घबरा जाती जैसें किसी ने किसी को चोरी करते पकड़ लिया हो। कई बार रात के अँधेरे में हेमन्त ने शिवांगी को रोते देखा था। वह देखा अनदेखा कर जाता पर सोचता ज़रूर था। हेमन्त शिवांगी से बेहद प्यार करता था और शिवांगी भी तो कम प्यार नहीं करती थी। वह जब 'नार्मल' होती तो उसका व्यक्तित्व खिले फूल-सा होता और समस्त शरीर में बिजली का-सा आकर्षण, सारे शरीर में से सुगन्ध और प्रकाश बिखरता। इतना हँसती, इतना हँसती कि हेमन्त को विश्वास ही न होता कि यह उसकी शिवांगी है। हर क्षण शोखी से भरा और हेमन्त उसमें पूरा का पूरा डूब जाता। गाती, नाचती, चित्र बनाती वह सारे घर में बसन्त बहार-सी घूमती, सारे घर में उसके व्यक्तित्व का सा ही सलीका दिखाई देता। पढ़ने की बेहद शौकीन पर हेमन्त देखता था कि अखबार या साहित्यिक पुस्तक में कहीं भी सास-बहू को लेकर बात होती या दहेज के लिए सताई गई लड़की का वर्णन होता वह फट से पृष्ठ बदल देती और घण्टों आँखें बन्दकर बैठी रहती। एक दिन टी.वी. पर बहुओं को जला देने के कारण और बचाव के उपायों को लेकर बातें हो रही थी कि तभी हेमन्त ने देखा शिवांगी की आँखों का भाव बदलने लगा है और वह चुपचाप उठकर अपने कमरे में चली गयी। हेमन्त पहले तो उसके पीछे-पीछे जाता है पर फिर कुछ सोच कर रुक जाता है। तभी उसका ध्यान शिवांगी की लम्बी हिचकी की तरफ़ जाता है। वह अपने कमरे में पलंग पर उल्टी लेटकर ज़ोर-ज़ोर से नहीं बहुत धीमे से रो रही थी और होठों में जाने क्या बुदबुदा रही थी। बहुत ध्यान से सुनने पर लगा कि वह कह रही है। 'नहीं माँ, नहीं प्लीज माँ, नहीं।' पर वह विवश-सा उनके 'नार्मल' हो जाने की प्रतीक्षा में लौट आया है। उसकी शादी को सात महीने हो चुके थे और वह यह बात अच्छी तरह से समझने लगा था कि उससे कुछ भी पूछना बात को भयंकर रूप से बढ़ा देना ही है और शिवांगी का मौन घण्टों से दिनों में और दिनों से सप्ताहों में बदल जाता था। कई बार हेमन्त ने चाहा कि किसी डॉक्टर से सलाह की जाए पर फिर लोकलाज के कारण मौन रह जाता और सोचता कहीं शिवांगी से शादी उसकी इच्छा के विरुद्ध तो नहीं की गई? फिर सोचता उनका तो प्रेम-विवाह था, यह सब क्यों? अजीब प्रश्न-चिन्हों के जाल में वह घिरता चला जा रहा था।''

कभी-कभी शिवांगी अपनी सहेलियों में बैठकर बातें करती तो सुनकर हैरानी होती कि वह कितना साफ और व्यवहारिक सोच सकती है। वह नारी को किसी भी रूप में कमज़ोर नहीं देखना चाहती थी। अपनी सहेली को खुलकर पूछती ''जब तुम प्रेम करती हो तो शादी क्यों नहीं करती? शादी तुम्हें करनी है, तुम्हारे माँ-बाप को नहीं।'' फिर कहती ''पता नहीं, किस दिन नारी अपने को अबला से सबला कहना महसूस करेगी। अपना अधिकार तो माँगने से ही मिलता है। अरे! माँ भी बच्चे को बिना माँगे दूध नहीं देती। यह क्या बात हुई कि प्यार किसी से और शादी किसी से। भई! मैं तो अपनी इच्छा के विरुद्ध कभी शादी न करती।'' फिर अपनी ही बात पर ....खिला खिलाकर हँस देती। सभी हँसने लगती और फिर शिवांगी अपनी सहेली को बाँहों में भरकर कहती ''अरे! किस बात में कम हो तुम पुरुषों से। क्यों दबती हो, क्यों डरती हो? तुम पुरुष की दासी नहीं प्रिया हो, बल्कि उसीके समान। समानाधिकार को सुरक्षित रखो और अपने मन से जिओ। तुम क्यो दबती हो, क्यों अधिकार छीनने देती हो? देखो, मेरी मानो, कह दो सबसे, यह तुम्हारा जीवन है, तुम जैसा चाहोगी वैसा ही जिओगी भी। फिर इसमें बुरा भी क्या है शादी ही करना चाहती हो, भागना तो नहीं। भागना भी पड़ता तो मैं हेमन्त के साथ भाग भी जाती। तुम भी निर्णय लो। क्यों बिना मौत मरना चाहती हो?'' पर हेमन्त देखता कि इतनी बातूनी और पक्के निर्णय लेनेवाली शिवांगी फिर एकदम मौन हो जाती और आँखों में अजीब दहशत का रंग करवटें लेने लगता जैसे तूफान से पूर्व सागर में उछाल लहरें और सारा सौम्य व्यक्तित्व पल में बदल जाता और शिवांगी का सबला रूप अबला के रूप में सिसकियाँ लेने लगता। हेमन्त लाख चाहकर भी उसके अन्तर्मन को कुरेद नहीं पा रहा था। फिर एक दिन हेमन्त ने शिवांगी से कहा ''तुम इतना पढ-लिख कर क्यों फालतू घर में बैठी रहती हो? नौकरी कर लो, मुझे अच्छा लगेगा'' पर शिवांगी तो फिर शिवांगी थी, झट बोल उठी 'क्यों, क्या तंग आ गये हो मुझसे? खर्चा अधिक होने लगा है क्या? तुम ही तो कहते थे' मुझे नौकरी करने वाली लड़की नहीं चाहिए। एक ही काम ठीक है बस मेरी प्रिय बनी रहो। नौकरी और गृहस्थी एक साथ नहीं निभ सकती। क्यों ठीक है न? तुम्हारे प्यार में मैंने अच्छी-भली नौकरी छोड़ दी। अब तुम क्या नौकरी कर लो, नौकरी कर लो की रट

लगाये रहते हो?

"नहीं, रह की बात नहीं, बस इसलिए कि तुम्हारा मन लगा रहे, तुम बहुत अकेली पड़ जाती हो, मैं तो सारा दिन दफ़्तर के काम में लगा रहता हूँ, हाँ, देखो जब तक एक नन्हा-मुन्ना या मुन्नी नहीं आ जाते, बस तब तक, क्यों ठीक है न? पर शिवांगी अब नौकरी नहीं करना चाहती थी। जो फैसला एक बार ले लिया सो ले लिया। हेमन्त जब भी उसे उदास देखता वह नौकरी की बात उठाता पर इसका अब उलटा असर होता वह आगे से भी अधिक उदास हो जाती और सोचने लगती कि शायद वह ग़रीब घर की लड़की होने के कारण और अपने उसूलों के कारण पीछे रह गयी है और हेमन्त शायद दहेज न लाने की बात कहना चाहता तभी तो नौकरी की बात करता है। दहेज के बारे में सोचते ही वह काँपने लगती। जाने क्या-क्या उसकी मानसिकता पर घिरने लगता और अज़ीब से दौरे उसे पड़ने लगते। हेमन्त बेहद घबरा जाता पर समझ नहीं पाता क्या करे, कैसे उसकी मन की बात जाने? कभी सोचता माँ को बुला ले, तो शिवांगी का अकेलापन दूर हो जाएगा। पर माँ कौन-सा कम जिद्दी है। प्रेम विवाह किया तो शादी में भी नहीं आयी। इस तरह की शादी और दहेजरहित प्रेम-विवाह के कारण वह शादी के पक्ष में नहीं थी, ऐसी बात नहीं थी। वह तो सिर्फ़ उनकी शादी अपने ढंग से सबको, दूर-पार के रिश्तेदारों को बुलाकर करना चाहती थी। उसका एक ही बेटा था, उसीने उसका मन न रखा, बस यही उसे खलता था। शिवांगी तो हमेशा ही उसे पसन्द थी। वह चाहती थी कि शिवांगी उन्हें मनाये बार-बार आने के लिए पत्र लिखे, मुनहार करे, आशीर्वाद माँगे, पर यहाँ तो सब उल्टा था। शिवांगी ने विवाह के बाद एक भी पत्र अपनी सास को आने के लिए नहीं लिखा, न ही आशीर्वाद माँगा। हेमन्त जब भी माँ को बुलाने-मनाने की बात करता तो शिवांगी की आँखों में उभरते दहशत के भावों को वह जरूर देखता और मौन रह जाता। जिस दिन वह पत्र लिखने की बात करता, शिवांगी अजीब-से ढंग से हेमन्त से चिपकती और रातभर उसे अपनी बाँहों में जकड़ती रही, शायद सुरक्षित हो जाने के लिए, फिर गहरी नींद में बड़बड़ाने लगती" नहीं माँ, नहीं प्लीज़ नहीं। यह बड़बड़ाना कभी-कभी गहरी थर्रा देने वाली चीख में बदल जाता।

फिर खुशी का समय आया। शिवांगी माँ बनने वाली थी। हेमन्त ने अपनी माँ को यह खुशखबरी लिख भेजी। माँ, आखिर माँ थी और वह सब भूल यह सूचना मिलते ही दौड़ी चली आयी। पर शिवांगी को अपनी सास का यों अचानक आना तनिक भी पसन्द नहीं आया। हेमन्त को उस दिन शिवांगी की आँखों में उभरा यह भाव बहुत अखरा था, पर कुछ भी न कह मौन रह गया था। माँ को उसका कमरा दिखा जब वह लौटा तो शिवांगी डरपोक बच्चों की तरह हेमन्त से लिपट गयी और इस तरह उसे अपनी बाँहों में कस लिया जैसे कोई अजगर अपने शिकार को अपने चंगुल में कस लेता है और उस पल तक कसता चला जाता है जब तक कि शिकार की हड्डियाँ न चरमरा जाएँ। अजगर इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि उसकी बदहवास साँसें धौंकनी की तरह चलने लगी थी। मैं घबरा गया था, दयनीय दृष्टि से मुझे देख रही थी। बड़ी मुश्किल से उसकी बाहों से अपने को छुड़ाया तो वह उल्टी लेट रोने लगी। बहुत मनाया, वह सहमी हुई-सी लगी। अजीब बात थी कि माँ पहली बार हमारे घर आई थी पर वह खाने के लिए कमरे से बाहर भी नहीं आयी। माँ को तो बुरा लगना ही था पर हेमन्त को भी आज पहली बार इतना बुरा लगा कि समझ नहीं पा रहा था, क्या कहे, क्या करें। सबेरे माँ के पास वह कुछ इस तरह हेमन्त के पीछे पीछे लग कर आयी, पैर छूए, जैसे किसी से बेहद डर रही हो। उसकी आँखों में कुछ ऐसा भाव था जैसे बाज़ के झपटने से पूर्व पक्षी की आँख में उभरा होगा। हेमन्त काफी परेशान था।

दफ़्तर से लौटा तो माँ अपने गाँव की और शहर की नई-पुरानी बातें सुनाने लगी। तभी हेमन्त की माँ ने कहा "जानता है हेमन्त, वह जो प्यारी-सी लड़की होती थी न अपने पड़ोस में, जिसे कभी तू भी पसन्द करता था, अरे। वही सुमि। कितनी शानदार शादी हुई थी उसकी। अभी तक लोग याद करते हैं। पर भाग्य की बात, बस विलायत भेजने की बात को लेकर उसका ससुर अड़ गया और रोज़ रोज ताने-मेहने और क्लेश घर में होने लगे। सुमि का पिता अपने अचानक के घाटों के कारण इस स्थिति में नहीं था कि अपना वायदा निभा, उसे विलायत भेजता। हाथ जोड़कर उसने थोड़ा समय माँगा पर उसकी कोई सुनवाई नहीं हुई। इसी बात को लेकर एक दिन इतनी अधिक कहा-सुनी हुई कि सुमि ने कह दिया "यदि आप मुझे इसी तरह सताते रहेंगे तो मैं जल कर मर जाऊँगी, पर अब मैं अपने बाप से पैसे नहीं माँगूँगी, न ही विलायत भेजने की बात उठाऊँगी, समझे आप।" बस फिर क्या था, उसके ससुर ने कहा "मर, मरती क्यों नहीं?" बस फिर क्या था वह जल मरी, मरने और जलने का कष्ट उससे सहा नहीं जा रहा था। लोग कहते हैं, वह खूब चिल्लायी, अपने पति को आवाज़ें लगायी, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ। पर ससुर चुपचाप बैठा रहा, सास अपनी माला जपती रही। किसी पड़ोसी ने दीवार से कूदकर उस पर कम्बल डाला पर तब देर हो चुकी थी। सब पल में खत्म हो गया था। जब सुमि का पति दौरे से लौटा तो माँ-बाप ने कहा "बस अपने आप जल मरी, हम तो पूजा कर रहे थे। कोई आवाज़ नहीं आयी। बस बेटा सब खत्म हो गया।" पड़ोसी भी गवाही के चक्करों से घबरा गये कौन पुलिस के चक्करों में पड़े, बस सभी मौन साध गये, कितने संवेदनहीन हो गये हैं लोग?" यह कह वह फूट-फूटकर रोने लगी। सुमि के माँ-बाप तो सुनते ही पागल हो गये। पत्थर के बन गये, फिर लौटकर जीवन से जुड़े ही नहीं। किसी को पहचानते तक नहीं। बस सुमि का भाई देखभाल कर रहा है उसे भी नहीं पहचानते। तुम कल उन्हें मिल आना, शायद तुम्हें पहचान लें, कुछ याद आ जाए, विलायत भेजने की बात, शायद फिर से, तुम्हें कितना चाहते थे।"

अभी हेमन्त की माँ बात कर ही रही थी कि अन्दर के बेडरूम के दरवाजे की धड़ाम से बन्द होने की आवाज़ आयी। हेमन्त घबरा गया। द्वार खटखटाता रहा पर शिवांगी ने नहीं खोला। प्रात: जब द्वार खला तो शिवांगी की शक्ल ऐसी थी जैसे कोई प्रेतात्मा हो, पीली प्रभाहीन, आँखों का मार्मिक सूनापन दहला देनेवाला था। हेमन्त ने आगे बढ़ उसे अपनी बाँहों में भरते हुए कहा "क्या बात है, क्या हो जाता है तुम्हें, मुझे बताओ तो सही।" पर वह मौन, बस मौन उसे अपलक देखती रही। जब हेमन्त दफ़्तर जाने लगा तो वह भी उसके साथ जाने को तैयार हो गयी, पर

यह हेमन्त को पसन्द नहीं आया। पर जब वह मानी ही नहीं तो विवश हो उसे अपने साथ ले जाना पड़ा। रास्ते में पूछा "यह क्या तमाशा है, क्या करोगी सारा दिन मेरे दफ़्तर में, लोग क्या सोचेंगे।"

"तुम्हारे पास बैठूँगी, और क्या?"

"माँ क्या सोचेंगी?"

शिवांगी मौन रही। फिर हौंसला कर बोली

"मुझे डर लगता है।"

"घर में किससे डर लगता है, पागल हो क्या।"

वह फिर मौन हो उसकी तरफ़ देखने लगी और आँखों में वहीं पागलपन का भाव उभरने लगा। हेमन्त ने कहा "देखो घर में माँ है डर की क्या बात है, चलो बहुत हो गया, अब तुम्हें घर छोड़ देता हूँ। शाम को ज़ल्दी आ कहीं घूमने चलेंगे।" पर वह लौटना नहीं चाहती थी। फिर बहुत सोचकर रास्ते में अपने मित्र के घर उसे छोड़ दिया, उसकी पत्नी से उसकी बहुत बनती थी। शिवांगी मान भी गयी। दफ़्तर से लौटा तो शिवांगी काफी अच्छे मूड में थी। फिर दोनों खुशी-खुशी घर लौट गये। फिर यह रोज़ का नियम हो गया, वह तंग आ चला था। अब जब वह बाहर आती तो अधिक से अधिक समय वह बाहर ही रहना चाहती, कभी सिनेमा के लिए, कभी क्लब के लिए, कभी होटल के लिए जिद करती, वह बस अधिक से अधिक समय घर से बाहर रहना चाहती। घर में होती तो हेमन्त के पीछे-पीछे घूमती रहती। अब हेमन्त को सच में ही शिवांगी पर गुस्सा आने लगा था पर चुप रह जाता क्योंकि वह माँ बननेवाली थी। अपनी माँ का सूखा कुम्हलाया उदास चेहरा उसे परेशान करता था। माँ बहुत ही समझदार थी इसी कारण सब देखकर भी शान्त रहती पर मन तो दुःखता ही था। पर आख़िर इन्सान थी वह भी उसके इस व्यवहार से तंग आने लगी थी, गाँव लौट जाना चाहती थी। हेमन्त ने शिवांगी को एक दिन काफ़ी समय तक बैठकर उसे समझाया और अगले दिन शिवांगी उसके साथ नहीं गयी।

शिवांगी घर में तो रहने लगी पर अपनी सास से बहुत कम बात करती और समय मिलते ही कमरे का द्वार बन्द कर लेती और शाम को हेमन्त के लौटने पर ही खोलती। पहले तो हेमन्त की माँ कुछ दिन मौन रही पर फिर एक दिन उसे हेमन्त को सब बता दिया कि कमरा बन्द कर लेती है, न कुछ खाती है, न पीती है और हेमन्त के लौटने पर ही द्वार खोलती है। एक दिन हेमन्त की माँ ने कई बार द्वार खटखटाया पर कोई उत्तर नहीं, द्वार के साथ कान लगा कर सुना तो बस सिसकियों की आवाज़। माँ भी हेमन्त की तरह ही हैरान थी कि यह सब क्या है, क्यों करती है ऐसा व्यवहार? शिवांगी के सिर में अक्सर दर्द रहता है। एक दिन वह सिर कपड़े से बाँध कर चुपचाप कमरे में लेटी थी। द्वार खुला था। हेमन्त की माँ ने सोचा, चलो थोड़ा तेल शिवांगी के सिर में लगा देती हूँ, उसे आराम मिलेगा। वह रसोईघर में ज़ोर ज़ोर नौकरानी को यह कहती हुई शिवांगी के कमरे में आयी कि देखो। ठीक से तेल गर्म कर यहीं इस कमरे में ले आना। जल्दी करना, देर न लगाना। अभी हेमन्त की माँ कमरे में पहुँची ही थी कि शिवांगी चीख-चीख कर रोने लगी "नहीं माँ, नहीं, प्लीज़ नहीं, नहीं माँ नहीं।" इससे पहले की वह शिवांगी के पास पहुँचती, शिवांगी ने छलाँग लगायी और बाथरूम का दरवाज़ा बन्द कर लिया और ज़ोर-ज़ोर से दीवार के साथ सिर पटकने लगी और एक ही शब्द दोहराती गयी "नहीं माँ, नहीं।" हेमनत की माँ ने बहुत कोशिश की, बहुत समझाया पर दरवाज़ा खोलने के स्थान पर वह और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने और सिर पटकने लगी बुरी तरह लहूलुहान हो गयी। सिर पीट रही थी, कपड़े फाड़ डाले, अपना सारा शरीर नाखूनों के खरोंच दिया। वह एक ही शब्द "नहीं माँ, नहीं" बोलती जा रही थी। हेमन्त को फ़ोन किया तो वह घबरा गया और ज़ल्दी घर पहुँचा पर तब तक शिवांगी बेहोश हो कर गिर चुकी थी। माँ ने सारी बात बतायी उसकी प्रतिक्रिया भी बतायी पर किसी को कुछ भी समझ में नहीं आया। दरवाज़ा तोड़ कर खोला गया। मुँह पर पानी के छींटे मारे गये, होश आते ही वह फिर चिल्लाने लगी। हेमन्त को देखते ही वह उसके साथ चिपक गयी और बार-बार कहने लगी "मुझे बचाओ, मैं जीना चाहती हूँ नहीं माँ, नहीं, हेमन्त मुझे बचाओ।" डाक्टर को बुलाया गया, उसने सारी बात सुनकर 'इंजेक्शन' लगा दिया और कहा "इन्हें शीघ्र हास्पिटल दाखिल करवाएँ। मानसिक हास्पिटल ले जाएँ, अगर फिर ऐसा दौरा पड़ा तो जान का खतरा हो सकता है।" माँ ने भी यही ठीक समझा।

हास्पिटल में डाक्टर ने सारी बातें सुनीं और शिवांगी को दाखिल कर लिया। इलाज चलने लगा, हेमन्त सारा दिन पास रहता, वह हाथ ही नहीं छोड़ती थी क्या करता। रोज़ 'इंजेक्शन' लगता, घंटों डाक्टर शिवांगी से बातें करता। हेमन्त भी उस पल बाहर बैठता, माँ को मिलने की मनाही थी। पर एक दिन माँ को बुलाया गया तो फिर वही दौरा और चिल्लाना "नहीं माँ, नहीं" आँखों में उभरती वही दहशत। डाक्टर अब काफ़ी कुछ समझने लगा था। शिवांगी के मन की गहराइयों से वह कुछ बाहर लाना चाहता था, देखना चाहता-पहचानना चाहता था, पर शिवांगी पूरी ताकत से उसे अन्दर धकेल देती थी पर एक दिन थककर सारी बात डॉक्टर को बता ही दी कि किस प्रकार उसकी



माँ ने उसकी प्यारी-सी भाभी को तेल डाल कर जला दिया था। भाभी रसोई में बन्द कर दी गयी थी, वह जल रही थी, चीख रही थी, भाई दौरे पर गये हुए थे। शिवांगी ने माँ से चाबी छीनने की पूरी कोशिश की, अपनी भाभी को बचाना चाहती थी। वह बार-बार माँ की मिन्नतें कर रही थी, ''नहीं माँ, नहीं, प्लीज माँ, नहीं भाभी को मत जलाओ, मुझे जला दो, प्लीज माँ, मैं कमाकर आपका घर भर दूँगी, पर भाभी को मत जलाओ, भाभी के बिना भैया नहीं रह सकेंगे। माँ ने एक न सुनी और डायन की तरह अपने सारे घर को खा गयी। भाभी को पूरा जला दिया। सास ऐसी होती है क्या? मेरी अपनी माँ, उसने मेरी बात भी नहीं सुनी और भाभी को दहेज की चिता पर रख दिया, धू-धू करती वह जलती रही, मैं विवश देखती रही, चिल्लाती रही। भैया लौटे तो एकदम गुमसुम बैठे रहे, फिर एक दिन कहीं चले गये और आज तक नहीं लौटे। मैं भी माँ को छोड़ आयी और नौकरी करने लगी। मेरा दम घुटता था। अपनी माँ से मुझे डर लगता था, भाभी का प्यारा चेहरा और चीख़ें मेरे कानों में गूँजती रहती थी। भाई की गुमसुम आँखें मेरा पीछा करती थी। शादी की तो मैं बात भी नहीं करना चाहती थी। अपनी माँ को सास के रूप में देख चुकी थी।''

फिर एक दिन हेमन्त से मुलाकात हो गयी और जाने कैसे उसके प्यार और विश्वास ने सब बदल दिया। शादी हो गयी पर शिवांगी तो अभिशप्त थी, चाहने पर भी जी न पा रही थी। उसकी छाती पर एक बोझ था। अपनी भाभी को अपनी आँखों के सामने, अपनी ही माँ द्वारा जलते देखा था। भाई को सदा के लिए खो दिया था। हर पल इस बोझ के नीचे दबी मेरी आत्मा सिहरती रहती। हेमन्त को क्या बताती, हेमन्त का प्यार ही तो उसका सहारा था, सुनकर यदि उसे उसे छोड़ दिया या घृणा करने लगा तो वह क्या करेगी कहाँ जाएगी। वह घबरा जाती। सोते-जागते इस दृश्य की दहशत उसका पीछा करती। वह अपने आपसे भी डरने लगी थी पर हेमन्त की माँ को यों बिन बुलाये अचानक अपने सामने देखते ही मेरे अन्दर का यह छोटा-सा डर भीमकाय दैत्य बन बन गया और उस दिन गर्म तेल की पुकार सुनते ही अपने आप को सँभाल नहीं सकी। उसे लगा कि अपनी भाभी की तरह वह भी अपनी सास के हाथों जला दी जाएगी। फिर वह तो बिना दहेज के प्रेम विवाह कर, उनकी इच्छा का विरोधकर इस घर में आयी है। उसकी सास को उसे जलाने का पूरा हक है, कारण भी तो है। इसी दहशत में मैं हेमन्त से जुड़े रहना चाहती थी ताकि वह मुझे बचा ले जाए।

डाक्टर ने सारी बात हेमन्त को बताए अपने सामने बैठकर दोनों को बात करने को कहा पर शिवांगी बस मौन रोती रही, रोती रही। हेमन्त उसके बालों में उँगलियाँ घुमाता रहा फिर थोड़ा सँभलने पर बोला ''क्या मुझ पर विश्वास नहीं था?'' शिवांगी ने अपने समस्त अंग ढीले छोड़ दिये थे और पहली बार वह सन्तुलित साँस लेती हुई सोई थी। पूर्ण शापमुक्त होने के बाद। नयी सुबह में नयी उमंग के साथ जब वह उठी तो सास रसोई में चाय बना रही थी और उस दिन वह धीरे-धीरे अपनी सास की तरफ बढ़ गयी थी। सास के कंधों पर सिर रख दिया था, माँ ने दुलारते हुए आशीर्वाद दिया और सबने साथ बैठकर चाय पी। शिवांगी बेहद सन्तुष्ट, खुश और हल्का महसूस कर रही थी। मन ही मन सोच रही थी ''सभी तो एक जैसे नहीं होते। भय से तो लड़ना होता है, अन्याय का विरोध करना होता है, आवाज़ उठानी होती है। भय की छाया में भला कोई जी सकता है? तभी हेमन्त ने उसके हाथ में एक तार ला कर थमा दी। किसी अपरिचित का तार था 'माँ नहीं रही।' हेमन्त उसकी प्रतिक्रिया से डर रहा था और सांत्वना का हाथ उसके कन्धों पर रखने ही वाला था कि शिवांगी बोली ''चलो अच्छा हुआ।'' हेमन्त की माँ और स्वयं हेमन्त ने उसकी तरफ़ देखा तो शिवांगी बोली ''लोगों के लिए तो अब मरी है पर वह डायन मेरे लिए उसकी दिन मर गयी थी। मैं अपनी भाभी और उसे एक साथ दफना आई थी और कसम खाई थी जब तक जिन्दा हूँ उसकी शक्ल नहीं देखूँगी। हाँ कभी-कभी भाई की याद बहुत आती है। शिवांगी भाई की याद के बहाने माँ की मौत पर रो भी दी थी।

हाउस नं. 1541, सेक्टर 18-डी
चंडीगढ़-160018
मो. : 9814748889

# बड़ी माँ

## बी. एस. बीर

**रोहतक से आज सुबह ही** बलवीर का फोन आया था और उसने कहा था, ''बड़ी माँ आख़िरी साँसें गिन रही सै... आँखें बन्द सै उसकी... पर मुँह ते बुड़बुड़ावे...मने लेडे बेटे तैं मिला दो...देसू रोहतास ने भी...मरण तैं पहले एक बार पाँचों छोरियों अर पाँचों छोरों ने देखना चाहूँ...''

''...देख भई जगजीत लेडे...मैंने कभी तेरे को मजबूर नहीं किया आने को...चालीस वर्ष हो गए तने हमारा गाम देखे। मैं तीन बार पटियाले तेरे धोरे हो आया... अर तने एक बार भी टैम न मिलया।... इब बड़ी माँ की शान्ति के लिए तो आ जा...। रोहतक के सरकारी मेडीकल कालेज के सीनीयर डॉक्टरों ने भी जवाब दे दिया है... भई घर ले जाओ... बोले...एक आध दिन सेवा कर लो। दूसरी बात बड़ी माँ भी कहवे थी, 'मेरी जान उरे न निकले...मेरे गाँव में ही मेरी मुक्ति होगी।'...और यह कहकर बलवीर सिंह उदास सा हो गया था। फोन पर लगातार रोये जा रहा था। मैंने उसको चुप कराने की कोशिश की। वह तभी चुप हुआ जब मैंने यह कह दिया, ''ठीक है मैं दो घंटे बाद अपनी गाड़ी से चलता हूँ और ड्राइवर को अभी बुलाता हूँ।''...फिर उसको कुछ तसल्ली हुई और उसने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, ''देसू अर रोहतास भी आज गाम पहुँच जाँगे। देसू तनै मूर्थल मिल जागा। वह आजकल दिल्ली में एन.आर.आई. दफ़्तर में डिप्टी रजिस्ट्रार है अर रोहतास लोहारु ते सीधा धिंगताणा पहुँच जागा।'' साथ ही उसने मुझे दोनों के मोबाइल नम्बर भी दे दिये थे।

मैंने नाश्ता किया और इतने में ड्राइवर भी आ गया था। वह नाश्ता घर पर ही करके आया था। मेरी पत्नी ने मेरे दो सूट, एक नाइट सूट और नहाने के लिए कपड़े डाल दिये थे। ''हो सकता है, मुझे एक आध दिन ज्यादा लग जाए। इसलिए कल सोमवार, सुबह दफ़्तर में फोन कर देना... छुट्टी के लिए।''

यह कहकर कार में बैठ, पंजाबी यूनिवर्सिटी के कैम्पस से बाहर निकल मैंने राजपुरा-अम्बाला रोड पकड़ ली। रास्ते में देसराज तथा रोहतास के साथ मोबाइल पर सम्पर्क हुआ। रोहतास भी आज ही गाँव धिंगताणा पहुँच रहा था। देसराज को मैंने कहा था कि मैं उसे सेवंटी-माइल्ज़ होटल में मिलूँगा और वहीं उसका इन्तज़ार करूँगा।

दोपहर दो बजे मैं समालखा और मूर्थल के दरमियान जी.टी. रोड पर बने सेवंटी-माइल्ज़ होटल पर पहुँच गया। देसराज ने बताया कि वह तीन बजे ही वहाँ पहुँच पाएगा क्योंकि दिल्ली उसने अपने एक दोस्त की लड़की की शादी में कुछ देर के लिए शामिल होना है। उसने कहा था कि खाना वह मेरे साथ वहीं खाएगा। मैंने ड्राइवर को खाना खाकर आराम करने के लिए कहा और खुद चाय का एक गिलास लेकर टहलने लगा। यह होटल लगभग एक एकड़ में फैला हुआ है। होटलवालों ने छोटा सा चिड़ियाघर भी बनाया हुआ है ताकि घर-परिवार वाले लोग वहाँ पर आकर ठहरें और बच्चे पक्षियों को देख-देखकर मज़ा लें। मैं भी हाथ में चाय का गिलास पकड़े वहीं पहुँच गया जहाँ कई तरह के पक्षी, खरगोश तथा यू.के. की दो बिल्लियाँ और रंग-बिरंगे पिल्ले भी हैं। तोते, गोले कबूतर, बतखें, देसी मुर्गे तथा मुर्गियाँ भी यहाँ पर देखने को मिलती हैं। मैं अभी होटल में घूम ही रहा था कि होटल का मालिक एक सरदार सिर पर क्रिकेटनुमा कैप पहने वहाँ पहुँच गया। मेरे पूछने पर उसने बताया कि यहाँ पर पक्षी, जानवर, बिल्लियाँ, कुत्ते सब एक परिवार की तरह रहते हैं। उसे बचपन से इन्हें पालने का शौक है।... एक देसी लाल मुर्गी रंग बिरंगे चूज़ों को दाना खिला रही थी और सात चूज़े उसके साथ-साथ घूमते-फिरते नज़र पड़ रहे थे। अगर ज़रूरत होती तो मुर्गी बैठ जाती और वह चूज़े उसके पंखों के नीचे छुप जाते... ठंड, आँधी या किसी बाहरी हमले से बचने के लिए। मुर्गी कुत्ते तथा बिल्ली से भी मुकाबला करती यदि कोई उन्हें नुकसान पहुँचाने की कोशिश करता। होटल के मालिक ने वहाँ के सभी जानवरों के बारे में जानकारी दी। बिल्लियों के बारे में बताते हुए उसने कहा कि यहाँ पास के ही गाँव का रहने वाला एक अमीर जमींदार इंग्लैंड गया था और वहाँ से इन दोनों बिल्लियों को लेकर आया था।... परन्तु घर में किसी वजह से झगड़ा होता रहता। एक दिन वह उसके पास आया और कहने लगा, ''मैंने कुछ दिनों के लिए कहीं बाहर जाना है, इसलिए इन बिल्लियों को अगर तुम कुछ दिनों के लिए सँभाल लो तो अच्छा होगा। घर में किसी को भी इनमें तनिक-मात्र भी दिलचस्पी नहीं है। मैं इनको बच्चों की तरह रखता हूँ।... ये पकड़ो पाँच हजार रुपये... इनकी खातिरदारी अच्छी तरह से करना। ... बाकी फिर देख लेंगे।'' सरदार ने बताया कि दूसरे दिन पता चला कि उसने अपने ही रिवालवर से अपने भेजे में गोलियाँ दाग लीं और मर गया। उसके परिवार ने ये बिल्लियाँ लेने से इनकार कर दिया। ...फिर सरदार ने उस लाल मुर्गी के बारे में बताया कि दुनिया में मुर्गी ही एक ऐसा

पालतू पक्षी है जो दूसरे पक्षियों के अंडों में से निकले चूजों को भी पालती हैं।...यह सात चूज़े बत्तख के हैं जो बीमार रहती है... बस अंडे दे सकती है। किस्मत की बात है कि यह मुर्गी उस समय कुड़क्क पीरियड में से गुजर रही थी और अब बत्तख के अंडों को सेंध, चूज़े निकाल उनको पालना ही इसका धर्म है।...फिर जब तक ये चूज़े अपने पैरों पर खड़े होने के काबिल नहीं हो जाते, उनकी खुराक का पूरा-पूरा ध्यान रखती है और इस दौरान खुद बहुत कम दाना चुगती है। बस उतना ही दाना चुगती है। जिसके सहारे वह जिन्दा रह सके। दो चूज़े बत्तख की गलती के कारण मर गए।

इसके बाद होटल के मालिक को किसी काम से किचन में बुला लिया गया और मैं वहाँ पड़ी एक चारपाई पर लेट गया। तकिये का सहारा लेकर बैठ गया। मेरा ध्यान उस लाल मुर्गी की ओर था जो बत्तख के अंडों में से निकले चूज़ों को दाना खिला रही थी और उनका पालन पोषण कर रही थी।

...मुझे उस लाल मुर्गी में एक औरत का रूप दिखाई दिया...बड़ी माँ का... बलवीर सिंह की बड़ी माँ जो अब अपनी ज़िन्दगी के नब्बे वर्ष पार कर चुकी थी। चालीस वर्ष पहले रोहतक में बिताई ज़िन्दगी मेरी आँखों के सामने बायोस्कोप की कहानी की तरह चलने लगी।

तब मैं पन्द्रह वर्ष का था जब पिता जी का तबादला सनौर (पटियाला) से रोहतक का हो गया था। मेरे पिता जी उस समय बैंक आफ पटियाला में सीनियर खजांची थे। वैश्य हायर सैकंडरी स्कूल में दसवीं कक्षा में मेरा दाखिला करवाया गया था। दसवीं के पाँच सेक्शन थे। पर मुझे ए सेक्शन में दाखिला मिला था जिसमें सभी प्रथम दर्जे के विद्यार्थी थे। इस सेक्शन में हम चारों विद्याथियों-देसराज, रोहतास, बलवीर सिंह और मेरा एक पैनल था। मैथ तथा दूसरे विषयों में सभी प्रवीण थे। जो जटिल प्रश्न हमारे अध्यापक भी सुलझाने में असमर्थ हो जाते थे, वह प्रश्न हम चारों में से कोई न कोई जरूर सुलझा देता... धीरे धीरे इस पैनल के चारों मैम्बरों की स्कूल में हुई दोस्ती, गहरी दोस्ती में बदल गई और हम चारों बिना किसी रोक-टोक के एक दूसरे के घर आते-जाते। रोहतास के पिता बिजली बोर्ड में सीनीयर लाइनमैन थे और बलवीर सिंह अपने मामा के पास रहता था जो हेल्थ विभाग में ग्रुप सर्वेयर-हैड था। बलवीर का परिवार सनातनी हरियाणवी जाट परिवार था, रोहतास ठाकुर परिवार में था, देसराज बनिया परिवार का लड़का था और मैं खत्री सिख हूँ। मैं सारी कलास के लड़कों में से ज्यादा सुन्दर और गोरा था। अभी मेरे दाढ़ी-मूँछ भी आनी शुरू नहीं हुई थी। बस पेंसिल से लगाई गई लाइन के समान मूछें आई थीं। सभी ने मेरा नाम रख दिया था-जगजीत लेडा। पहले पहले तो मुझे बहुत बुरा लगा, लेकिन धीरे-धीरे मुस्कराना शुरू कर दिया था। हरियाणा में सुन्दर, गोरे और शहतूत की छट्टी के समान पतले लड़के को प्यार से लेडा बुलाते हैं— लेडी के पुलिंग के तौर पर।

...फिर हम चारों हायर सैकंडरी पास कर सर छोटू राम कालेज में दाखिल हो गए, चारों ही साइंस क्लास में। अभी बी.एस.सी. प्रथम वर्ष में छः महीने ही बीते थे कि बलवीर सिंह के भाई की शादी तय हो गयी जो बलवीर से आयु में दो वर्ष बड़ा था। उसने हम तीनों को मजबूर किया कि हम शादी में जरूर आएँ। संयोगवश शादी दिसम्बर की छुट्टियों में आ गयी थी। इसलिये माता-पिता की इजाज़त भी आसानी से मिल गयी थी। सभी का केन्द्र बिन्दु... मैं सिख सरदार था। जब गाँव की गलियों में से गुजर रहे थे तो लोग घर से बाहर निकल निकल कर मुझे देखने लगे थे। कोई कहता-अरे सरदार। कोई बोला, 'देखो! सीखड़ा अपने गाम में।' मेरी माता की हमउमर औरतें भी मुझसे घूँघट निकाल, मुझे घूँघट में से गौर से देख रही थीं। भारी भारी काले घाघरे पहनें और पैरों में मोटे-मोटे चाँदी के संगल जैसे कड़े। मरदाने कुर्ते तथा सिरों पर हरियाणवी दुपट्टे। बहते नाक और तड़ागी पहने अधनंगे बच्चे खुशी में चिल्ला रहे थे और उनमें से कई ने तो निक्कर या लंगोट भी नहीं पहना था। पांच-छः हरियाणवी लड़कियाँ हल्के से इकहरे तह वाले पेटीकोट पहने अपने घर की छत पर खड़ी थीं। एक ने दूसरी को कहा, ''कितना सुथरा छोरा सै?''

''बलवीर ने पूछ के तेरे लगन की बात इससे पक्की करवा दें?''

''मनै तो कोई ऐतराज ना।... उस तै बूझ लै!'' गोरी सी बिना ढके हुए सिर वाली पेटीकोट पहने, अधिक बोलने वाली लड़की ने हमें सुनाते हुए कहा। उसकी नाक में पहनी तीली मुझे भा गई थी।

मैंने जरा सा गर्दन को ऊँचा उठाकर देखा और फिर नजरें नीची कर लीं। बलवीर कच्ची गलियों को पार करवाते हुए आख़िर हमें अपने घर की ओर ले गया। रास्ते में जगह-जगह पर गायों तथा भैंसों का गोबर बिखरा हुआ था। बहुत से घर कच्चे थे और कई दीवारों पर उपले बनाकर चिपकाए हुए थे। बलवीर के घर के बाहर सूखे उपलों को बारिश इत्यादि से बचाने के लिए मिट्टी के घरौंदे में रखा हुआ था। बलवीर ने बताया था कि इनको यहाँ की भाषा में बटोड़े (पंजाब में इनको गुहारे कहते हैं) कहते हैं।

...घर पहुँचे। सबसे पहले एक अधेड़ आयु की औरत ने हमारा स्वागत किया। भारी भरकम घाघरा, पैरों में कुंडल तथा मजबूत काठी। बलवीर ने हमारा परिचय करवाया, ''बड़ी माँ, ये तीनों मेरे खासम खास दोस्त-देसराज, रोहतास तो अपने रोहतक के सैं। यो तीसरा जगजीत लेडा पटियाले का गब्बरु। ...इसके लिए कोई बढ़िया सी छोरी, बड़ी माँ तू इधर की ढूँढियो... हरियाणवी छोरी सरदारनी बन जागी।''

मैं शर्म से पानी-पानी हुए जा रहा था और बलवीर तथा दूसरों को मजाक सूझ रहे थे।

बड़ी माँ ने हम चारों की पीठ पर प्यार से हाथ फेरा और हमारे माथों को अपने हाथों में लेकर चूमा। मुझे समझ में नहीं आ रहा था कि बलवीर उसे बड़ी माँ क्यों पुकार रहा था। दादी तो लगती नहीं थी। कुछ देर बाद बलवीर की दादी भी वहाँ पर आ गयी। उसने भी हमारा आदर-सम्मान किया तथा हमें प्यार दिया। ...फिर एक औरत और आई-बड़ी माँ से यही कोई दस वर्ष छोटी। उन दोनों के नयन-नक्श काफी मिलते-जुलते थे। बलवीर ने कहा, ''यो मेरी छोटी माँ।'' फिर उसने हम तीनों का छोटी माँ से भी परिचय करवा दिया। मैंने रोहतास को एक तरफ ले जा कर पूछा— ''ये छोटी माँ और बड़ी माँ का क्या मामला है?'' उसने बताया ''हो सकता है कि बड़ी ताई हो और छोटी वाली काकी अर्थात चाची।'' हरियाणा में चाचे को काका कहा जाता है और चाची को काकी। देसराज भी मेरी तरह अस्पष्ट था। शादी वाला

घर। दूसरे दिन चार कोस दूर पास वाले गाँव में बारात जानी थी। खाना मँगवाया गया। बड़े-बड़े कांसी के थाल, कोई कटोरी नहीं थी। जमीन पर टाट की बोरियाँ बिछा दी गयी। दो डिशिज़ आयी थीं, यह सोचकर मैं चारपाई पर पड़ा मुस्करा पड़ा हूँ। आलू की सब्जी जिसे वह आलू की दाल ही कह रहे थे और दूसरी लाल मिर्ची की चटनी जो हमारे सामने ही तैयार हो रही थी। साबुत लाल मिर्चों को थोड़े से पानी तथा साबुत नमक में मिला और उसे सिलबट्टे पर थोड़ा सा रगड़कर लेई सी बना ली जाती थी। वहाँ पर बैठे कई लोग तो बाजरे की रोटी पर लाल मिर्चों की चटनी लगाकर बड़े चाव से खा रहे थे। हम शहर वालों के लिए गेहूँ की रोटी का प्रबन्ध किया गया। पीने के लिए मीठा पानी तथा हाथ-मुँह धोने के लिए कुएँ का खारा पानी उपलब्ध करवाया गया था।

खाना खाकर बलवीर हमें अपने गाँव के मिडिल स्कूल, सरकारी डिस्पेंसरी, गाँव का तालाब तथा हनुमान मन्दिर इत्यादि दिखाने के लिए बाहर ले गया था।...रास्ते में बिजली के खम्बे लग रहे थे। अभी वहाँ पर बिजली नहीं पहुँची थी। गाँव में बिजली लाने के लिए तैयारियाँ की जा रही थी। मज़दूर खम्बों को रस्सों में बाँधकर जोर लगाकर ऊँचा उठाकर खोदे खड्डे में रखने का प्रयास कर रहे थे और साथ में गा भी रहे थे—

*'जोर लगा कि हई शा,*
*गेहूँ की रोटी हई शा।'*

स्कूल, डिस्पेंसरी, तालाब, मन्दिर इत्यादि देख हम गाँव के बाहर एक पुराने पीपल के पेड़ के नीचे बैठ गए। मेरे मन में कशमकश चल रही थी कि बड़ी माँ कौन है और छोटी माँ कैसे है?

बलवीर ने अपने परिवार के इतिहास के बारे में बताना शुरू किया कि वे सांगवान जाट हैं। अँग्रेजी सरकार के समय उसका दादा फौज में था। परिवार में उसके पिता जी सहित तीन भाई थे— कटार सिंह, सीसराम तथा रामपाल। सबसे बड़ा कटार सिंह जो चीन की जंग में शहीद हो गया था, वह तब कुँवारा ही था। सबसे छोटा रामपाल जो बहुत सीधा सा था उसको दस्त-उल्टियाँ लगने के कारण वह भी भगवान को प्यारा हो गया। अठारह एकड़ जमीन उसके पिता सीसराम के पास ही रह गयी। खेतीबाड़ी का सारा बोझ उसके पिता के कंधों पर आ गया। तब न ही ट्यूबेल था और न ही नहर। बस सब कुछ वर्षा पर ही निर्भर था। हाँ एक कुआँ उन्होंने अपने खेत में जरूर खुदवाया था जिसमें से वह चमड़े के कुप्पों के द्वारा बैलों के जरिये पानी खींचते जिससे कुएँ के आसपास की ज़मीन में खेती का काम कुछ आसान हो जाता। अकसर बाजरा-ज्वार बोये जाते। थोड़ी सी गेहूँ की बुआई भी कर लेते। पशुओं के लिए चारा भी बोया जाता। अकसर ज्वार को काटकर ही पशुओं को खिलाया जाता। कभी-कभार चने की फसल भी बो लेते। थोड़ी बहुत मूँगफली की बिजाई भी कर लेते। ...हाँ तरबूज तथा खखड़ियाँ (फुट) तो लगभग अपने आप ही बेशुमार उग जाती थी। बलवीर का पिता अपने बेटे श्रीनिवास के साथ मिलकर खाने के लिए ज़रूरतानुसार गुड़ का प्रबन्ध भी कर लेता। एक एकड़ में गन्ने की बिजाई करते। आधी फसल तो चोरी हो जाती और कुछ पशु चर लेते। आसपास कोई दुकान नहीं थी। हमें पेड़ के नीचे बैठाकर, बलवीर हम चारों के लिए चाय का कमंडल भर कर ले आया था और साथ में चार गिलास। चाय का घूँट भरा तो गुड़ की चाय का अनोखा स्वाद था। चाय पीते पीते बलवीर ने बताया कि उसके पिता ने दो शादियाँ की। पहली रामकली के साथ जिसको वे बड़ी माँ कहते हैं। शादी के दस साल बीत जाने के बाद भी जब रामकली की गोद सूनी ही रही तो रामकली खुद भी सोच में डूब गयी। जादू-टोने, मन्त्र, झाड़े, दवाइयाँ तथा व्रत इत्यादि सब बेकार हो गए। जब शहर की एक डाक्टरनी ने बताया कि उसकी बच्चेदानी का मुँह बन्द है और इसका ऑपरेशन सिर्फ इंगलैड में ही मुमकिन है तो रामकली ने हथियार फेंक दिये। वह अपने पीहर (मायके) गयी और माँ-बाप को मनाकर अपने से ग्यारह वर्ष छोटी बहन सन्तरी को ब्याहकर ले आयी और पति तथा सन्तरी की सुहाग-सेज उसने अपने हाथों सजायी, बेटी की तरह ब्याहकर लायी और बेटी की तरह ही रखा। पहले साल ही जब सन्तरी को गर्भ ठहरा तो सबसे ज़्यादा खुशी रामकली ने मनायी थी, बलवीर ने बताया था।

"पहले दो बच्चे, दोनों छोरियाँ (लड़कियाँ)।" बलवीर ने बताया कि प्रसूति तो छोटी माँ ने काटी, लेकिन दोनों बेटियों को बड़ी माँ ने ही पाला पोसा। दूध पिलाने के बाद बच्चों को वह अकसर बड़ी माँ को सौंप देती थी। बड़ी माँ की गोद में ही दोनों पली और पलकर बड़ी हुई। दूसरे जनेपे में जुड़वा बेटा-बेटी हुए। छोटी माँ ने कहा कि वह दोनों को खुद ही पालेगी। बड़ी माँ ने कोई ऐतराज न किया। छोटी माँ को तजुर्बा नहीं था। सर्दियों में दोनों को ठंड लग गयी— छः महीने के बच्चों को निमोनिया हो गया। फिर निमोनिया बिगड़ गया और वे दोनों भगवान जी को प्यारे हो गए। बड़ी माँ के मन को ठेस पहुँची। वह सन्तरी को समझाती, "इब जी छोटा मत करियो। भगवान जी की मौज, वे और देंगे।" अगले साल श्रीनिवास और उससे दो साल बाद बलवीर पैदा हुआ। उनके पालन-पोषण की जिम्मेदारी सन्तरी ने खुद ही बड़ी के ऊपर छोड़ दी। दोनों को नहलाने, धुलाने तथा खिलाना-पिलाना इत्यादि सब काम बड़ी माँ करती। सन्तरी बस घर के पशुओं का गोबर पाथती और घर की साफ-सफाई करती। दोनों लड़कों को सन्तरी ने सिर्फ दूध ही पिलाया, पर बड़ा किया बड़ी माँ ने। फिर तीन बेटियाँ हुई, तीनों बलवीर से छोटी। बड़ी बेटियाँ आसपास के गाँवों में शादीशुदा हैं।

बलवीर बता रहा था कि घर की सेठानी बड़ी माँ है। घर के सभी फैसले बड़ी माँ लेती है। फसल बेचकर जितना पैसा आता है, सब बड़ी माँ सन्दूक में सँभाल कर रखती है। रिश्तेदारी, आस-पड़ोस में शगुन देने, लेने की ड्यूटी बड़ी की है। कई बार तो बड़ी माँ काम-धन्धों में इतनी मसरूफ हो जाती है कि खाना खाना भी भूल जाती है। सन्तरी खुद काढ़नी से दूध निकालकर उसे देती है तो वह आगे से कहती, "सन्तरी तू पी ले, तनै बच्चे चुघियाने सैं।"

सन्तरी ने सन्तरे की फलियों की तरह नौ बच्चे जने जिनमें से सात अभी भी बड़ी माँ के दम पर कायम हैं। सन्तरी भी उसको बड़ी माँ कहकर बुलाती है। बलवीर ने हँसते-हँसते घर का भेद खोला, कभी-कभी तो बाबू जी उसने बड़ी माँ कह बुलावें, "बड़ी माँ यहाँ आईयो। सगे- सम्बन्धियों के घर विवाह सै। उत कौन

जागा?'' ...और वह एक पल मौन धार फैसला सुनाती है जो हम सभी को मंजूर होता है। बलवीर ने बताया कि एक दिन उसका पिता अपने दोस्तों की मंडली में बैठा कह रहा था, ''सन्तरी के सेज पे, उसने कभी पैर नहीं धरा। ...सन्तरी के आणै के बाद आज तक न मेरे मैं हिम्मत सै, उसके कन्धे पर हाथ धरन की। अर न वह धरवावे?''

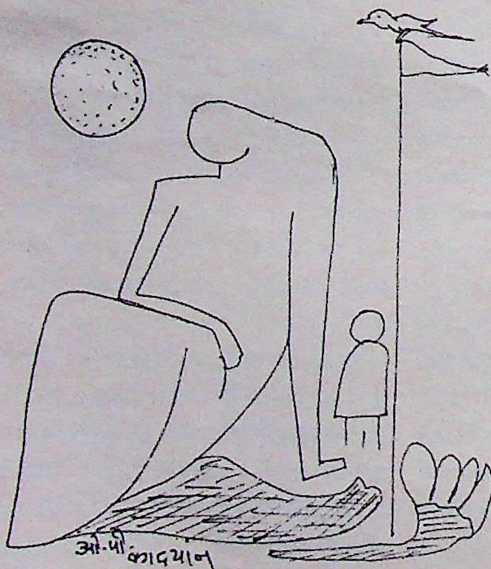
मैंने महसूस किया था कि सन्तरी को ब्याहने के बाद वह गृहस्थ-साध्वी बन गयी थी। अब उसके जीवन का मनोरथ परिवार के सभी सदस्यों को बढ़ते फूलते देखने का ही रह गया था। शिव की तरह घर के सभी सदस्यों के दुखों को पी जाना और सुखों के शहद को सभी को चटाना। घर परिवार में इतना व्यस्त हो गयी थी कि उसको अपने कपड़े बदलने की सुध-बुध भी कम ही रहती। बलवीर ने बताया कि वह तो उतना ही खाती, पीती और पहनती है जिससे उसकी साँसें चलती रहें और वह हम सबके काम आती रहे।

मुझे याद है कि शादी के दौरान हम चार दिन वहाँ रहे। बड़ी माँ हम चारों का ज़्यादा से ज़्यादा ध्यान रखती और हमें खिलाती पिलाती। बाजरे की रोटी पर सफेद रुई जैसा माखन का पेड़ा रखती। श्रीनिवास की शादी के बाद जब हम चारों वापिस रोहतक जाने लगे तो उसने हम तीनों को पाँच-पाँच सेर की घर के बनाए घी की पीपियाँ थमा दीं और साथ ही हिदायत दी थी, ''थम ने बहुत पढ़ना पड़े। यो सारा घी इम्तिहानों से पहले-पहले खा लियो। ...और किसी ने मत दियो। थारे घर कियाँ ख़ातिर, मैं और भेजूँगी।'' वह अपने वचन की पक्की थी और उसने पाँच सेर घी की एक-एक पीपी हम सभी दोस्तों के घरों में भेजी थी।

मैं सेवंटी माइल्ज होटल की एक चारपाई पर लेटा हुआ था और मुझे लाल मुर्गी में बड़ी माँ नजर आ रही थी और बड़ी माँ में लाल मुर्गी।

परीक्षाएँ ख़त्म हुईं तो बलवीर हमें एक बार फिर जबदरस्ती अपने गाँव ले गया। इस बार पहले जैसे गाँव के बच्चों तथा लड़कियों ने कोई विशेष नोक-झोक नहीं की थी। बड़ी माँ हम सब को एक साथ देखकर बहुत खुश हो गयी थी। हमारी सेवा में निमग्न हुई घूम रही थी। सांवड़ गाँव में जब चन्द्रवादी सांग का अखाड़ा लगा तो हम चारों दो ऊँटों पर बैठ वहाँ पहुँच गए। अखाड़ा दग्ध था। स्टेज के चारों तरफ़ लोग बैठे थे और लोगों के इर्द-गिर्द ऊँटों की कतारें थीं और ऊँटों पर बैठे लोग सांग का आनन्द ले रहे थे। सांग में कुछ लड़कों ने स्त्रियों के कपड़े पहने हुए थे और इस तरह लड़कियों का रोल निभाकर वे लोगों का मनोरंजन कर रहे थे। सांग के एक गायक के बोल मुझे आज भी याद आ रहे हैं।

*इस फैशन ने, माहरे देश में*
*किसी बिगाड़ी चाल*
*देखियो के होगा?*
*लुगाई सोवे खाट पै*
*और मर्द पकावे दाल*
*देखियो के होगा?*




सांग देखकर आए तो बड़ी माँ ने हमारे सामने दूध-गुड़ की खीर परोस दी थी। सुबह उठे तो हरियाणवी नाश्ता राबड़ी परोसा गया। पहले कांसी के थालों में बाजरे की खिचड़ी परोसी गयी और फिर तीन दिन पुरानी खट्टी लस्सी। मैंने भी सभी के साथ मिलकर खिचड़ी और खट्टी लस्सी को उँगलियों से मिलाकर पहले चखा और फिर खाया और बाद में हम सभी उंगलियाँ चाटते रहे।

बलवीर हमें बाहर पीलूओं के वन (पील के जाल) की ओर ले गया जहाँ पीलूओं के अनगिनत ही वृक्ष थे। दोपहर का समय हो गया था और हमने वन में पीलूएँ तोड़ तोड़ खाईं थी। रंग बिरंगी जामनी, हल्के पीले रंग की, लाल, मटमैले नारंगी रंग की पीलूएँ। बलवीर ने कहा था, ''पील चबाना नहीं, सिर्फ निगल तो, नहीं तो दाँत गिर जाँगे।'' कुछ पीलूएँ छोटे-छोटे छिक्कूयों में भर कर साथ ले आए थे, घर ले जाने के लिए। रास्ते में लड़कियाँ काफी पुराने नीम के पेड़ों पर झुला झूल रही थीं। कुछ नवविवाहिता थीं। ...हम सभी को आता देख बहुत-सी लड़कियाँ उपद्रव करने लग गयी थीं। हम झूले वाले नीम के पेड़ के साथ वाले नीम के पेड़ के नीचे खड़े हो गए तो झुला झूलती एक लड़की जिसकी पीठ हमारी तरफ थी, ने गीत गाया था।

*काची नीम की निमोली*
*सावन जल्दी आइयो री।*
*मामा दूर मत जाइयो*
*मामी नहीं बुलावेगी।*
*...काची नीम की...*
*लेडे-भईया दूर मत जाइयो*
*लेडी-भाभी नहीं बुलावेगी।*
*...काची नीम की...।*

मैं एकदम सहम गया, मेरे शरीर में अनकही सी कँपकँपियों की बाढ़ सी आ गयी। बलवीर ने बताया था कि यो तो अपणी दुलारी सै। बलवीर से दो वर्ष छोटी उसकी बहन दुलारी भी झूला झूल रही थी और मीठे सुर में गा भी रही थी। आगे चलकर कुछ औरतें जिनके मुँह और सिर ढके हुए थे, अपनी नवविवाहिता दुल्हन को विदा कर रही थीं:

*साथण चाल पड़ी*
*मेरे अखियें डब डब भर आए नीर।*

दूसरे दिन राखी का त्यौहार था। दुलारी तथा छोटियों ने हमारी कलाइयों पर पौंचियाँ (राखियाँ) बाँध अपना प्यार जताया था। छोटी माँ और बड़ी माँ के फौजी भाई आये थे। फौजी छः जर्सियाँ और छः कम्बल साथ लाए थे। एक-एक फौजी कम्बल और एक-एक फौजी

जर्सी हम सबको दी थी। हम चारों को श्रीनिवास बैल-गाड़ी द्वारा बस-स्टॉप तक छोड़ गया था।

अभी मेरी चाय ख़त्म हुई ही थी कि एक कार मेरी बायीं ओर आकर रुकी। देसराज उसमें से निकला और हमने हाथ मिला एक-दूसरे को बाँहों में कस लिया।

हमने खाना मँगवाया और साथ ही साथ एक-दूसरे के घर-परिवार की कुशल मंगल पूछते रहे। दोनों ड्राइवरों ने चाय पी। हमने पहले मुर्थल और फिर सोनीपत की राह पकड़ी। मैं देसराज की कार में बैठ गया था और मेरा ड्राइवर कार में हमारे पीछे-पीछे आ रहा था। सोनीपत के बाद हम रोहतक पहुँचे और फिर सांवड़ के बाद धिंगताणा गाँव पहुँच गये। रास्ते में पीलूओं वाले जाल अदृश्य से हो गये थे।

चालीस वर्ष बाद धिंगताणे में काफी तबदीली आ गये थी। गलियाँ पक्की हो गयी थीं और नालियाँ भी। स्कूल भी मिडिल से सीनियर सैकंडरी हो गया था। छोटा पोस्ट आफिस भी बन गया था। डिस्पेंसरी दस बिस्तर के अस्पताल में तबदील हो गयी थी। अब चालीस गज के घाघरे वाली कोई औरत इक्का दुक्का ही नजर आती थी। लगभग सभी सिलवार कमीज तथा दुपट्टे ओढ़े हुए थीं। किसी बिरली ही औरत के मुख पर घूँघट था। अब मेरी पगड़ी को देख कोई मेरी तरफ ध्यान नहीं दे रहा था। एक दुकान पर टी.वी. चल रहे थे। जिसमें दलेर मेहंदी-छूई-मुई गाना गा रहा था। चाय की एक और दुकान में भी टी.वी. चल रहा था। टी.वी. में मल्लिका शेरावत अधनंगे शरीर में डांस कर रही थी। सिरों पर पगड़ियाँ बाँधे दो हरियाणवी बुजुर्ग हाथों में चाय के गिलास पकड़े, एक दूसरे से कह रहे थे, "इसने तो हरियाणे का नाम माटी में मिला दिया।"

हमने जब मोबाइल किया तो प्रोफेसर बलवीर सिंह खुद हमें ले जाने के लिए मेन रोड पर आ गया था। वह हमें बता रहा था, "बड़ी माँ को जब बताया कि जगजीत लेडा आ रहा है तो उसने आँखें खोलीं, चारों तरफ़ देखा, फिर आँखें मूँद लीं। रोहतास उसके धोरे ही बैठा है। रोहतास का हाथ उसने पकड़ राखिया है।"

गाँव में अब एक-आध ही नीम का पेड़ नजर आया। हम तीनों घर पहुँचे। घर में मेला-सा लगा हुआ था। लेकिन सब चुप थे— सन्नाटा था। छोटी माँ मुझे गले लगा कर मिली। वह अब सिलवार तथा मर्दाना कमीज पहने हुए थे। प्रोफेसर बलवीर सिंह की पत्नी जो साड़ी में थी, हाथ जोड़कर मिली और बलवीर की अठारह वर्षीय बेटी मुझे सीने से लगकर मिली। उसने जींस पहनी हुई थी। हम लोगों के आने से लोगों ने चैन की साँस ली थी। बलवीर का पिता दोनों हाथों में बाँस की छड़ी पकड़े तथा ठुड्ढी को छड़ी पे टिकाये, बैठा कुछ सोच रहा था। हमें देखकर वह बोला, "अरी बड़ी माँ! देख कौन-कौन आये सैं, तेरा देसू आ गया... तेरा लाडला लेडा भी आयो है।"

काला घाघरा पहने बड़ी माँ लेटी हुई थी। अब उसका चेहरा शान्त और सहज हो गया था। उसने इशारे से हम दोनों को अपने पास बुलाया और मेरा हाथ पकड़कर चूमा और कहने लगी, "अरे लेडे, तैं इतना निर्मोही कद तैं हो गया रे? ...मेरी निंहकर्मण की कदे याद भी न आयी तनैं? ...बाल-बच्चे राजी सैं? बहुडिया ने नहीं ले के आया? ...उसने देख लेती तो मन मैं और चैन आ जाता...। ...देसू तू भी आ गया बेटा... घर परिवार सभी राजी खुशी सैं... ?"

हम सभी को उसने धीरे-धीरे हिल रही पलकों से देखा, फिर पलकें मूँद ली। फिर पलकें एक जगह टिकाकर बोली "मेरे पाँचों बेटे, पाँचों बेटियाँ, पाँचों दामाद सब मेरे धोरे सैं... सभी पोते-पोतियाँ और नाती और नातियाँ भी ...इब मैं आराम तैं मरूँगी ...हाँ लेडे मैं मर जाँ तो मेरे ब्याह के लाडु, जलेबियाँ मेरे लाल-गुपालों में जरूर बाँटियों...।" ...यह कह कर बड़ी माँ चुप हो गयी थी...। मैंने हिलाने की कोशिश की ...उसकी नाक को दबाया ...नाक के भीतर की साँस मेरे हाथों के बालों को नहीं छू रही थी। मैं अपनी आँखों को बायें हाथ के अँगूठे और पहली ऊँगली से दबा रहा था। आँगन में लगे पीपल के वृक्ष से एक कबूतर ने अपने पँख फैलाये और आसमान की तरफ उड़ गया।

**मेहराम प. प्र. लि.**
**मेहराम स्ट्रीट,**
**नाभा - 147 201 (पंजाब)**
**फोन : 9216335884**

रामकुमार आत्रेय

## दण्डित किये जानें लायक

धार्मिक गुरुओं का तो काम ही होता है
धर्म का प्रचार करना
उपदेश देना
ये तो मानवता और भाईचारे का पाठ पढ़ाते हैं
ये धार्मिक विद्वेष पैदा करेंगे
ऐसा सोचना भी पाप है
इसलिए इन्हें ससम्मान निरपराध घोषित किया जाता है

नेताओं की तो आदत ही होती है
बकबक करने की
इनकी बातों का
जनता पर कोई असर नहीं होता है
इनके कहने पर साम्प्रदायिक दंगे फैलेंगे
ऐसा सोचना भी गलत है
इसलिए इन्हें बाइज्जत बरी किया जाता है

लेखक की लेखनी से निकला शब्द
धनुष से छूटे बाण की तरह होता है
जो भोले-भाले लोगों पर
मारक प्रभाव छोड़ता है
वैसे भी लेखक का एक-एक शब्द
हल्फिया बयान ही होता है
साम्प्रदायिक दंगे इसी की वजह से फैले हैं
इसे पाँच वर्ष कठोर कारावास का दण्ड दिया जाता है!

864/-ए/12, आजाद नगर
कुरुक्षेत्र - 136119
मो. 09416272588

आत्मा रंजन

## कंकड़ छाँटती

भागते हाँफते समय के बीचोबीच
समय का एक विलक्षण खंड है यह
अति व्यस्त दिन की
सारी भागम भाग को धत्ता बताती
दाल छाँटने बैठी है वह
दफ्तर से लौटने में उसकी देरी के बावजूद
तमाम व्यस्तताओं को परे ठेलती
पूरे इत्मीनान से टाँगे पसार
बैठी हुई है विशिष्ट मुद्रा में
हाथ मुँह धोते, कपड़े बदलने जैसी
हड़बड़ी नहीं है इस समय
एक आदिम ठहराव है
तन्मयता है पूरी तल्लीनता
पूरे मन से डूबी हुई एक स्त्री
एक-एक दाने को सौंप रही
उँगलियों को स्निग्ध स्पर्श
साफ होने की गरिमा भरी अनुभूति
स्वाद के तमाम रहस्य
और भी बहुत कुछ....

एक स्त्री का हाथ है यह
दानों के बीचोबीच पसरा स्त्री का मन
घुसपैठिए तिनके, सड़े पिचके दाने तक
धरे जाते हुए
तो फिर कंकड़ की क्या मजाल !
उसकी अनुपस्थिति में
मेरे हाथों को अनावश्यक ही
लगता रहा है यह कार्य
या फिर तीव्रतर होती जीवन गति का बहाना

उसकी अनुपस्थिति दर्ज होती है फिर
दानों के बीचोबीच
स्वाद की अपूर्णता में दर्ज होती है
उसकी अनुपस्थिति
भूख की राहत के बीच
दाँतों तले चुभती
कंकड़ की रड़क के साथ
चुभती रड़कती है उसकी अनुपस्थिति
खद्य और खाने की
सुविधा और तमीज़ बताती हुई

एक स्त्री का हाथ है यह
जीवन के समूचे स्वाद में से
कंकड़ छाँटता हुआ!

राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
चंडी अर्की, वाया दाड़लाघाट
सोलन-171102 (हिमाचल प्रदेश)
मो. 09418450763

एन. नवराही

## खिड़की

आप जिस खिड़की से देख रहे हैं
ज़रूरी नहीं
वो सही ही हो।

देखे जानेवाले
उस दृश्य के कई पक्ष
हो गए होंगे
ओझल आपकी आँख से

80, राजनगर, बी. बी. खेल
केपीटी रोड, जालंधर (पंजाब)
मो. 09815070059

जसबीर चावला

## कोमा में मछलियाँ

ये वही मछलियाँ हैं
जो तैर रहीं तीर के निशाने पर?
सीधे नहीं देख पाता अर्जुन जिन्हें?
ये वही परछाइयाँ हैं?
गहन चिकित्सा की काँच-दीवारों
भीतर कैद रोगियों की
इन्हें बेध पूर्ण होगा स्वयंवर?
पहनाएगी माला द्रौपदी
निधन लेगा जीवन वर?

123/1, सेक्टर 55
चंडीगढ़-160055

यादवेन्द्र शर्मा

## आधुनिकता बोध

आनी समस्याओं की
कैद में बन्द था मैं
नहीं देख पाया
कब वसन्त आया
पहाड़ों पर पिघल गयी
ऋतु की अन्तिम बर्फ़

सख़्त हवा के चेहरे पर
आ गयी स्निग्धता
और नम्रता।
खेतों कछारों में
फूट पड़ी हरियाली
बिछल गयी
धरती माँ की गोद में!
कितने ही फूल मुस्काए
सुगन्ध और मधु बाँटते
झड़ गये (ऊफ़ : न की)
पंछियों ने गाये
नि:शुल्क हजारों गीत
ठण्डे प्रदेशों की ओर
लौट पड़े गद्दियों के खेड़
मेले की धूम
पैं पैं का स्वर
मैंने न सुना
ठस्स थी इन्द्रियाँ
जड़ थे भाव

तब भी मैंने
लिख ही डालीं
आधुनिकता बोध की कविताएँ अनेक

117/6, लोअर बाड़ी, सुन्दरनगर
हिमाचल प्रदेश - 174401

## गुरमीत बेदी
## कई बार

कई बार हमने सोचा भी नहीं होता
कि कोई चुपचाप
इस तरह उतर जाएगा हमारी देह में
और धड़कनों का संगीत चुरा ले जाएगा

या फिर धारा के खिलाफ तैरने निकले हम
बन जाएँगे नदी के दो ओर-छोर

हम मुट्ठियों में धूप लेकर
जंग जीतने निकलते हैं
कि बादल का कोई टुकड़ा
चुपके से उठा ले जाता है यह धूप

हमने सोचा भी नहीं होता
कि दुश्मन जब होगा सामने
तो होंगे हम इस तरह निहत्थे

हमने सोचा भी नहीं होता
कि जिस परिधान में दमक रहे हैं हम
एक दिन कोई मौसम
उतार ले जाएगा उसका रंग

जिला लोक सम्पर्क अधिकारी
ऊना-174303 (हिमाचल प्रदेश)
मो. 09418033344

## कुलविन्दर सिंह मीत
## परिन्दे

ज़मीनों से बँधे होने का
एहसास नहीं पालते
परिन्दे
स्वयं बनाते हैं
अपनी दुनिया
रचते
एक अपना जहान

परिन्दे
तिनका-तिनका
आपस में जुड़े होते हैं।
मन्दिरों या मस्जिदों
की मीनारों पर बैठकर
पुन्य नहीं कमाते
न दंगाइयों की भीड़ में
शामिल होते हैं

अपना जीवन
अपनी तरह से जीते हैं

परिन्दे तो नास्तिक होते हैं।

333/3, अजीत नगर, गाड़ी गढ़,
जम्मू-181101
मो. 09419803334

## डॉ. नलिनी विभा 'नाज़ली'
## ग़ज़ल

गुंचा-ओ-गुल चाक दामां है यहाँ पर
वक़्त कैसा आ पड़ा है गुलसिताँ पर

शहर क़ब्रिस्ता बनाए ज़लज़लों ने
ग़म के बादल छा गए हैं आसमाँ पर

फूल किसने नोच डाले गुलबुनों से
क्या भरोसा हम करें अब बाग़बाँ पर

शोरे-मातम सिसकियाँ फ़रियाद चीखें
है अलम की दास्ताँ हरइक ज़बाँ पर

दिन दहाड़े लुट गये सारे मुसाफ़िर
क़हर बनकर कौन टूटा कारवाँ पर

क्यूँ ख़फ़ा है मादरे-फ़ितरत तू हम से
इम्तिहाँ-दर-इम्तिहाँ क्यूँ हैं यहाँ पर

ज़ीस्त की बुनियाद ही मिस्मार कर दी
ढाए हैं सद्मात ऐसे मेरी जाँ पर

बिजलियो हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा
किसलिए नाज़िल हुई तुम आशियाँ पर

इस नहूसत की घड़ी में 'नाज़ली' अब
कर दुआएँ बस ख़ुदा के आस्ताँ पर

नाज़िल : उतरीं, नहूसत : अमंगल/अनिष्ट, आस्ताँ : चौखट

व्याख्याता कंठ संगीत
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हमीरपुर-177005
हिमाचल प्रदेश

## विजया ठाकुर
## ग़ज़ल

हर मकाँ ख़तरे में है हर इक बशर खतरे में है
बहशियों की भीड़ में हर एक सर ख़तरे में हैं

अम्न का पैग़ाम आया यह ख़बर ख़तरे में है
सब की सब माँगी दुआओं का असर ख़तरे में है

बद हवासी में भटकते लोगे सारे दर-ब-दर
रहमतों की बात करनेवाला दर ख़तरे में है

पंछियों के भी घरोंदे अब नज़र आते नहीं
ज़िन्दगी देता था जो वो हर शजर ख़तरे में है

आदमीयत के मुखौटों में छिपी सब सूरतें
जिस किसी को देखें किस्सा मुख़्तसर ख़तरे में है

अस्ल मुद्दों का नहीं होता कहीं पर ज़िक्र भी
सोचते यह बात वो हर एक सर ख़तरे में है

कोई भी शै इस ज़हाँ की पाक ख़तरे से नहीं
आस्था ख़तरे में है यह बहरो-बर ख़तरे में है

साज़िशें हैं ख़ास हिस्सा आज के इस दौर का
मोतबर ख़तरे में है नामोतबर ख़तरे में है

नफ़रतें फैलीं फ़ज़ाओं में यहाँ कुछ इस क़दर
दिलकशी मंज़र निगारी की नज़र ख़तरे में है।

वार्ड नं. 13, शास्त्री नगर
कठुआ, जम्मू
मो. 09419170455

## डॉ. कुमार विनोद
## ग़ज़ल

ज़िन्दगी हँसने हँसाने के लिए
बात अच्छी, है सुनाने के लिए

ख़ाब महलों के लिए आँखों में हम
दर-ब-दर भटके ठिकाने के लिए

एक तितली को सज़ा फिर से हुई
फूल से खुशबू चुराने के लिए

नाउम्मीदी से हमें उम्मीद थी
आएगी, पर लौट जाने के लिए

पूछ मत कितनी मशक्कत चाहिए
इक ज़रा-सा मुस्कुराने के लिए

एक मुद्दत से लगा हूँ दोस्तो
नींद से ख़ुद को जगाने के लिए

रीडर, गणित विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र-136119 (हरियाणा)
मो. 09416137196

## नवीन नीर
## कविता की भाषा

उसने अपनी याददाश्त का एक हिस्सा काटकर
सुध-बुध खो रही
उस कविता की पंक्ति पर
चिपका दिया है
जो कबसे खुद के अधूरेपन का शिकार है
जिसकी भावुकता पर होता रहा प्रहार
जबकि वह एक पारदर्शी दीवार है
बेशक, भटकाना चाहे दुनिया का कर्म है
फिर भी किसी न किसी हाथ ने
थामा हुआ मर्म है
जो सँभालने की पूरी रस्म अदा करता है
दृढ़ता का मजबूत सिलसिला भटकाव की
आँखें में भरता है
जहाँ से वक्त सब कुछ साफ देख पाता है
एक आसमान पूरा खुल जाता है
धुँधलापन का मुँह बिलकुल धुल जाता है
इन कुहराम मचाते विचलित शब्दों का मन
इत्मीनान से पन्नों पर टिक पाता है
अधूरी कविता की भाषा को
एक मुकम्मल संवाद मिल जाता है।

2401/24-सी
चंडीगढ़

## राज जम्वाल
## रेत का घर

रेत के घर थे
गुम गये
न शक्ति थी पानी से जूझने की
न हौसला आँधियों से टकराने का
क्षणभर में ही बिखर गये
जिन्हें बनाया था
एक स्वप्न की तरह
मौन समय के सबसे
कमजोर क्षण थे
जिन्हें पिरोया था हमने
चाँद के उस पार के धागे से
खामोशियों के शहर से होते हुए
साँसों का यह टूटता सफ़र
बह गया वक़्त की आँधियों में
न फ़ुर्सत मिली सँभलने की
न ठहरने का समय
तय किये सफ़र जो साथ
एक स्वप्न से लगने लगे हैं।

मकान नं. 17,
पुराना गुढा बख्शी नगर
जम्मू

## ओम भारद्वाज
## पहाड़ पर औरत

वह जो जा रही है
पीठ पर कुछ उठाए
पहाड़ी औरत है
उसकी कमर से बँधा रहता है
हमेशा एक पहाड़
'गाची' की सिलवटों से झाँकता
दराटी की धार से बचता
दबा रहता है
गोबर के 'गिल्टे' के नीचें
सोचता हुआ
कब खोलेगी पहाड़ी औरत
गाची की गाँठ
और वह बैठ सकेगा
उसके सिर
पहाड़ी औरत नहीं होने देती साकार
पहाड़ का सपना
वह कसती है अपनी कमर
हर मौके पर
उसके साहस के आगे पहाड़
बौना दिख रहा है।

गाची : कमर में बँधनेवाला कपड़ा जो पहाड़ी औरते अकसर बाँधती हैं।

किल्टे : गोबर को पीठ में उठानेवाला पात्र।

गाँव : बलन, डा. जैस
तै. ठियोग, शिमला-पिन : 171201
हिमाचल प्रदेश

# आसमान में इन्द्रसभा

भगवान सिंह

**वैज्ञानिक उस रहस्य का पता** लगा रहे हैं जिससे बुढ़ापा आता है। खोज इस बात की भी हो रही है कि आनुवंशिक बीमारियाँ जीन में क्या परिवर्तन करके रोकी जा सकती हैं। दवाएँ बन चुकी हैं जिनका दावा है कि इनके सेवन से बुढ़ापे में भी मर्दानगी दिखाई जा सकती है। दवाएँ ऐसी भी हैं जिनका दावा है कि मानसिक दुर्बलता को इनसे दूर किया जा सकता है। पूरी तरह निरोग आदमी, जरा से मुक्त या अजर मनुष्य, इसलिए अमर मनुष्य, यौन लिप्सा की पूर्ति को समर्पित मनुष्य धरती पर अपना स्वर्ग बसाकर रहेगा। सोचने में कितना सुहावना लगता है कि आप अमर हो सकते हैं। इस अमरता के बाद आप को सन्तान सुख को त्यागना होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि पहले की पूरी आबादी जीवित रहे और बच्चे पैदा करती जाए और जल्दी ही वह दिन आ जाए कि आदमी की दशा कीड़ों-मकोड़ों से भी बदतर हो जाए। इसलिए ज़रूरी है कि सभी अमर न होने पाएँ। यह सुख कुछ लोगों को, केवल असाधारण सम्पन्न जनों को ही प्राप्त हो सके।

असाधारण सम्पन्नता वाले लोगों ने ही पहले भी अमरता, यौवन, आरोग्य और भोगक्षमता की लालसा की पूर्ति के लिए विलासियों के स्वर्ग की कल्पना अपने पुरोहितों से करायी थी। उस काल्पनिक स्वर्ग से भी आसन्न भविष्य के सम्भावित स्वर्ग की तरह इस बात का विधान रखा गया था कि यह साधारण जनों के लिए अलभ्य बना रहे। एक समय पक्षियों की तरह उड़ने या दूसरे ग्रहों-उपग्रहों तक पहुँचने की कल्पनाओं को विज्ञान ने सत्य बना दिया। उस कल्पना को जिसमें सिरजनहार नये जीते-जागते प्राणी बनाता था, विज्ञान ने क्लोनिंग से यथार्थ में बदल दिया। अजरों, अमरों, व्याधिमुक्तों और विलासियों का यह स्वर्ग भी धरती पर निकट भविष्य में उतार लिया जाएगा। परन्तु इसे इतना महँगा तो बनाना ही होगा कि इसका लाभ कुछ ही लोगों को मिल सके और फिर बची हुई जनसंख्या से कैसे निबटा जाए इसका तरीका भी निकाल लिया जाएगा। संक्षेप में कहें तो स्वर्ग बसाने की कामना असाधारण सम्पन्न और शक्तिशाली लोग करते हैं, और इसका निर्माण उनके 'चतुर-सुजान'।

हम देख आये हैं कि स्वर्ग की प्राथमिक अवधारणा भी समृद्धि से ही जुड़ी हुई थी। नाभिकीय बिन्दु से हटे बिना भी इसका विकास चिर विलासिता के एक केन्द्र के रूप में हुआ, जहाँ अनुशासन और आदेशपालन निरंकुश शासक जैसा था। दंड था देशनिकाला, अर्थात स्वर्ग से निष्कासन और धरती पर मानवीय जीवन जीने की बाध्यता। परन्तु स्वर्ग या मरणोत्तर सुख की कल्पना के दूसरे रूप भी थे, जिनमें भी भौतिक सुख के समस्त साधनों का विधान किया जाता रहा है। मध्येशिया में पायी गयी समाधियों के साथ दफन किये गये विपुल धन और मिस्री पिरामिडों में दफन राजाओं की इच्छापूर्ति के सामान इसी के इतर रूप हैं। इन दोनों में समानता यह है कि जीवन के सभी सुख, मरने के बाद भी, अनन्त काल तक भोगे जा सकते हैं। अन्तर केवल ब्यौरों में है। अब नये स्वर्ग को बिना प्राण गँवाए इसी धरती पर उतारा जाएगा।

भारतीय स्वर्ग की कल्पना एक लोक के रूप में की गयी जिसका अधिपति इन्द्र है। इसके कारण इन्द्र के चरित्र में जैसे अन्तर्विरोध और जैसी लोच है वैसा किसी अन्य देवता में नहीं पाया जाता, यद्यपि अधिकांश देवता ऐसे हैं जिनकी भूमिका अर्थव्यवस्था में आए परिवर्तन के कारण बदलती रही है और इस बदलाव के बाद भी उनके पुराने रूपों और भूमिकाओं को भुलाया नहीं गया है। अतिजीविता और विकास के इस ताने-बाने को समझते हुए ही हम उस स्वर्ग के नियामक कारणों और घटकों को समझ सकते हैं। आज के समय में बहुत से लोगों को यह समझाया नहीं जा सकता कि हमारा देव-समाज प्राकृतिक शक्तियों से निर्मित है और उनकी क्रियाओं के साथ श्लीलता, अश्लीलता के प्रश्न अप्रासंगिक हैं। फिर भी उनका जो चरित्र बन गया है और जिस रूप में उनकी पहचान है, उसके साथ छेड़छाड़ करना भी अदूरदर्शिता है।

इन्द्र की कल्पना पहले वर्षा के देवता के रूप में की गयी। यह

देवताओं में सबसे नये देवता थे— इतने नये कि इन्हें कुशिकों की सन्तान या कौशिक कहा गया है, जिससे यह प्रकट होता है कि इसकी उद्भावना कुशिकों ने की थी। इसकी महिमा को नकारने वालों की भी कमी नहीं थी। इस बात को लेकर तो विवाद चल ही रहा था कि उसे देखा किसने है, उसकी आराधना क्यों की जाए (*प्र सु स्तोमं भारत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यं अस्ति, न इन्द्रः अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि स्तवाम,* 8.100.3) इसके बाद भी कुशिकों या लोकगायकों द्वारा इन्द्र की महिमा-मंडन के लिए तरह-तरह की दलीलें दी जा रही थीं और यह बताया जा रहा था कि इन्द्र देवों में सबसे बड़ा है— ऐ स्तोता, देखो यह मैं हूँ, सृष्टि में जितनी भी चीज़ें उत्पन्न हुई हैं, मैं उन सबसे महान हूँ, मेरा संवर्धन ऋत के विधान करते हैं, मैं विदारक हूँ और लोकों को विदीर्ण करता हूँ (*अयं अस्मि जरितः पश्य मा इह विश्वा जातानि अभि अस्मि मह्ना। ऋतस्य मा प्रदिशः वर्धयन्ति आदर्दिरः भुवना दर्दरीमि,* 8.100.4)। परन्तु उनकी रुद्र, वरुण, आदि से लगातार स्पर्धा बनी रहती है और इसलिए ऋग्वेद के पुराने मंडलों से ले कर नये मंडलों तक में बार-बार यह सिद्ध करने के लिए दलीलें दी जाती हैं, कि वह सबसे महान है।

इन्द्र को वर्षा के कुछ पुराने देवताओं से— रुद्रगण, वृषाकपि— से भी स्पर्धा करनी पड़ रही थी। वृषाकपि का विकास आगे चलकर हनुमान के रूप में हुआ। इन्द्र को इनमें अधिक शक्तिशाली सिद्ध करने के लिए वृषाकपि को इन्द्र का पुत्र और मरुद्गण को उनका सहायक बना दिया गया। आगे चलकर महाकाव्यों में हनुमान इन्द्र के प्रतिरूप राम के सेवक, सीता को मातृवत मानने वाले भक्त के रूप में चित्रित किये जाने लगे, जबकि ऋग्वेद के वृषाकपि इन्द्राणी के साथ अश्लील विनोद करते पाये जाते हैं और उनका प्रत्युत्तर देती हुई इन्द्राणी उससे भी भोंड़े रूप में अपनी यौन-क्षमता की डींग हाँकती हैं (*न मत् स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्, न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्य उद्यमीयसी,* 10.86.6)। यह ध्यान रहे कि इन्द्राणी या शची इन्द्र की शक्ति का प्रतीक हैं और यह शक्ति है उर्वरता। इसमें प्राचीन मातृप्रधान समाजों की आदर्श-बहुभोग्या-स्त्री की भी छाया है।

हनुमान अंजनी और पवन के पुत्र हैं जो जन्म लेते ही सूर्य को निगल लेते हैं। मारुति का यह गुण मरुतों के अनुरूप है जो घटाटोप बादलों से दिन में भी अँधेरा कर देते हैं (*दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्यन्जेन उदवाहेन,* 1.38.9)। सूर्य को निगलने का सम्बन्ध इसी से है। इसी तरह ऋग्वेद में अंजनी तो नहीं मिलती, परन्तु मरुद्गणों को अंजि धारण करने वाला बताया गया है। पंडितों ने अंजि का अर्थ अलंकार किया है जो व्यापारियों के मामले में सही हो सकता है। मरुद्गणों का एक रूप उन व्यापारियों का है जो दल-बल के साथ सुदूर यात्राओं पर जाते हैं। इन्हें नृत्य और गान का भी बहुत शौकीन बताया जाता है। परन्तु प्रकृति लीला में झंझा के साथ बादलों में चमकती बिजलियों को अंजि के आशय में ग्रहण करना अधिक उपयुक्त लगता है (*वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना,* 7.56.13)। यही मरुतों का अलंकरण है। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में इन्द्र को मरुतों का भ्राता बताकर उनसे समकक्षता भी प्रकट की गयी हैं (*किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतः तव,* 1.170.2), और फिर वह उनसे ऊपर उठ जाते हैं। मरुतों का महिमागान करते हुए यह कहा गया है कि ये पहाड़ों को उखाड़ देते हैं और समुद्र को पार कर जाते है (*य ईंखयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम्,* 1.19.7)। हनुमान द्वारा समुद्र पार करने और संजीवनी बूटी, जो सोम का ही पर्याय है, पहाड़ से लाने के लिए पहाड़ को ही उखाड़कर ले उड़ने की कथा में इसे भी मूर्त कर दिया गया है। मरुतों की रसिकता वाला रूप हनुमान के कुछ चित्रणों में मिल जाता है, अन्यथा सामान्य रूप में उन्हें ब्रह्मचारी दिखाया जाता है।

जो भी हो, वर्षा का यह नया देवता दुष्टों का संहार करने वाला कैसे हो गया? वणिकों का प्रतिरूप कैसे हो गया? इतना कामातुर और अमर्यादित कैसे हो गया कि इसको ऋषिपत्नियों तक का शीलभंग करने वाला बताया जाने लगा? ये प्रश्न हमारे सांस्कृतिक विकास के कतिपय महत्त्वपूर्ण चरणों को समझने में सहायक हो सकते हैं। कविता क्या कर सकती है और हमारे मनोलोक की रचना में कविता की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है इसे भी इसी के माध्यम से समझा जा सकता है।

इन सवालों के ऊपर एक और सवाल है। उद्दाम वासना और मुक्त विलासिता वाले स्वर्ग की यह अवधारणा पश्चिम से पूर्व की ओर आयी या पूर्व से पश्चिम की ओर गयी? किस क्षेत्र की परिस्थितियाँ इसके विकास के अनुरूप थीं और किसमें इसके प्राथमिक चरण का विश्वसनीय चित्रण मिलता है, इस पर कुछ तटस्थ होकर विचार करना जरूरी है। आहार की प्रचुरता वाले क्षेत्र की अवधारणा में भी पूर्व और पश्चिम में गहरी समानाताएँ हैं, इसका संकेत हम कर आये हैं। परन्तु हजारों साल बाद होने वाले वाणिज्यिक चरण तक के विकास में भी समानताएँ इतनी गहरी हैं कि हम यह नहीं कह सकते कि एक से दूसरे की उद्भावना नहीं हुई है, अथवा एक ने दूसरे को प्रेरित नहीं किया है।[1]

इन्द्र की उद्भावना यज्ञ और कर्मकांड (अग्नि ही विष्णु है, यज्ञ ही विष्णु है) का जवाब थी। इससे जो दार्शनिक चिन्तन आरम्भ हुआ उसमें अग्नि से आगे जाकर, अग्नितत्त्व की दिशा में यात्रा होती है, जिसमें विद्युत और सूर्य सभी अग्नि के रूप बन जाते हैं। सूर्य अपनी किरणों से जल के स्रोतों को सुखा देता है। पानी से भाप उठने लगती है और ऊपर की ओर जाती है। कल्पना की गयी है कि जल वायु की सहायता से सूर्य किरणों के द्वारा खींच लिया जाता है। यह जल सूर्य के पास ही संचित भी रहता है। जैसे धरती पर एक समुद्र है, उसी तरह आकाश में भी एक समुद्र है। इस जल को ही सूर्य बरसाता है और उसका यह वर्षक रूप ही इन्द्र है। इसी अर्धवैज्ञानिक चिन्तन का अपर पक्ष यह था कि जैसे आकाश में समुद्र है, धरती पर समुद्र है, उसी तरह धरती के नीचे भी एक समुद्र है। जब हम जमीन को गहराई तक खोदते हैं तो उससे भी पानी निकलता है। जहाँ खोदो वहाँ। धरती के नीचे का यह समुद्र भी उतना ही या उससे भी विशाल है जितना धरती के ऊपर का समुद्र। पाताल के समुद्र, अन्तरिक्ष के समुद्र और आकाश के समुद्र की यह अवधारणा भी स्वर्ग की अवधारणा भी स्वर्ग की तरह भारत से लेकर मिस्र तक फैली हुई थी।

इन्द्र का देवत्व उस चरण पर ही सम्भव था जिस पर इसकी उद्भावना हुई। इस समय तक धीरे-धीरे जंगलों, झंखाड़ों को जला और साफ करके एक विशाल मैदानी भाग तैयार किया जा चुका था। भूविस्तार

आगे जारी रहा पर अब मुख्य समस्या असुरों से सुरक्षा नहीं, जल की ऐसे मैदानी भाग में व्यवस्था हो गयी जो जलस्रोतों से दूर था। यह वह चरण है जब कृषि का प्रसार नदी उपत्यकाओं से आगे बढ़कर बड़े मैदानी क्षेत्र में हो रहा था। जंगलों को जलाने और असुरों को भगाने वाले (रक्षोहा) अग्नि गौण पड़ते जा रहे थे, यद्यपि ऋग्वेद तक उनकी महिमा बनी रही थी। अब एक नये अग्नि और नये यज्ञ की आवश्यकता थी जो देवभोज के रूप में आरम्भ हुआ और ब्रह्मभोज बनता चला गया। प्राचीनतम सूझ यह थी कि दावाग्नि का शमन वृष्टि से होता है, परन्तु वृष्टि होती इसलिए है कि जंगल जलने पर बहुत से जीव-जन्तु, सुगन्धित बूटियाँ और वृक्ष जलते हैं और वृष्टि का देवता उसी से प्रबल और प्रसन्न होकर जल-अपहारी बादलों को जल लेकर भागने से रोकने के लिए उनसे युद्ध करता है और उसी से वृष्टि होती है। कर्मकांडीय अग्नि से, प्रचुर हवि से, वैसा ही पर्यावरण पैदा किया जा रहा था। इसलिए ऋग्वेद में एक यज्ञ के प्रसंग में हज़ारों (अनेकानेक) गाड़ियों पर लदी हवन-सामग्री का उल्लेख आया है (... *सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप याहि, एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा...* 10.98.9;10)।

यह एक अन्य अर्थ में ही संक्रान्ति का काल है। बड़े पैमाने पर खेती के साथ इसमें सुदूर व्यापार का आरम्भ हुआ। यह चरण ऋग्वेद से या हड़प्पा के नागर चरण से कई हज़ार साल पहले आरम्भ होता है। सुदूर स्थलों से अदला-बदली का कारोबार बड़े पैमाने पर संगठित व्यापार आरम्भ होने से भी पहले से होता आ रहा था। इसके प्रमाण नवपाषाण के आरम्भिक चरण से ही मिलने लगते हैं। परन्तु हम जिस व्यापार की बात कर रहे हैं, इसका चरण वह है जब व्यापारिक घरानों का जन्म होता है। ये एक ओर तो कृषि में प्रत्यक्ष भागीदारी न करते हुए भी भूस्वामित्व के दावे के साथ कृषि उत्पादन का एक भाग वसूल करते हैं और प्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक गतिविधियों में भाग लेते हैं। ये ही लोग अपनी सुरक्षा ही चिन्ता से प्राकारवेष्ठित नगरों का आरम्भ करते हैं और स्वर्ग की एक अवधारणा एक संकीर्ण नगरी के रूप में जन्म लेती है। इसमें सब को प्रवेश करने और बसने की अनुमति नहीं होती। इस स्वर्ग के अनेक प्रवेश द्वार और उन पर नियुक्त रक्षक और द्वारपाल भी होते हैं जो अपात्रों को उसमें प्रवेश नहीं करने देते। इस चरण की स्मृतियाँ ऋग्वेद में और बाद की कृतियों में उपलब्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर इस कर वसूली को मधु और इसके दावे को यज्ञयूप गाड़ने के व्याज से प्रस्तुत किया गया है और कृषि में प्रत्यक्ष भागीदारी के स्थान पर परोक्ष अधिकार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'देवों ने यह विजय यज्ञ से पायी। उन्होंने कहा, अब क्यों न इसे ऐसा बनाया जाए कि मनुष्य इसमें पहुँच ही न सकें। जैसे शहद निकालने वाला छत्ते का रस निचोड़ लेता है उसी तरह यज्ञ का रस निचोड़कर यज्ञयूप के द्वारा अपनी दावेदारी स्थापित करके वे गायब हो गये।' (*यज्ञेन वै देवाः। इमां जितिं जिग्युः एषां इयं जितिः ते ह ऊचुः कथं नऽइदं मनुष्यैः अनभ्यारोह्यं स्यात इति ते यज्ञस्य रसं धीत्वा यथा मधु मधुकृतो निर्धयेयुः विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्,* शतपथ, 1.6.2.1)।

शतपथ में ही यह विवरण भी मिलता है कि देवों को उनका अन्नभाग अर्पित करने के बाद ही मनुष्य अन्नाहार कर सकता है। इससे पहले वह आहारसंग्रह के चरण का आहार, फलाहार ही कर सकता है। इस रीति का निर्वाह हम आज तक अनुष्ठान और व्रत के अवसरों पर करते हैं, पर यह जाने बिना कि कृषिकर्म देवों ने आरम्भ किया था और कृषिकर्म से सीधा सम्बन्ध न रह जाने के बाद भी वे अनुपस्थिति जमींदारों के रूप में मनुष्यों का सामान्य किसानों से अपना भाग वसूलते रहे।

जब इन्द्र का सम्बन्ध, या कहें इन्द्र के आराधकों का मुख्य सरोकार, कृषि से था तब भी इन्द्र को महाधनी माना जाता था। जल ही सबसे बड़ा धन है, इसके अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं, इसलिए वह महाधन, मघवा, मघवन्त आदि हैं, परन्तु औद्योगिक विकास की अपेक्षा के अनुरूप, वह इससे कुछ आगे जाकर खनिज भंडारों का दोहन करने वाले, सुदूर व्यापार पर जाने वाले सार्थों के नेता और रक्षक भी बन जाते हैं। कहें उनका एक रूप धनीमानी वणिक का भी हो जाता है। इन्द्रसभा का सम्बन्ध इन्हीं अमीरों की जीवनशैली से जुड़ा प्रतीत होता है।

यद्यपि यह उल्लेख दान की महिमा के प्रसंग में आया है, परन्तु इसमें अन्तर्निहित है कि धनवानों का स्वर्गोपम सुख उपलब्ध था। उसके जीवन में उपलब्ध सुविधाओं का ही विधान उसके मरणोत्तर जीवन के लिए कुछ और बढ़ा-चढ़ा कर किया जाता है और इसकी काल्पनिक स्वर्ग की रचना में प्रमुख भूमिका है:

दानी मरते नहीं हैं, उनको दुर्दिन नहीं आते, उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचती, कोई परेशानी नहीं होती। लौकिक और स्वर्गीय, जो कुछ भी है सब कुछ दानवीरता से उन्हें प्राप्त होता है। उनके आवास गन्धद्रव्यों से, सुवासित होते हैं, उन्हें सुसज्जित पत्नियाँ मिलती हैं, उन्हें सुरापान का सुख मिलता है, और जो लोग बल के मद में चूर रहते हैं उन्हें भी वे जीत लेते हैं। नौकर-चाकर उनके वाहन सजाते सँवारते रहते हैं, वनितायें (कन्यायें) उनसे मिलने की प्रतीक्षा में सजती रहती हैं। उसका निवास पुष्करिणीयुक्त होता है और आवास देवोपम परिष्कृत और अनोखा होता है।[2]

यदि ध्यान दें तो उक्त विवरण में 'चिर किशोरवय नित्य विलासी' देवों और उनकी 'सुरभित बालाओं के शृंगार' वाले स्वर्ग की रूपरेखा तैयार होती दिखाई दे जाएगी। मृत्यु के भय और शत्रु के भय से मुक्ति, किसी तरह की व्याधि या दुख से मुक्ति और सुख के सभी साधन यहाँ एकत्र हो चुके हैं।

कर्मकांडीय यज्ञ का ही लक्ष्य वृष्टि को उत्प्रेरित करना ही था। यज्ञ से धुँआ उठता है, धुएँ से बादल बनते हैं, बादलों से वर्षा होती है, उस वर्षा से वनस्पतियाँ पैदा होती हैं, कृषि होती है और लोक का जीवनयापन होता है (*यज्ञात् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यात् अन्न सम्भवः, अन्नात् भवति भूतानि*)। इन्द्र यह काम दूसरे तरीके से करते हैं। वह सूर्य के रूप हैं। सूर्य अपनी रश्मियों से वायु की सहायता से जल को ऊपर ले जाता है, उसे पुनः बरसाता है, सूर्य के इसी रूप को इन्द्र कहते हैं (*रसान् रश्मिभिः आदाय वायुना अयं गतं सह, वर्षति एष तु यत् लोके, तेन इन्द्र इति कथ्यते*)। जिस सोम का वायु के साथ इन्द्र पान करता है, विभिन्न स्रोतों से जल का पान ही है। इसकी अनेक रूपों में उद्‌भावना की गयी, सोम (वनस्पतियों) के रस के रूप में, चन्द्रमा में भरे अमृत के रूप में और सामान्य जल के रूप में। इसके पान में मस्त होकर इन्द्र उन बादलों से

युद्ध करता है जो जल को चुरा कर भाग रहे होते हैं। यह बहुत रोमांचक युद्ध है जिसका संकेत हम पहले कर आये हैं।

यदि देववादी विधान में अर्थशास्त्र की कोई भूमिका है तो यह भी ध्यान रहे कि यह ऐसा देवता था जिसके लिए कुछ भी खर्च नहीं करना था। न आग, न समिधा, न हवि, न अर्घ। यह संतों के राम जैसा था जिसके लिए किसी मन्दिर, यज्ञवेदी, इष्टिचयन, पुरोहित, यज्ञवाह, चढ़ावे, दान, उपहार या बलि की आवश्यकता नहीं थी। जिसको प्रसन्न करने के लिए उसका स्मरण और ध्यान ही पर्याप्त था। उसकी प्रशस्ति करके ही उनको प्रसन्न किया जा सकता था। यह उसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण बना।

यहाँ से कीर्तन का आरम्भ होता है, जो निजी स्तुति और सामूहिक प्रशस्तिगान दोनों रूप लेता है और इससे भक्तिभावना और मधुविद्या का आरम्भ होता है। इसके साथ अवतारवाद का आधार तैयार होता है। कवि इन्द्र को अपनी प्रशस्तियों पर टाँग कर उसी तरह ऊपर उठा देते हैं, जैसे बाजीगर बाँस के ऊपर टँग जाता है (*गायन्ति त्वां गायत्रिण: अर्चन्ति अर्कं अर्किण:, ब्रह्माण: त्वा शतक्रतो उद्वंशं इव येमिरे,* 1.10.1)। इन्द्र मनुष्य के लिए पर्वतों या बादलों को विदीर्ण करते हैं। वह व्यापारिक यात्राओं के लिए नदियों को प्रवाहित करते हैं। (*अजयो गा अजय: शूर सोमं अवासृज: सर्तवे सप्त सिन्धून्,* 1.32.12)। उर्वरा धरती, गोधन, अश्वधन, सोना-चाँदी सब के जनक (*विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजिते उर्वराजिते। अश्वजिते गोजिते अब्जिते भर इन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम्,* 2.21.1) हैं।

यद्यपि अग्नि को रत्नधा, द्रविणोदा, वयोधा (*रयिर्न य: पितृवित्तो वयोधा:,* 1.73.1) सम्राट आदि कहा गया है परन्तु महाधनी, धनी, सबसे धनी आदि नहीं। इन्द्र, अग्नि, सोम और वरुण और रुद्रगण का मानवीकरण या मूर्तन इतना जीवन्त है कि वे प्राकृतिक शक्तियाँ या मानवीय कल्पनाएँ नहीं रह जाते। वे उससे भी अधिक ठोस और इन्द्रिय-संवेद्य हो जाते हैं, जितने मानव पात्र। उदाहरण के लिए यदि आप सुदास, कक्षीवान, वसिष्ठ या विश्वामित्र का चित्र बनाना चाहें तो नहीं बना सकते, परन्तु इन देवों का मूर्तन इस सीमा तक किया गया कि आप इनका चित्र या मूर्ति बना सकते हैं, अथवा इन विवरणों से अपरिचित कोई कलाकार अपने मन से कोई ऊलजलूल चित्र बनाना चाहे तो आप कह सकते हैं कि यह उस देवता का चित्र या मूर्ति नहीं है। उनके गुणों के अनुरूप नहीं है। इन्द्र इस दृष्टि से इन देवों में भी अनन्य हैं।

इनका पूरा जातक हमारे सामने आ जाता है। इन्द्र के पिता तो वही द्यौस् पितर हैं जो अग्नि के भी हैं, परन्तु अग्नि की माता की संज्ञा नहीं मिलती। इन्द्र की माता भी कल्पित कर ली गयीं, जिन्हें गृष्टि और शवसी दो नामों से अभिहित किया गया है। अग्नि की दाहकता को उनकी पत्नी अग्न्यानी के रूप में और इन्द्र की शक्ति को शची के रूप में कल्पित किया गया, परन्तु शची का मानवीकरण इस सीमा तक किया गया कि अपने रूप, कामुकता, दर्प और इन्द्र की महिमा में उनके अनन्य विश्वास आदि के साथ वह सजीव हो उठती है। सूमो पहलवानों की तरह प्राचीन भारत में शक्तिशाली को तुन्दिल होने की हद तक मोटा बताया जाता रहा है। भीम का तो एक नाम ही है वृकोदर। इन्द्र को भी मोटी गर्दन, तुन्दिल पेट, बलिष्ठ भुजाओं वाला और सोम पान से मस्त चित्रित किया जाता रहा (*तुविग्रीवो वपोदरो सुबाहु: अन्धसो मेद,* 8.17.8)। सोमपान के तो वह इतने शौकीन कि सोम पीकर उनकी तोंद समुद्र की तरह फूल जाती है (*य: कुक्षि: सोमपातम: समुद्र इव पिन्वते,* 1.8.7)। उनकी हिलती हुई दाढ़ी (*प्र श्मश्रु दोधुवत् ऊर्ध्वथा भूत,* 10.23.1; *प्र श्मश्रु हर्यतो दूध:,* 10.26.7), उनकी मजबूत हनू और शिप्रा (*आ ते हनू हरिव: शूर शिप्रे,* 5.36.2), उनके रथ, उनके रथ के घोड़ों (*युंजन्ति अस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे, शोणा धृष्णू नृवाहसा,* 1.6.2), उनके सारथी (4.46.2; 10.102.6) आदि का उल्लेख किया जाता है।[3]

वर्षा के इस देवता के मानवीकरण का ही एक अन्य पक्ष था जल की धाराओं, बिजली के नर्तन और बदलों के गर्जन और वर्षा की झड़ी के संगीत का भी उसी तरह मानवीकरण करते हुए नृत्य और संगीत की एक आमोदशाला का विधान किया जाना। स्वयं इन्द्र का नर्तक रूप कम रोचक नहीं है। इन्द्र युद्ध और वज्रप्रहार करते हैं तो भी नर्तन करते हुए (1.51.3; 8.24.9; 12; 68.7; 92.3)। ऋग्वैदिक कालीन सामाजिक माहौल अपने समय को देखते हुए बहुत रसिक और भोगपरायण था। ऋषियों का नाम आते ही त्याग-तपस्या की जो बात की जाने लगती है उसका ऋग्वैदिक ऋषियों से मेल नहीं बैठता। यह योगियों और साधकों की विशेषता है जो ऋग्वैदिक समाज में हाशिए पर थे। ऋग्वैदिक समाज जिन ऊँचाइयों पर पहुँचा था उसके मूल में उसकी भौतिक उपलब्धियाँ और भोगवाद था। अत: ऋग्वेद में अन्य प्राकृतिक सत्ताओं, जैसे रात्रि (यमी) और उषा आदि का भी चित्रण उद्दाम कामुकता के साथ किया गया है। यमी अपने ही सहोदर यम (दिन) से प्रणय कामना करते हुए रथ के पहिए की तरह भागती है। उषा अपने वक्ष को उघाड़े नृत्य करने वाली नर्तकी जैसी (*अधि पेशांसि वपते नृतू: इव अपोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्,* 1.92.4; 10.29.2) लगती है और अपने यार को आँखों से इशारे करती है। (*योषा जारस्य चक्षसा विभाति,* 1.92.11)। सृष्टि के साथ भी एक महानृत्यलीला की कल्पना की गयी है जिसमें ज्योतिष्पिंड आदि जल में एक-दूसरे के साथ महारास में सम्मिलित हुए तो उनके नर्तन करने से धूलि कणों की महावृष्टि होने लगी (*यत् देवा: अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। अत्रा वो नृत्यतां इव तीव्रो रेणुरपायत,* 10.72.6)।

सृष्टिचक्र की यह नृत्यलीला, जलवृष्टि के साथ जुड़ा संगीत, वाद्य और उषा का अगाध और निर्वसन उद्भास, कटाक्ष लीला, जलधाराओं की अटखेलियाँ - पर्वतों के गह्वरों से कामोन्मत्त होकर दो घोड़ियों की तरह हिनहिनाती हहास करती प्रखर वेग से भागती व्यास और सतलुज (*प्र पर्वतानां उशती उपस्थात् अश्वे इव विषिते हासमाने... विपाट् शुतुद्री शवसा जवेते,* 3.33.1) - कवियों की निर्बन्ध शृंगारिकता, आदिम और मातृप्रधान समाजों का निर्बन्ध कामोत्सव और वैदिक कालीन समृद्ध और मौज उड़ाने वाला वणिक् समाज, इन सबकी भूमिका देवांगनाओं (ग्ना:) और अप्सराओं की उद्भावना में है (*अप्सरा जारं उपसिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन्, चरत् प्रियस्य योनिषु प्रिया सन् सीदत् पक्षे हिरण्यये स वेन:,* 10.123.5)। परन्तु सामाजिक जीवन में भी मनोरंजन और कामासक्ति के केन्द्र तो अस्तित्व में थे ही, जिससे प्रेरित होकर

सुन्दर भुजाओं वाली, सुन्दर उंगलियों वाली, कोमल काया वाली और अनेक सन्तानों वाली, विशपत्नी सिनीवाली का चित्र उकेरा गया है (*या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी, तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन,* 2.32.7)।

जैसा कि हम कह आये हैं, आदम के पुराने स्वर्ग की तरह स्वर्ग की इस अवधारणा का भी प्रसार भारत से पश्चिम एशिया तक, मोटे तौर पर आर्य-भाषा के प्रसार क्षेत्र में होता दिखाई देता है। यह आदम के नैसर्गिक (आहार संग्रही समाज के) स्वर्ग से भिन्न है, यद्यपि दोनों संकल्पनाओं का प्रसार एक ही दौर में हुआ लगता है। एक प्रधान अन्तर यह है कि भारतीय स्वर्ग की अवधारणा में संगीत, वाद्य और नृत्य को प्रधानता दी गयी है, या कहें यह एक सांस्कृतिक पर्यावरण से जुड़ा दिखाई देता है, वहाँ सामी स्वर्ग में संगीत, नृत्य और वाद्य के लिए स्थान ही नहीं है या यह पक्ष उपेक्षित रह गया है। वे ही जन जो भारतीय स्वर्ग में इन साधनों से मनोरंजन करते हैं, पश्चिमी संस्करण में केवल वासना की तृप्ति का साधन बनकर रह जाते हैं और वहाँ की कुरीतियों के कारण यक्षों-गन्धर्वों का स्थान गिल्मे ले लेते हैं। बाकी खाका वही रहता है।

असाधारण कामुक देवता के रूप में इन्द्र का चित्रण नगरसेठों से प्रेरित माना जा सकता है। अहल्या की कथा में इन्द्र और सोम का सम्बन्ध इन्द्र के प्रधान वणिक के रूप में (इन्द्रं अहं वणिजं चोदयामि) चित्रण के कारण आया। इसका सम्बन्ध वृष्टि, अतिवृष्टि या अनावृष्टि से अहल्या या बंजर भूमि को कृषियोग्य बना कर उसका उद्धार करने से जोड़ने के प्रयत्न हुए हैं। ऐसी एक व्याख्या डॉ. भगवानदास ने दी थी जो विचारणीय हो सकती है। परन्तु ऋग्वेद में एक ऐसा प्रसंग है जिसमें ऋषि गोतम वामदेव एक भीषण दुर्भिक्ष का वर्णन करते समय बताते हैं कि उन्होंने मर्यादा भूल कर कुत्ते की अँतड़ी पका कर खाई और अपनी आँखों के सामने अपनी पत्नी को अपना आत्मसम्मान खोने को विवश पाया। अतः अहल्या की कथा में एक से अधिक तार जुड़े हुए हैं। ऋग्वेद की ऋचा में इन्द्र को इसके लिए अपराधी नहीं माना गया है, अपितु कहा गया है कि उसकी कृपा से ही बरसात हुई और सुदिन लौटे:

*अवर्त्या शुनि आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।*
*अपश्यं जायां अमहीयमानां अधा में श्येनो मध्वा जभार॥* 4.18.13

अब यदि हम यह तय करना चाहें कि स्वर्ग की ये अवधारणाएँ पश्चिम से पूर्व की ओर आयीं अथवा पूर्व से पश्चिम की ओर इनका प्रसार हुआ तो हमें कुछ तथ्यों की ओर ध्यान देना होगा। अहि या साँप के रूप में अनिष्टकारी शक्तियों की कल्पना किस भौगोलिक क्षेत्र के अनुरूप है? नागजन किस क्षेत्र से सम्बन्ध रखते थे? ध्यान रहे समाज में उनके रचने-पचने का परिणाम था असाधारण ज्ञान वाले शेषनाग की कल्पना तथा साँपों के सम्मान में एक विशेष पर्व (नागपंचमी) का आयोजन। प्रकृतिलीला का, विशेषतः वृष्टि से जुड़े प्रपंच का ऐसा दृश्य किस क्षेत्र के अनुरूप है? उपलब्ध स्रोतों के प्राचीनतम चरण पर किसमें स्वर्ग का उल्लेख सबसे पहले पाया जाता है? वे जन— यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि— जिनके नृत्य और गानप्रियता के कारण इन कलाओं से उनका अनिवार्य सम्बन्ध माना जाने लगा था, किस भौगोलिक क्षेत्र में पाये जाते हैं? और अन्ततः पश्चिमी स्रोतों का बारीकी से विवेचन करने पर हम किस नतीजे पर पहुँचते हैं? अतः सांस्कृतिक प्रवाह की दिशा को पूर्व से पश्चिम की ओर मानना तथ्यों के अनुरूप है, न कि विपरीत।

---

[1] इस विकास को इतिहास की झटपट विकास की समझ से नहीं समझा जा सकता। न तो भारतीय संस्कृति का निर्माण झटके से हुआ, न ही इसका प्रत्येक चरण उतना छोटा था जिसका सुझाव रखा जाता रहा है। हम इतिहास, पुरातत्त्व नृतत्त्व, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र की मूलभूत समस्याओं को पाश्चात्यों की दृष्टि पर एकान्त निर्भर रहकर समझ ही नहीं सकते, उन्हें सुलझाना तो दूर की बात है। यह एक विडंबनापूर्ण स्थिति है, जिसमें पाश्चात्य दृष्टि और ज्ञानजगत की उपेक्षा करना कूपमंडूकता पैदा करती है, और पाश्चात्य विवेचन पर एकान्त निर्भरता हमें बौद्धिक परजीवी बनाती है, प्रतिरोध क्षमता को नष्ट करती है और अन्ततः पश्चिमी हितों का उपयोगी औजार बनाती है। यह मानसिकता हमारे राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध जाती है और पश्चिमी हितों का साधक बन जाती है। यही वह बिन्दु हैं जहाँ राष्ट्रहित और आधुनिकता के बीच एक टकराव पैदा होता है और इसकी अन्धप्रतिक्रिया स्वरूप पश्चवर्तिता और विध्वंसवाद का ऐसा खतरनाक दौर आरम्भ होता है जिससे पश्चिम एशिया गुज़र रहा है।

पूर्व, विशेषतः भारत के सन्दर्भ में प्रतीच्यवादियों द्वारा सहस्राब्दियों के कालविस्तार को शताब्दियों के 'टाइम कैप्सूल' में कस दिया जाता रहा है और ऐसा वैदिक इतिहास के मामले में ही नहीं हड़प्पा सभ्यता के आविर्भाव से नागर चरण तक की विकास-यात्रा के विषय में भी किया जाता है और पश्चिमाभिमुख सोच से असन्तुष्ट भारतीय विद्वान भी इसे इस दहशत में स्वीकार कर लेते हैं कि कहीं उन्हें संकीर्ण दृष्टि का न सिद्ध कर दिया जाए। एक बात, जिसकी शिकायत की जा सकती है, यह कि भारतीय अध्येता, दक्षिण-वाम सभी खेमों के अध्येता, अपेक्षा से बहुत कम तैयारी करते रहे हैं और निन्यानबे प्रतिशत की अपने स्रोत ग्रन्थों तक पहुँच ही नहीं रही है। वे गौण स्रोतों और अनुवादों से अपना काम आसान बना लेते रहे हैं और आज भी बनाते हैं, जब कि ये अनुवाद और स्रोत ग्रन्थ दोनों पश्चिमी विद्वानों की विजिगीषा और तज्जन्य युयुत्सा के परिणाम हैं। सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के लिए उससे भी अधिक बड़े और लम्बे संघर्ष की अपेक्षा होती है जो राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए होती है।

[2] न भोजाः ममुः न नि अर्थं ईयुः न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
इदं यद् विश्वं भुवना स्वः च एतत् सर्वं दक्षिणा एभ्यः ददाति ॥
भोजा जिग्युः सुरभिं योनिं अग्रे भोजा जिग्युः वध्वं या सुवासाः।
भोजा जिग्युः अन्तः पेयं सुराया भोजा जिग्युः ये अहूताः प्रयन्ति॥
भोजाय अश्वं संमृजन्ति आशुं भोजाय आस्ते कन्या शुंभमाना।
भोजस्य इदं पुष्पकरिणी इव वेश्म परिष्कृतं देवमान इव चित्रम् ॥ 10.107. 8-10

[3] ऋग्वेद की व्याख्या करने वालों ने वैदिक भाषा को कितना समझा है इसका एक उदाहरण हनू और शिप्रा की उनकी व्याख्या है। हनु को कभी शिप्रा का पर्याय माना गया है और उसे जबड़ा बताया गया है (*वनोति शिप्राभ्यां शिप्रिणीवान्* 10.105.5), कहीं शिप्रा का अर्थ पगड़ी किया गया है (*शतं ते शिप्रिन् ऊतयः* 7.25.3), और कही नासिक (*निः शिप्री हरिवान् दधे हस्तयोः वज्रं आयसम्,* 1.81.4)। शिप्रा का नासिक अर्थ करने की एक विवशता है। एक स्थल पर 'हमारी शिप्रावालियों' (*अस्माकं शिप्रिणीनाम्,* 1.30.11) जैसा प्रयोग आया है जहाँ सायण ने इसे गायों के आशय में और ग्रिफिथ ने सुन्दरियों के अर्थ में ग्रहण किया है। अन्यत्र ग्रिफिथ शिप्रा का अर्थ जबड़ा करते हैं। एक स्थल है जहाँ निश्चित रूप से शिप्रा का अर्थ पगड़ी है, 'शिर पर सुनहली पगड़ी लिपटी हुई है' (*शिप्रा शीर्षसु वितता हिरण्ययीः,* 5.54.11; *शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः,* 8.7.25)

**ए/6, सिटी एपार्टमेंट्स**
**वसुन्धरा**
**नयी दिल्ली - 110 096**

# हिन्दी समाज में गल्प

## अजय तिवारी

**हिन्दी लेखकों में या तो** इस बात को लेकर रोना रोने की आदत दिखाई देती है या उत्सव मनाने की प्रवृत्ति कि साहित्य दिनो-दिन बाज़ार होता जा रहा है, आलोचना विज्ञापन अथवा स्पांरशिप बनती जा रही है, लेखक पहले ही बेचारा था, अब तो प्रकाशक के हाथ की कठपुतली बनता जा रहा है... वग़ैरह, वग़ैरह!

इससे इतना तो ज़ाहिर होता है कि हम सचमुच बाज़ारवादी समाज की आबोहवा में आ गये हैं, अब इसे लेकर रोना या खुशी मनाना हमारी स्थितिजन्य भावना हो सकती है लेकिन, जैसा कि प्रतापनारायण मिश्र ने बहुत पहले कहा था, 'कहिं टटकन गाजैं टरती हैं!' गाज तो गिर चुकी है। हमे रास्ते के बारे में सोचना पड़ेगा। उसके पहले सचाई को ठीक-ठाक पहचानना होगा।

साहित्य अगर जीवन की आलोचना है तो साहित्य से अपने समाज की परिस्थितियों को ज़रूर आँका जा सकता है। उपन्यास (या कहानी) का जन्म आधुनिक समाज और यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ हुआ है इसलिए समाज की ठीक-ठाक जाँच पड़ताल के लिए कथारचना को उदाहरण माना जा सकता है। यथार्थ को कथा में रचने की प्रक्रिया न उसे पूरी तरह जीवन रहने देती है, न कल्पना; शायद यही देखकर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'फिक्शन' को 'गल्प' कहा था। गल्प के माध्यम से यह जाँच सम्भव है...।

यूरोप में पिछली शताब्दी के तीसरे दशक से ही उपन्यास के मृत्यु की घोषणा शुरू हो गयी थी जब इलियट ने कहा कि जेम्स ज्वायस और प्लावर्ट के साथ उपन्यास अपने अन्त पर आ गया है। तभी से 'बेस्ट सेलर' होना उपन्यास के जीवन की शर्त बनने लगा। कला पर भी प्रयोग और बाज़ार का दोहरा दबाब पड़ने लगा। स्वभावत: लेखक का झुकाव हमेशा कला की ओर, वैयक्तिक अनुभव और मौलिकता की ओर होता है, प्रकाशक का झुकाव 'बेस्ट सेलर' की खोज करने या किसी उपन्यास को 'बेस्ट सेलर' बनाने की ओर।

अपनी प्रसिद्ध किताब 'द सिचुएशन ऑव नॉवेल' में बर्नार्ड बर्गोन्ज़ी ने इस समस्या पर विचार किया। 'मास प्रोडक्शन' यानी विराट उत्पादन के दौर में प्रकाशन भी ''आधुनिक विराट उद्योग का रूप लेता जा रहा है''; वह ''छोटे स्तर की उपभोक्ता माँगों'' को अधूरा छोड़ देगा, ''अगर उसमें कोई लाभ नहीं दिखेगा''; उपन्यास की थोड़ी-बहुत माँग बची रहेगी तो भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता; ''परिणामस्वरूप उपन्यास एक लोकप्रिय सांस्कृतिक रूप बना हुआ है फिर भी अब उसमें अपरिहार्य नवीनता (या मौलिकता) नहीं रह गयी है, जो उसकी परम्परागत पहचान थी।'' *(मैकमिलन, द्वितीय संस्करण* 1979, पृ. 15)

हिन्दी में स्थिति अभी ऐसी नहीं हुई है। अगर 'कुलीनतावादी' ही नहीं, 'जनवादी' लेखकों की शिक़ायत पर भी ध्यान दें तो चालीस करोड़ के हिन्दीभाषी समाज में या कम-से-कम सात-आठ करोड़ के हिन्दी प्रकाशन बाज़ार में उपन्यास के हज़ार-दो हज़ार पाठक भी नहीं हैं। इस समय हिन्दी में तीन तरह के उपन्यास हैं। एक लोकप्रिय उपन्यास, जिन्हें सुसंस्कृत लेखक सस्ता-बाज़ारू उपन्यास कहते हैं। दूसरे कलात्मक उपन्यास, जिनके पाठक गिने-चुने हैं। बीच की एक धारा और है, जिसमें अर्धव्यावसायिक-अर्धसाहित्यिक लेखकों का अच्छा ख़ासा समुदाय उभर रहा है। इनके प्रतिनिधि के रूप में नरेन्द्र कोहली को लिया जा सकता है। वे गुलशन नन्दा-ओमप्रकाश शर्मा जैसे बाज़ारू नहीं हैं, विनोदकुमार शुक्ल, असग़र वजाहत जैसे साहित्यिक भी नहीं हैं।

सच पूछिए तो 'भारतीय अँग्रेज़ी उपन्यास' के लेखकों जैसा कोई लेखक-समुदाय और पाठक-बाज़ार हिन्दी में नहीं है। इस बाज़ार के निर्माण में सबसे ज़्यादा रुचि उत्पादक-व्यापार की होती है और हिन्दी में ऐसा पुस्तक-उत्पादन व्यापार बहुत अविकसित अवस्था में है। यह कार्य बड़े पैमाने के निजी प्रकाशक कर सकते थे, लेकिन उनकी रुचि ऊँचे दाम, ऊँची घूस और ऊँचे मुनाफ़े में ज़्यादा है। पुस्तकों को लोकप्रिय बनाकर— कविता तो शायद नहीं, कथा या गल्प को व्यापक पाठक-समाज तक पहुँचाकर— वे अपना लाभ भी बढ़ा सकते थे और अधिक सुरक्षित स्थायी बाज़ार भी बना सकते थे।

निजी प्रकाशकों के अलावा इस कार्य में सरकारी, अर्धसरकारी या अनुदान प्राप्त स्वायत्त संस्थाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती थी। लेकिन वहाँ की नौकरशाही जड़ता, नीति-निर्धारकों का भाई-भतीजावाद और नीरसता में पनपनेवाला भ्रष्टाचार किसी भी प्रकार की सामाजिक चेतना और जिम्मेदारी के प्रति उदासीन बनाने के लिए काफ़ी है। प्रादेशिक अकादमियों और संस्थानों की प्राय: ऐसी ही दशा है। एक बात यह भी है कि अपेक्षाकृत जीवन्त संस्थाएँ बाज़ार-निर्माण से ज़्यादा ज्ञान का भंडार निर्मित करने और बड़ी सांस्कृतिक-राष्ट्रीय आवश्यकताएँ पूरी करने का दायित्व निभाती हैं। नेशनल बुक ट्रस्ट, साहित्य अकादेमी, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) इसका उदाहरण हैं।

यह कार्य भी आवश्यक है और उनकी बिक्री के आँकड़े देखें तो पता चलेगा कि गम्भीर साहित्य का भी एक विशाल पाठक हिन्दी में मौजूद है। यही नहीं, सस्ती, बाज़ारू पत्रिकाओं और बड़े 'डाइजेस्टों' के अलावा सिर्फ़ साहित्यिक कथा-पत्रिकाएँ देखें तो पहले 'हंस' और अब 'नया ज्ञानोदय' की लोकप्रियता ऐसे एक पाठक-बाज़ार का अस्तित्व जताती है। इस बाज़ार को व्यवस्थित करके हम एक तरफ़ अपने 'बेस्ट सेलर' तैयार कर सकते हैं, दूसरी तरफ लोकप्रिय-कलात्मक-अर्धसाहित्यिक के बीच बँटवारा भी कम कर सकते हैं।

हमारे मित्र रवीन्द्र कालिया ने 'खुदा सही सलामत है' के माध्यम से इस प्रकार के लेखन का प्रारम्भिक प्रयास किया था, जिसकी सीमाएँ थीं और तब उसकी यह भूमिका भी अस्पष्ट थी। काफ़ी बाद में विनोद कुमार शुक्ल का 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उस दिशा में एक और सम्भावना प्रस्तुत करता था। लेकिन हमारा प्रकाशन जगत इसके लिए तैयार नहीं था। पिछले दिनों भारतीय ज्ञानपीठ ने काफ़ी भव्य तरीके से एक दर्जन कहानीकारों के संग्रह का 'लोकार्पण' करके इस दिशा में सम्भवतः पहला सांस्थानिक प्रयास किया है। निस्सन्देह, भारत के विकासशील समाज में अभी विकसित पश्चिम जैसी उत्तर-आधुनिक मानसिकता नहीं आयी है, पूँजीवाद भी अभी वैसा 'वृद्ध' नहीं हुआ है, इसलिए पहले लेखकीय प्रयास की तरह इस पहले सांस्थानिक प्रयास को भी पूरी तरह स्वीकृति नहीं मिलेगी।

समकालीन हिन्दी लेखन में तीन प्रकार की धाराएँ और समकालीन हिन्दी प्रकाशन में तीन तरह की प्रवृत्तियाँ यह बताती हैं कि साहित्यिक बाज़ार संक्रमण के दौर से गुज़र रहा है। भूमंडलीकरण के दबाव इस बाज़ार पर पड़ने लगे हैं। अब एक सिरे पर 'देहाती पुस्तक भंडार' और दूसरे सिरे पर 'राजकमल प्रकाशन' जैसा सीधा बँटवारा सम्भव नहीं है। (हालाँकि तब भी 'व्यावसायिक' और 'साहित्यिक' के इन दो छोरों के बीच 'गीताप्रेस, गोरखपुर' की विराट दुनिया बसी हुई थी।) भूमंडलीकरण का यह परिणाम अच्छा लगे या न लगे, वह सभी पारम्परिक विभाजनों को अस्त-व्यस्त कर रहा है। लेखनशैली में, प्रकाशन-व्यवसाय में, पाठक-बाज़ार में और ख़ुद गल्प के ढाँचों में वह ऐसी गतिशीलता पैदा कर रहा है कि कोई भी रूप अपने शुद्ध, स्थिर निश्चित ढाँचे में नहीं रह सकता।

हमारी चिन्ता प्रकाशन-व्यवसाय की नहीं, साहित्य-सृजन की है। वर्तमान साहित्य-सृजन की परिस्थितियों के लिए प्रकाशन-व्यवसाय पर जितना ध्यान देना चाहिए, हमने दिया। इन सभी तथ्यों को मिलाकर कहा जाए तो हिन्दी-बाज़ार का पिछड़ापन उसके लेखकों से ज्यादा प्रकाशकों के कारण है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। बेशक, यह उदाहरण 'उपन्यास' की अपेक्षा 'कहानी' में ज़्यादा है लेकिन पिछले चार-पाँच वर्षों में, यानी इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में जो कथापीढ़ी उभरी है, वह अपनी रचनात्मक वस्तु और विधान में नयी वास्तविकताओं के प्रति अधिक संवेदनशील और जागरूक दिखाई देती है। उसकी उपलब्धियाँ भले विश्वस्तर की न हों, और कुछ स्वनामधन्य हिन्दी कवियों की तरह 'विश्वस्तर की रचना' का दावा भी वे नहीं करते, लेकिन उनके प्रयत्न समसामयिक हिन्दी गल्प को भूमंडलीय प्रक्रिया के समतुल्य लाते हुए दिखाई देते हैं। अच्छी बात यह है कि अनुकरण या अनुवाद के रूप में नहीं, बल्कि सकारात्मक रूप में। यानी, ऐतिहासिक परिघटना के रचनात्मक प्रतिफलन के रूप में।

इस पर थोड़ा विचार करें। फ्रेंक ओ' कोन्नोर ने कभी उपन्यास रचना की दो शर्तें बतायी थीं। एक 'पाठक और पात्र के बीच त्रादात्म्य' और दूसरा, 'सामान्य समाज की अवधारणा' सामान्य समाज के बिना पाठक-पात्र-तादात्म्य सम्भव नहीं है जबकि ऐसा तादात्म्य होने पर ही समाज के साथ लेखक का 'शत्रुतापूर्ण या मित्रतापूर्ण सम्बन्ध' विकसित होगा, जो रचना के अनुभव को पाठक के अनुभव से जोड़ देगा। (*साहित्य विधाओं की प्रकृति, सं. देवीशंकर अवस्थी, मैकमिलन, दिल्ली 1980, पृ. 116-17*) यथार्थ की अवधारणा का महत्त्व इसी प्रक्रिया में निहित है। लेकिन अब दोनों बातें नहीं रह गयी हैं। 'समाज' की धारणा टूट कर 'समुदाय' की धारणा आ गयी है, विखंडन की रणनीति ने 'सम्बन्ध' की जगह 'विमर्श' को और 'तादात्म्य' की जगह 'खेल' को ला दिया है। इसलिए विधाओं की सीमा या धारणा भी खंडित हो गयी है।

हिन्दी रचनाकारों ने इस दिशा में कई तरह के प्रयोग किये हैं। उदय प्रकाश और अखिलेश का उदाहरण लिया जा सकता है। अखिलेश अपने 'प्रयोगों' को कथानक के ढाँचे से जोड़े रखते है, उदय प्रकाश 'कथानक' को भी आवश्यक नहीं रहने देते। इसलिए अखिलेश की कहानी उसी सीमा तक नवीनता के क्षेत्र में जाती है जिस सीमा तक वर्तमान हिन्दी मानस से उसका सम्बन्ध न टूटे। उदय की कहानी चमत्कार-प्रेमी नये मानस को अधिक आकर्षित करती है, पारम्परिक समाज से जुड़े मानस को ललकारती, चिढ़ाती है।

इस समय नीलाक्षी सिंह, पंकज मित्र, कुणाल सिंह, चन्दन पाण्डेय इत्यादि की जो युवा पीढ़ी लेखकों के बीच चुनौती बन रही है और पाठकों के बीच अपनी जगह बना रही है, वह उदय की अपेक्षा अखिलेश के ज़्यादा करीब जान पड़ती है। इसलिए नहीं कि उसमें 'प्रयोग' का साहस नही हैं। सचाई यह है कि प्रयोग में तो वह उदय जैसी है। (हालाँकि उदय जैसा विपुल अध्ययन शायद ही इनमें किसी का हो) लेकिन अपने प्रयोगों को भारतीय जीवन की समकालीन वस्तुस्थिति से मर्यादित रखने की सजगता उसमें अखिलेश जैसी है (हालाँकि अखिलेश जैसा बहुमुखी अध्ययन भी उनमें शायद ही किसी का हो)।

इसे विपुल-बहुमुखी अध्ययन की कमी कहिए या पारम्परिक और भूमंडलीय दबावों में कसमसाते भारतीय यथार्थ की सजगता, युवा लेखन पर विश्व-प्रसिद्ध रचनाओं और रचनाकारों के 'प्रभाव' की चर्चा लगभग नहीं होती। यह अच्छा लक्षण है। इससे यह भी पता चलता है कि हिन्दी का साहित्यिक समाज आज पहले की अपेक्षा— यानी एक दशक पहले की अपेक्षा— परिपक्व हुआ है। उस परिपक्वता का कारण यह है कि बाज़ारवादी और भूमंडलीय समाज की वास्तविकता को उसने स्वीकार कर लिया है। यह बात यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए कि स्वीकार करने का मतलब उसे आदर्श मानना नहीं है बल्कि उसे वस्तुस्थिति के रूप में ग्रहण करके उससे सलूक करने के लिए तैयार होना है।

बाज़ारवाद अभी हिन्दी साहित्य में इतना प्रभावी नहीं है कि वह 'बेस्ट सेलर' खोजने और बनाने का काम करे। लेखकों की इच्छा और बाज़ार की सम्भावना हो, तो भी। हालाँकि यह अपने में स्वतन्त्र विश्लेषण का क्षेत्र है कि हिन्दी पढ़नेवाले आज प्रधानतः निम्नवर्गीय समाज के युवा हैं और हिन्दी से बड़ी रकम कमाने वाले विज्ञापन-निर्माता हैं। इस विरोध (आभास) से निर्मित हिन्दी समाज को रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त करना पारम्परित मानस के लिए सम्भव नहीं है। बहरहाल, यह एक तथ्य है कि बाज़ारवाद प्रभावी होता जा रहा है तथा वह महान और हास्यास्पद को, आदर्श और तुच्छ को, सांस्कृतिक अभिरुचि और अपसांस्कृतिक फूहड़पन को मिलाकर परोसता जा रहा है। इस उत्तर-

आधुनिक प्रवृत्ति को स्टीवेन कोन्नोर 'मिश्रण का आन्दोलन' कहते हैं। *(पोस्टमाडर्न कल्चर: ऐन इंट्रोडक्शन टु थियरिज़ ऑव कंटेम्परारी : बेसिल ब्लैकवेल, 1989)*

देश की, काल की, वर्ग की, रुचि की, विधा की सीमाएँ टूट रही हैं— यही भूमंडलीकृत समय का यथार्थ है। यह यथार्थ तेज़ गति, अनवरुद्ध गति का साक्षी है। रचना में भी एक तरफ़ कहानी-उपन्यास-संस्मरण-इतिहास-कल्पना आदि की चौहद्दियों का टूटना और दूसरी तरफ़, जिसे चार्ल्स जेन्क्स 'निश्चयात्मक समाधान की असम्भाव्यता' कहते हैं, उसका परिलक्षित होना, ये दोनों बातें बहुत साफ़-साफ़ दिखाई देती हैं। *(व्हाट इज़ पोस्टमाडर्निज़्म 1986, पृ. 9)*

इस प्रक्रिया में जो 'कथा' निर्मित होती है, उसे 'कहानी' कहने की अपनी सीमाएँ हैं। एक तो उसमें घटना, समस्या, चरित्र की केन्द्रीयता ख़त्म हो गयी है हालाँकि मौजूद तीनों चीज़ें हैं इसलिए उसे 'कथा' से अधिक 'गल्प' ही कहा जा सकता है। दूसरे, विधाओं की सीमा निर्धारित करने वाले केन्द्रीय तत्त्व का भी विस्थापन हे गया है— मसलन, 'काशी का अस्सी' को किस विधा में रखेंगे? हर विधा का एक केन्द्रीय तत्त्व होता था लेकिन इसमें किस 'केन्द्रीय' तत्त्व की खोज करेंगे? यह अनिश्चयात्मकता ही आज की परिस्थिति का बयान है। रॉब ग्रिलेट ने चार दशक पहले यूरोपीय साहित्य में इस परिवर्तन को लक्ष्य करके कहा था कि 'सत्य', 'निश्चित (घटना)', 'पास्ट डिफ़िनिट टेन्स' ख़त्म हो गये हैं; 'सिलसिलेवार वर्णन' नहीं रह गये हैं, 'इकहरे कथानक' और 'निश्चत अन्त की ओर घटना का क्रमिक प्रवाह' बन्द हो गया है, क्योंकि वे ''सभी एक स्थिर विश्व का, सुसंगत, निरन्तर, एकस्वर और पूर्णतः जैव विश्व का प्रक्षेपण करते हैं।'' *(स्नैप शॉट्स एंड टुवर्ड्स अ न्यू नॉवेल 1965, पृ. 63)*

भूमंडलीय बाज़ारवाद हो या संचारवाद, उसने सुसंगत, एकस्वर, तार्किक और जैव विश्व की अवधारणा नष्ट कर दी है। भारतीय समाज अभी सुसंगत-तार्किक-जैव आधुनिकता और घुलनशील-असंगत-उथलपुथल भरी उत्तर आधुनिकता के बीच संक्रमण के दौर में है। इसका प्रतिनिधित्व वही लेखक कर सकते हैं जिनमें इस दुविधाभरी जटिल गति का बोध है। भगवानदास मोरवाल की तरह पारम्परिक अनुभव और शिल्प अपनाकर या उदय प्रकाश की तरह विखंडनवादी रणनीति और प्रयोग चुनकर कम-से-कम इस दौर के भारतीय जीवन का प्रतिनिधत्व नहीं किया जा सकता। इन प्रयोगों का अपना महत्त्व है, इससे इन्कार नहीं।

यहाँ इस बात का उल्लेख ज़रूरी है कि महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक कृतियाँ पहले भी विधा या ढाँचे की सीमा नहीं मानती थीं। प्रेमचन्दीय कथानक को अपने-अपने ढंग से जैनेन्द्र, रेणु, यशपाल ने तोड़ा, जिसका विश्लेषण नित्यानन्द तिवारी ने बख़ूबी किया है। निराला की 'बिल्लेसुर बकरिहा' रेखाचित्र है या कहानी, उपन्यास है या जीवन चरित, इसका निश्चय अब भी नहीं हुआ है। लेकिन इन सभी में जैनेन्द्र को छोड़कर किसी के लिए 'कथानक' की धारणा निरर्थक नहीं थी। आज यह धारणा ही ख़त्म हो गयी है। गद्य की सभी विधाएँ 'नरेटिव' हैं, ज्ञान की सभी शाखाएँ 'नरेटिव' हैं। शायद साहित्य में इसी को 'संसार का सपाट होना' कहा जा सकता है।

दिलचस्प बात यह है कि 'वृत्तान्त' (नरेटिव) के इस विस्तार में एक तरफ दलित, स्त्री, अश्वेत, आदिवासी जैसी सामुदायिक अस्मिताएँ सामने आयी हैं, जो सामाजिक आन्दोलनों का परिणाम हैं, दूसरी तरफ़ इन अस्मिताओं की अभिव्यक्ति इस तरह होती है कि वर्तमान सत्ता-समीकरण कुछ अस्त-व्यस्त हो सकें ताकि उसमें पैठ बने। इसलिए वह 'रणनीति' पर आधारित है, जिसका लक्ष्य शक्ति अर्जित करना है। आत्मगत पक्ष की महत्ता उसका स्वाभाविक लक्षण है। इसी को 'पर्सनल इज़ पोलिटिकल' कहकर भी व्यक्त किया जाता है।

सामाजिक आन्दोलन और आत्मगत पक्ष का यह नया घाल-मेल आज के दौर की एक पहचान है। उसमें राजनीति और वैयक्तिकता का विरोधाभासी मिश्रण है। सामाजिक पदक्रम और दमनकारी अर्थप्रणाली को चुनौती देकर वह एक साथ दो स्तरों पर कार्य करता है। राजनीति में या समाज में 'विध्वंस' (सबवर्ज़न) और भाषा में या पाठ में 'विखंडन' (डिकंस्ट्रक्शन)द्व उत्तर-आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में इसी को 'उपद्रवी संकेत' (ट्रेसेज़) कहा जाता है। संयोग नहीं है कि आधुनिकता से अलग उत्तर-आधुनिकता सांस्कृतिक प्रत्यय के रूप में आयी है। 'गल्प' का स्वरूप 'कथा' और 'विध्वंस', साहित्य और समाज, आन्तरिकता और वास्तविकता के इसी 'मिश्रण' का परिणाम या परिचायक है। हिन्दी की युवा गल्प-रचना 'विखंडन' की सीमा तक उत्तर-आधुनिक नहीं है, यह उसका यथार्थवाद है; साथ ही वह पूरी तरह वस्तुगतता या आन्तरिकता से ऐकान्तिक अर्थ नहीं पाती, यानी यशपाल या जैनेन्द्र के चरम ध्रुवान्तों की तरफ़ नहीं जाती, यह उसकी रचनात्मक उपलब्धि है।

जैनेन्द्र, यशपाल या उदय-अखिलेश या कालिया-संजीव या किसी अन्य समकालीन लेखक की तुलना में बिलकुल उत्तर-आधुनिक ढंग का कथाविधान सुरेन्द्र वर्मा के 'मुझे चाँद चाहिए' का था, जो 'बेस्ट सेलर' होने की दिशा में भले अग्रसर था लेकिन उसमें सलमान रश्दी जैसी साहित्यिकता और अरुन्धती राय जैसी भूमंडलीयता नहीं थी। वह पूरब के जीवन को न तो पश्चिमी समाज में रहकर एशियाई आँख से देखता था, न भारतीय समाज में रहकर पश्चिमी आँख से। वह केवल 'मज़े' का लेखन बन रह गया।

उत्तर आधुनिकता या लोकप्रिय साहित्यिकता अगर थोड़ा भी बाज़ार और रचना के बीच ताल-मेल करेगा तो वह 'मज़े' के शिल्प में समाज के दृष्टिकोण का सन्निवेश ज़रूर करेगा। तब वह विनोदकुमार शुक्ल-मंजूर एहतेशाम-सुरेन्द्र वर्मा के बीच अपना रास्ता बनाएगा। यह क्षमता युवा रचना में झलकती है। इसलिए दो-तीन दशक की कसमसाहट अब एक आकार लेने का आभास दे रही है। उसके प्रति सकारात्मक भाव अपनाकर ही हम अपने साहित्य और समाज को आज की दुनिया के अनुरूप लाने में सहयोग कर सकेंगे। यह आशा न रूढ़िवादी नीतिशास्त्रियों से की जा सकती है, न उपभोक्तावादी बाज़ारवादियों से। अगर उसमें भी कोई घाल-मेल (या मिश्रण) हो सके तो और बात है।

**बी-30, श्रीमराम अपार्टमेंट्स**
**32/4, द्वारका**
**नयी दिल्ली - 110 078**

# नवलेखन की चुनौतियाँ

## विजयमोहन सिंह

**नवलेखन या किसी भी लेखन** के लिए चुनौती क्या होती है? क्या उसका पूर्ववर्ती लेखन? जिसके महारथियों के आगे वह अपने को बौना और निहत्था पाता है, कभी-कभी हतोत्साह होने की हद तक? लेकिन पूर्ववर्ती लेखन चुनौती तब नहीं होता जब नया लेखक उसके अवदान और योगदान से पूरी तरह परिचित नहीं होता या वह उसके लिए पूरी तरह अलक्षित ही रहता है। तब वह अपने इस 'इग्नोरेंस' को ही 'ब्लिस' मानकर लिखता है। एक तरह से यह एक सुरक्षित स्थिति है क्योंकि तब वह निर्द्वन्द्व होकर लिखता है— कभी-कभी उदंड होकर भी। कहने की ज़रूरत नहीं कि नये लेखकों का एक समुदाय ऐसा भी है जो अपने अज्ञान के इस दुर्ग में सुरक्षित है— उसके सामने कोई चुनौती नहीं है।

लेकिन ऐसा नवलेखन कभी यह नहीं जान पाता कि किस तरह पूर्ववर्ती लेखन अलक्षित ढंग से उसे समृद्ध कर रहा है। यह परम्परा की निरन्तरता ही उसके अस्तित्व को ऊर्जा प्रदान करती है।

किन्तु इधर प्रकाशित होने वाले अनेक कथा संग्रहों को पढ़कर प्रतीत होता है कि यह नवलेखन अपने अतीत से परिचित तो है पर उससे आक्रान्त नहीं है। उसमें अतीत की प्रतिध्वनि तो है, उसकी प्रतिछाया नहीं है। तब असली चुनौती क्या हो सकती है? शायद असली चुनौती प्रत्येक लेखक के लिए उसका 'समय' होता है। वह जिस सीमा तक अपने समय को समझता, उसका साक्षात्कार करता और उसे रचना में रूपान्तरित कर पाता है, उसी सीमा तक उसका लेखन सार्थक, समृद्ध और प्रासंगिक होता है।

लेकिन समय को मैं यहाँ व्यापक तथा प्राय: अमूर्त अर्थ में प्रयुक्त कर रहा हूँ क्योंकि इसको न तो समझना आसान है और न उसका साक्षात्कार कर पाना। जो सही अर्थों में अपने समय के रू-ब-रू होता है वह अपने को एक विशाल आईनाख़ाने में पाता है जिसकी किरचें टूट-टूटकर उसे लहूलुहान करती रहती हैं। आज का लेखन इसी लहूलुहान स्थिति का लेखन है। फ्रेंच कथाकार और चिन्तक ज्याँ पॉल सार्त्र ने लिखा था कि आज का लेखन (तब का) चरम स्थितियों (एक्सट्रीम सिचुएशंस) का लेखन है। क्या आज हम एक दूसरी तरह की चरम स्थितियों के समय में जी रहे हैं? दरअसल हम कहीं अधिक विकराल और बीभत्स स्थितियों वाले समय में जी रहे हैं। यह महायुद्धों के बाद वाला समय नहीं है बल्कि लगातार आसन्न महायुद्धों से सन्त्रस्त समय में जी रहे हैं जहाँ हर क्षण समझदार की मौत है। कहते हैं कि हम सूचनाओं से खचाखच संसार में जी रहे हैं। यह सूचना संकुल समय हमें विक्षिप्तता की स्थिति में पहुँचा रहा है या हमें इतना संवेदनाशून्य बना चुका है कि हम 'जड़वत' उसे अवसन्न देख रहे हैं। आज के लेखन में हम यह दोनों स्थितियाँ पाते हैं : एक ओर वह सूचनाओं से निरन्तर आक्रान्त होकर लगभग नर्वस ब्रेक डाउन का लेखन बना हुआ है और दूसरी ओर वह फूल-पत्तियों, चिड़ियों और बाल-बच्चों से घिरा हुआ अपने 'सन्तुष्टि के सूअरबाड़े' में पड़ा हुआ है। मैं यहाँ इस सन्दर्भ में बहुत से उदाहरण देने की स्थिति में नहीं हूँ। पर कहना चाहूँगा कि इसी समय में वह एक ओर 'वसन्तसेना' के सपने की फैंटेसी में डूबा हुआ है और दूसरी ओर हँसने की कोशिश में लगातार किसी कुत्ते की तरह भौंक रहा है। वह रोने की स्थिति में भी नहीं है जहाँ वह किसी फ़िल्मी गीत की तरह कह सके कि 'हँसने की चाह ने कितना मुझे रुलाया है।' संजय कुन्दन की कहानी 'बॉस की पाटी' और चन्दन पांडेय की कहानी 'सुनो' इसी वास्तविकता को बयान करती हैं। इस 'चाकू समय' की नोंकें उसे लगातार छलनी बना रही हैं।

जब हम आज के समय को सूचनाओं का समय कह रहे होते हैं तो शायद किंचित अमानवीय हो रहे हैं क्योंकि ये रचनाएँ केवल शीतल, सुगन्धित, सुस्वादु पेय पदार्थों तथा 'परी हूँ मैं' जैसी विवृत्त जंघनाओं के रूप में ही नहीं दीखतीं, वे लगातार होते अपहरण, आत्मघात, बलात्कार, राह चलते दीखनेवाले ख़ून के फव्वारों के रूप में भी मिल रही हैं। आज का संसार यदि विश्व ग्राम (ग्लोबल विलेज) बना हुआ है तो वह केवल पित्जा, बर्गर किंग, कैंटेकी चिकन, फ्रेंच फाइज़ और नुडुल्स के लच्छों के कारण नहीं बल्कि अमेरिका के स्वर्ण शिखर— ट्विन टॉवर्स के धूलिसात होने, भारतीय संसद तथा लालकिले पर होनेवाले हमलों, निठारी के नरभक्षकों, अफ़गानिस्तान-ईरान में रक्षा के नाम पर होनेवाले नरसंहार का संसार भी है।

सवाल यह है कि आज का लेखन इनमें से किसे चुन रहा है? 'बर्गर किंग' को या 'बर्बरता' को? इधर प्रकाशित अनेक कहानी संग्रहों को पढ़ने के बाद मुझे लगा कि इनमें से अधिकांश सन् 70 के आसपास जन्म लेने वाले कहानीकार हैं और उनकी कहानियों में स्वीमिंग पूल में बिताये गये वीकएंड, बियर बार, हमेशा डेढ़ इंच ऊपर रहने वाली मन:स्थितियाँ, ओढ़ा हुआ अकेलापन, अजनबीपन, चर्च और चर्च के घंटे, सड़क पर उड़ने वाले सूखे पत्ते, चश्मे के लेंस में अक्स बनाते छोटे-छोटे ताजमहल, डाक बंगलों में बितायी गयी रातों को कहानी बनाती स्थितियाँ आदि तो ग़ायब हो ही गयी हैं। साठोत्तरी कहानी का तथाकथित 'भोगा हुआ यथार्थ' तथा आरोपित सन्त्रास आदि भी गुम हैं। सबसे बड़ी बात तो यह कि अब वह किसी पार्टी का प्रवक्ता नहीं रह

गया है। साठोत्तरी पीढ़ी की कहानियाँ यदि नेहरू युग से मोहभंग की कहानियाँ थीं तो ये कहानियाँ 'किताबी विचारधाराओं' से 'मोहभंग' की कहानियाँ हैं। वे आज के नंगे, बेलौस यथार्थ और वास्तविकता के सामने इतनी नीरन्ध्र खड़ी हैं कि उनके दरम्यान किसी खाँचे में ढली विचारधारा की समाई हो ही नहीं सकती। वे अपनी समय से इतनी आबद्ध हैं कि उन्हें साँस लेने में भी तक़लीफ़ हो रही है। वे समय की इसी सांसत की कहानियाँ हैं।

दूसरी गौरतलब बात यह है कि आज की अधिकांश कहानियाँ आज की राजनीति से बेतरह आक्रांत हैं। राजनीति उन्हें हर तरफ़ से और हर जगह दबोचे हुए है। हर जगह, हर क्षण कुकुरमुत्तों की तरह उगते हुए राजनेता उन्हें कहीं भी चलने या पहुँचने से रोकने लगे हैं : वे 'गेटकीपर' भी हैं और कांसस कीपर भी। आज का कोई भी व्यक्ति जब इस गेटकीपर से निबटकर अन्दर पहुँचता है तो भौंचक्का होकर देखता है कि वहाँ वही गेटकीपर राजनेता में रूपान्तरित होकर राजसिंहासन पर आरूढ़ है : ऐसी ही आज की एक कहानी में हम देखते हैं कि पाठशाला में सबसे पिछड़ा हुआ लफंगा लड़का देश या प्रदेश का शिक्षामन्त्री या प्रतिरक्षा मन्त्री बना हुआ है! कहानी का नायक दर-ब-दर भटकता हुआ कभी रेलवे प्लेटफार्म पर और कभी सड़क पर बेहोशी में बड़बड़ाता हुआ पड़ा है। देश का निर्माता बना हुआ यही राजनेता बिल्डर भी है और हत्यारी ब्लू लाइन बसों का मालिक भी। सात सितारे होटल भी उसके हैं, भारत को सिंगापुर और दुबई बनानेवाली मालोमाल मॉल भी उसके हैं। आज का कहानीकार इन सबके बीच भौंचक्का खड़ा है: आख़िर जाएँ तो जाएँ कहाँ!

किन्तु आज की राजनीति के बीच ढलती इन कहानियों के सामने भी एक चुनौती यह है कि कहीं इन राजनेताओं की इन कहानियों के लिए यह एक 'स्टॉक सिचुएशन्स' या 'स्टीरियो टाइप' स्थितियाँ न बन जाएँ जैसा कि आजकल अनेक व्यावसायिक बम्बइया फ़िल्मों में होने लगा है। साठोत्तरी कहानी ने कहानी से खलनायक को ग़ायब कर दिया था लेकिन अब यही खलनायक सर्व सुलभ और सहज सुलभ 'दशानन' बनकर बार-बार प्रकट हो रहा है। इस काग़ज़ी रावण के पुतले को हम कब तक उसमें पटाखे भरकर जलाते रहेंगे। नवलेखन के सामने एक बड़ी चुनौती यह भी है।

इन कहानियों ने प्रेम और सम्बन्धों की अवधारणा को भी पूरी तरह बदल दिया है। नयी कहानी का नायक 'एक और ज़िन्दगी' की तलाश में लगातार स्त्री-दर स्त्री' भटकता रहता था: यह उसका अपना प्रयोगवाद था, और साठोत्तरी कहानी का नायक अचानक सारे सम्बन्धों को 'निरर्थक' पाने लगा था : उसके सामने मानवीय सम्बन्धों का लगातार 'रक्तपात' हो रहा था हर औरत 'डरी हुई' नज़र आती थी। ... लेकिन आज का कहनीकार पाता है कि सारे सम्बन्ध महज सीढ़ियाँ हैं— 'साँप सीढ़ियाँ! भले ही सम्बन्धों के सबसे सघन रूप प्रेम सम्बन्ध ही क्यों न हों! प्रभात रंजन की एक कहानी में एक पुराने सम्बन्ध का नवीनीकरण करने की कोशिश भी इसलिए की जाती है कि पात्र विशेष की सफलता के सोपान पर पहुँचने के लिए सीढ़ी की ज़रूरत है। ...यहाँ सारे सम्बन्ध 'जज़्बात' को छोड़कर सहज 'ज़रूरत' बन गये हैं।

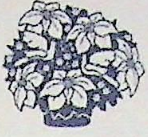
अपने समय की इस चुनौती को ये कहानीकार एक स्तर पर देख रहे हैं : इनमें से अनेक कहानीकार छोटे-छोटे शहरों (मसलन हाजीपुर, चम्पारन, बेगुसराय, झारखंड, छत्तीसगढ़, सीतागढ़ी आदि से आते हैं। इनमें से कुछ वहीं रहकर लिख रहे हैं और कुछ महानगरों में आ गये हैं— ये अपने इन 'रूटेड स्थलों' को ही केन्द्र बनाकर कहानियाँ लिख रहे हैं, बेहद प्रामाणिकता तथा प्रखरता के साथ! ध्यान देने की बात यह है कि ये 'नयी कहानी' युग की आंचलिक कहानियाँ या महानगरों में 'खोयी हुई दिशाओं' की कहानियाँ नहीं हैं। ये कृत्रिम ढंग से भौगोलिक ढंग विस्तार के लिए मशक्कत से लिखी गई कहानियाँ नहीं हैं। ये खुर्द बीनी ढंग से एक 'लोकेल' विरोध को केन्द्र बनाकर नहीं आज की स्थितियों की कहानियाँ हैं जहाँ महानेताओं और 'याहू' बनते उद्योगपतियों की धनपिशाची आकांक्षाओं ने पी.सी.ओ., कम्प्यूटर, टी.वी. और मोबाइल आदि तो पहुँचा दिये हैं लेकिन दस-बारह हज़ार की आबादी वाले इन कस्बों में औरतें पानी भरने आज भी किसी झरने या नदी तक मीलों पैदल चलकर जाती हैं— सिर पर तीन मंजिले कलश रखकर! दाना-पानी और दवाओं के लिए तरसते हुए ये कस्बे कान पर मोबाइल चिपकाये हुए टी.वी. देखते हुए मर रहे हैं। ये कहानियाँ अपने लोकेल के इन कस्बों या शहरों को पूरी तरह खँगालती हुई प्रस्तुत कर रही हैं। प्रभात रंजन की कहानी 'बदनाम बस्ती' ऐसी ही कहानी है। नीलाक्षी सिंह और चन्दन पांडेय भी अपना 'लोकेल' चुनकर ऐसी ही कहानियाँ लिख रहे हैं। किन्तु इन या ऐसी कहानियों के सामने भी चुनौती यह है कि शीघ्र ही इनकी सम्भावनाएँ निःशेष हो जाएँगी और उनमें पुनरावृत्ति दोष आ जाने का ख़तरा उत्पन्न हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त यद्यपि टी.एस. एलियट ने लिखा है कि बड़ी कला या रचना वह होती है जो अपने 'विषय वस्तु' की सम्भावनाओं को पूरी तरह निःशेष कर दे। लेकिन आधुनिक और समकालीन कहानी को इसके लिए अतिरिक्त कलेवर विस्तार तथा अनावश्यक ब्यौरों में जाने की ज़रूरत नहीं है : उसके लिए टॉलस्टाय की कहानी 'डेथ ऑव ईवानइलीच' या चेखव की कहानी 'ए डल स्टोरी या वार्ड नं-6' जैसी लम्बी कहानियाँ लिखना ज़रूरी नहीं है : स्वयं चेखव ने 'डार्लिंग,' 'द किस' जैसी अनेक संकेतात्मक संक्षिप्त कहानियाँ लिखकर और आधुनिक कहानी के सबसे बड़े महारथी अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने 'हिल्स लाइक व्हाइट एलिफेन्ट्स,' 'किलर्स,' 'मैन ऑन ब्रिज' और 'ए क्लीन वेल लाइटेड प्लेस' आदि जैसी अनेक अर्थस्तरों से गर्भित संकेतात्मक सूत्रों तथा प्रतीकात्मक कहानियाँ लिखकर आज के कहानीकार को ऐसी प्रविधि दे दी है कि उसे महाकाय होने की आवश्यकता नहीं है।

चेखव और हेमिंग्वे आदि की तरह ही आज के कहानीकार को अपनी निजी उपार्जित कथा भाषा पाने की ज़रूरत है जो अभी वैसी भी नहीं हो पायी है कि जैनेन्द्र, अज्ञेय, रेणु या निर्मल वर्मा की तरह भी महज अपने 'डिक्शन' से ही पाठक को आविष्ट कर ले।

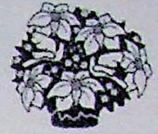
**77, अनुपम अपार्टमेंटस**
**वसुन्धरा एंक्लेव, दिल्ली - 110 096**
**फोन : 22619030**

## हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं!



हिंदी के वरिष्ठ पत्रकार, समाज-चिंतक, लेखक

# प्रो. रामशरण जोशी



को उनके 65वें वर्ष पर जन्मदिन (6 मार्च) की अनेकों शुभकामनाएं

**सामयिक प्रकाशन** परिवार के विभिन्न लेखकों को मिले सम्मानों के लिए बधाईयां

'आउटलुक' हिंदी के संपादक एवं एडिटर्स गिल्ड ऑफ इंडिया के अध्यक्ष

## आलोक मेहता

को उज्जैन में हुए उनके अभूतपूर्व नागरिक अभिनंदन के लिए
जिसमें प्रदेश की 51 सामाजिक संस्थाओं द्वारा अपने मालवा माटी के गौरव को सम्मानित किया गया।

---

वरिष्ठ कथाकार एवम् नवभारत टाइम्स के संपादक

## मधुसूदन आनन्द

को उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ द्वारा 'पत्रकारिता भूषण सम्मान'

---

वरिष्ठ व्यंग्यकार, कथाकार एवम् कादिम्बनी मासिक के कार्यकारी संपादक

## विष्णु नागर

को नई दिल्ली में प्रतिष्ठित 'व्यंग्यश्री सम्मान'

---

चर्चित युवा कथाकार एवं पत्रकार

## निर्मला भुराड़िया

को उनके उपन्यास 'ऑब्जेक्शन मी लार्ड' पर मध्य प्रदेश, भोपाल की साहित्य अकादमी सम्मान

---

ऋषि परंपरा के समर्पित वरिष्ठ प्रकाशक

## जगदीश भारद्वाज

को केन्द्रीय हिंदी संस्थान, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा
सम्मानित होने पर बधाई और शुभकामनाएं

विनीत :



महेश भारद्वाज
**सामयिक प्रकाशन,** नई दिल्ली
09868934715, 09811607086

# देशकाल

## सार्थक खोज

### मनीषा कुलश्रेष्ठ



इंटरनेट

**हिन्दी साहित्य में सूचना क्रान्ति** के रूप में तथा इंटरनेट के नाम पर सूचनाओं के विस्फोट की काफ़ी बात हो चुकी है। हम सब चीख़ रहे हैं कि भूमण्डलीकरण और भौगोलिक दूरियों और तकनीकी विकास की वजह से यह सूचनाओं का विस्फोट हम पर हुआ है। मगर हम सूचनाओं के इस विस्फोट से घबराते क्यों हैं? इसे सकारात्मक तौर पर क्यों नहीं लेते? एक बच्चा जब पैदा होता है तो रंग, ध्वनि, प्रकाश, स्पन्दनों, गति तथा स्पर्शों के माध्यम से क्या उस पर यकायक, एक नये और अपार संसार की समस्त सूचनाओं का विस्फोट नहीं होता? वह इस विस्फोट पर कभी चीख़ता है और कभी किलकता है फिर अपनी खोजी, उत्सुक और सीखने को तत्पर प्रवृत्तियों के चलते इस विस्फोट को अपना लेता है। उसके मस्तिष्क की संवेदी तन्त्रिकाएँ वह सब ग्रहण तथा विकसित करती जाती हैं जो सब उसके व्यक्तितव के निर्माण में काम आएँगी; शेष को वे छोड़ देती हैं।

आज जो युवाओं के सामने 'नये भविष्य की सम्भावनाएँ' खुली हैं, वह भी इसी विस्फोट की वजह से है, वरना एक आम भारतीय युवा का लक्ष्य पहले सिविल सर्विसेज़, फिर मेडिकल और इंजीनियरिंग, फिर बैंकिंग, कॉलेज और स्कूल की अध्यापकी के अलावा बहुत कम विकल्प होते थे। आज बच्चे 'एनीमेशन फ़िल्म मेकिंग', 'टी टेस्टर', 'वाईन टेस्टर' से लेकर 'जेनेटिक इंजीनियरिंग' जैसे बहुत से 'हाईब्रिड कैरियर ऑप्शन' अपना रहे हैं। आजकल बहुत कम, पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय नौजवान बेरोज़गार मिलते हैं। सरकारी नौकरियों के लिए वह आकर्षण कम हो चला है। बेरोज़गारी अब ग्रामीण प्रदेशों में शेष है जहाँ तक सूचना प्रौद्योगिकी का विकास नहीं पहुँचा है। कस्बों और गाँवों तक सही मायनों में 'सूचना क्रान्ति' पहुँचाने की आवश्यकता अब महसूस होने लगी है।

भारत को इस बड़े हिस्से जो कस्बों और गाँवों से बनता है, के सन्दर्भ में देखें तो साफ़-साफ़ महसूस होता है कि सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के क़दम अब हिन्दी तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की दिशा में बढ़ने चाहिए। हालाँकि यह इतनी आसान बात नहीं है पर बदलते वक़्त की करवटों को देखकर यह आवश्यकता अपरिहार्य हो चली है। हमारे पास हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम में पढ़ने-लिखने वालों की संख्या अब भी करोड़ों में है।

इंटरनेट सूचनाओं का विस्फोट है या सूचनाओं का जंगल है, एकदम सही। मगर जंगल की ही तरह जहाँ जड़ी बूटियाँ भी हैं और ज़हरीले फल भी, यह अब आप की विद्वत्ता पर निर्भर करता है कि आप क्या चुनें। इंटरनेट में भरा तो बहुत कुछ है मगर अपने काम का कैसे सर्च करें? यह एक आम इंटरनेट खोज की सबसे बड़ी समस्या है कि सर्च करने पर उपयोगी और अनुपयोगी बहुत कुछ हमारे सामने आ जाता है, उसमें से अपने काम की सामग्री ढूँढना तो भूसे में से सुई ढूँढने जैसा है। मगर सार्थक खोज भी एक कला है। उसके लिए भी कुछ नियम हैं।

सबसे पहले विश्व के लोकप्रिय सर्च इंजनों को हम वरीयता क्रम से सूची देख लें।

गूगल, याहू, बाईडू, माइक्रोसॉफ्ट, एन एच एन ई - बे, टाइम वार्नर, आस्क, कॉम, यान्डेक्स, अलीबाबा डॉट कॉम। ये सर्च इंजन विश्वभर की जानकारी महज़ एक क्लिक के माध्यम से हम तक पहुँचाते हैं।

विश्वभर के साथ-साथ भारत में गूगल बहुत लोकप्रिय है। गूगल की अतिलोकप्रियता का इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता है कि 'गूगल' शब्द संसार भर की डिक्शनरियों में 'खोज' के पर्याय की जगह पा चुका है। गूगल की लोकप्रियता का परिणाम है कि माइक्रोसॉफ्ट उससे चुनौती महसूस करने लगा है और 'याहू' का अस्तित्व संकट में आ गया है। भारत में 'गूगल भारत' की लोकप्रियता में चार चाँद तब लग जाते हैं जब हिन्दी तथा बहुत सी भारतीय भाषाओं में इंटरनेट उपभोक्ता को 'सर्च' उपलब्ध होती है। यहाँ फिर वही यूनिकोड की महत्ता! हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं में 'सर्च' केवल यूनिकोड में सम्भव है। चाहे वह बांग्ला हो, मराठी हो, तमिल या तेलुगू।

जैसा कि मैंने पूर्व में उल्लेख किया है गूगल हो कि याहू या एम एस एन— सार्थक खोज भी एक कला है। उसके लिए भी कुछ नियम हैं। अपने लिए उपयोगी सामग्री ढूँढने के लिए 'सार्थक खोज' कैसे करें, आइए जानें। बहुत तकनीकी उलझावों में न जाकर हम 'खोज' की सहज प्रक्रिया पर बात करते हैं। पहले हम गूगल पर खोज की कुछ मूलभूत बातों को जान लें। सर्च हम अँग्रेज़ी में करें या हिन्दी में, हमें अपने लिए सामग्री ढूँढने के कभी एक ख़ास शब्द या एक छोटा वाक्य टाइप करना होता है। मसलन हमें 'हिन्दी कहानी' ढूँढना है तो केवल 'हिन्दी' लिखने पर ढेर सारा भूसा हम पर आ गिरेगा और हम 'सुई' उसमें कतई नहीं खोज सकेंगे। 'हिन्दी कहानी' टाइप करेंगे तो भी बहुत सारे खोज परिणाम सामने आएँगे जिनका क्रम कुछ इस तरह होगा— पहले कुछ परिणामों में आपको 'हिन्दी कहानी' इन दोनों शब्दों के साथ-साथ वाले परिणाम मिलेंगे। फिर ऐसे परिणाम मिलेंगे जिनके पेजों पर एक ही पेज में ये दोनों शब्द मिल जाएँगे। अन्त में हिन्दी के अलग सर्च परिणाम मिलेंगे और कहानी के अलग। इसी तरह सर्च में अगर और शब्द शामिल हो गये मसलन 'भारतीय स्त्री की हिन्दी कहानी' तो खोज परिणामों में पहले पूरा वाक्य जहाँ हो वे परिणाम आएँगे। फिर दो-दो शब्दों के युग्मवाले परिणाम... फिर ऐसे परिणाम जिन पेजों पर इन शब्दों में से कुछ शब्द उपलब्ध हों। इसके बाद ऐसे परिणाम जिनमें भारतीय, स्त्री, कहानी तीनों अलग-अलग हों। इसलिए खोज के सार्थक परिणाम हमें पहले दस-बारह परिणामों में ही मिल जाते हैं।

कई बार हमारी खोज सहज नहीं होती है। हमें दो चीज़ें साथ खोजनी होती हैं तो या तो हम उन्हें एक साथ 'डिफॉल्ट' के तौर पर लिख दें या अलग-अलग परिणाम चाहिए तो अँग्रेज़ी में or और हिन्दी में 'या' लिखना होता है। यह भी हो सकता है हम एक पूरा वाक्य टाइप करें और उसमें माइनस का चिन्ह लगा कर एक कोई ख़ास शब्द हटा दें मसलन हमें खोजना है 'मॉडर्न फ्रेंच लिटरेचर - पोएम' तो आपको परिणाम बिना पोयम वाले मिलेंगे। ये सहज सरल नियम बूलैन सर्च ऑपरेटर के तहत आते हैं। अन्य सर्च ऑपरेटरों के लिए हमें सार्थक परिणामों के लिए इनवर्टेड कोमा, योगचिन्ह, हायफन और स्टार का प्रयोग भी किया जाता है। मसलन एक पूरा वाक्य लिखकर हमें कुछ खोजना है और हमें एकदम सार्थक परिणाम चाहिए तो इनवर्टेड कोमा लगाकर सर्च करनी चाहिए। दो शब्दों के साथ-साथ परिणामों के लिए योगचिन्ह। संख्याओं का भी यहाँ महत्त्व है। मसलन हमें अब्राहम लिंकन के जीवन काल के कुछ ख़ास वर्षों का ब्यौरा चाहिए तो हम "abraham lincon" 1860 ...1861 टाइप करके इच्छित परिणाम पा सकते हैं। इसी तरह किसी वेबसाइट का आपको अधूरा पता मालूम हो तो भी लिंक सर्च के माध्यम से उस साइट तक पहुँचा जा सकता है। जैसे सर्च बॉक्स में http://hindi*.* डालकर सर्च करने पर उन सारे पेजों के विवरण मिलेंगे जिन पर http://hindi से सम्बन्धित लिंक हैं।

याहू खोज में भी लगभग यही नियम काम आते हैं।

गूगल में हिन्दी खोज ने हमारे रास्ते प्रशस्त ज़रूर किये हैं, मगर खोज परिणामों को देखते हुए एक बड़ा शून्य अखरता है कि हिन्दी में

**यूनिकोड आधारित वेबसाइटों या पोर्टलों या ब्लॉग्स को देखने के लिए फोन्ट डाउनलोड करने की अनिवार्यता से अब निजात मिल चुकी है।**

—मनीषा कुलश्रेष्ठ (इंटरनेट)

**क्या मोबाइल का जनसंचार से कोई सम्बन्ध है? मोबाइल सामाजिक संरचनाओं को कितना और किस तरह प्रभावित करता है? मोबाइल के तकनीकी पहलुओं पर विमर्श उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उसके सामाजिक पहलुओं पर। मानवीय संचार के एक विस्तृत स्वरूप की तरह मोबाइल समेत जनसंचार के सभी साधन एक नये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की माँग करते हैं।**

—प्रांजल धर (मीडिया)

**यदि अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के जरिये रुपहले परदे को आकर्षक बनानेवाले हिमाचल और कश्मीर भारतीय सिनेमा की आँखें हैं, तो पंजाब इसका कंठ है।**

—शशांक दुबे (मैटिनी शो)

**अब लालिमा में तीखापन आ गया है। ऐसेडिक रंग हो गया इसका। यह या तो वातावरण में तब्दीली है या फिर मेरी अपनी मानसिक तब्दीली।**

—देसराज काली (कलादीर्घा)

स्रोत के नाम पर बहुत ठोस व सार्थक ही हमारे पास उपलब्ध नहीं है। जानकारियाँ हैं, मगर अधूरी और बिखरी हुई। हिन्दी अख़बार हैं मगर पूरी तरह अपडेटेड नहीं हैं। पत्रिकाएँ जो हैं उनके पुराने अंक ही चलते रहते हैं। उनकी वेबसाइटें पूरी तरह मुकम्मल नहीं हैं। प्रकाशन संस्थानों, साहित्यिक सरकारी व ग़ैरसरकारी संस्थाओं की वेबसाइटें अँग्रेज़ी में हैं। सूचना प्रौद्योगिकी विभाग की जो हिन्दी की वेबसाइटें हैं, उनकी तकनीकी शब्दावली से भरपूर हिन्दी भाषा को समझने में अच्छे ख़ासे हिन्दी के विद्वान को पसीना आ जाए।

जो कुछ हिन्दी में सार्थक प्रयास दिखते हैं, वो हिन्दी की वेबपत्रिकाओं और ऑनलाइन समाचारों में दिखाई देते हैं। इंटरनेट पर हमें विकीपीडिया के रूप में एक मुक्तविश्वकोश हासिल है। इसमें सम्पादन व योगदान की हर एक व्यक्ति को छूट है। यह पूरी तरह स्वयंसेवकों के सहयोग से निर्मित विश्वकोश है। जिसकी भी इंटरनेट तक पहुँच है वह विकिपीडिया पर अपने क्षेत्र के ख़ास विषयों पर लिख व सम्पादन कर सकता है। विकीपीडिया के संस्थापक जिमी वेल्स के अनुसार दुनिया के हर व्यक्ति के लिए, उसकी ख़ुद की भाषा में, एक अनेक भाषाई, स्वतन्त्र तथा जहाँ तक सम्भव हो सर्वोच्च गुणवत्ता वाला विश्वकोश बनाने तथा उपलब्ध करवाने की कोशिश है विकीपीडिया।

विकीपीडिया हिन्दी, हम हिन्दी भाषियों के लिए किया गया एक बहुत बड़ा प्रयास है। हिन्दी में हर विषय पर खोज तथा सन्दर्भ लेख यहाँ उपलब्ध हैं। इस दिशा में जहाँ हम बहुत-सी जानकारी हिन्दी में पा लेते हैं, वहीं गूगल तथा अन्य लोकप्रिय सर्च इंजनों पर हिन्दी में खोज के दौरान विकीपीडिया हिन्दी के सन्दर्भ व लेख ही मुख्यतया परिणामों में जगह पाते हैं। मगर, यह घड़ा बहुत बड़ा है और अभी बहुत ख़ाली भी है। इसमें बूँद-बूँद सामग्री भर रही हैं। हम चाहें तो इसमें अपना सहयोग दे सकते हैं। हिन्दी में लगभग हर विषय पर विकीपीडिया पर जानकारी तथा सन्दर्भ लेखों की माँग है। इस माँग को हम वे सभी लोग पूरा कर सकते हैं जो हिन्दी यूनिकोड फोन्ट का इस्तेमाल करते हैं और हिन्दी कम्प्यूटिंग में सहज रूप से काम कर पाते हैं। विकीपीडिया हिन्दी नयी जानकारियों के लिए अपने द्वार खोले रखती है। आप जिस क्षेत्र के बारे में गहन जानकारी रखते हैं, ऑनलाइन जाकर विकीपीडिया के अपने विषय के पेज पर जाकर उसमें Edit क्लिक करके हिन्दी में भी योगदान कर सकते हैं। अथवा बतौर एक लेखक अपना परिचय और कृतित्व डाल सकते हैं। किसी ख़ास कला या विषय के जानकार हैं तो अपनी कला या विषय का ब्यौरा सचित्र उसमें दे सकते हैं। भूगोल, इतिहास, चिकित्सा, व्यक्तित्व, खेल, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, समाज, कला, संस्कृति, फ़िल्में, मनोविज्ञान... लगभग हर विषय पर हिन्दी विकीपीडिया में विकास की ज़रूरत है। अँग्रेजी विकीपीडिया की कड़ियों और सन्दर्भों के मुक़ाबले हिन्दी कहीं नहीं है। यह एक विडम्बना है। हमें आगे आना चाहिए विकीपीडिया हिन्दी के इस विश्वकोश को संसार की समस्त भाषाओं के विकीपीडिया विश्वकोश्स के सापेक्ष समृद्ध बनाने में।

शर्त फिर वही यूनिकोड... हिन्दी कम्प्यूटिंग का भविष्य अब यूनिकोड के साथ चलने में ही है। हाँ, हिन्दी का ऑन लाइन भविष्य 'यूनिकोड' में ही है। यूनिकोड आधारित वेबसाइटों या पोर्टलों या ब्लॉग्स को देखने के लिए फोन्ट डाउनलोड करने की अनिवार्यता से अब निजात मिल चुकी है। कोई भी हिन्दी वेबसाइट अगर यूनिकोड में है तो उसे संसार भर में कहीं भी देखा-पढ़ा जा सकता है। इसलिये हिन्दी में काम करने वाले कम्प्यूटर उपभोक्ता जो अब तक किसी अन्य फोन्ट में काम करते आ रहे हैं, उन्हें सुझाव है कि यह सही समय है कि वे कम्प्यूटर को अपवर्धित करवा लें और यूनिकोड में काम करना शुरू कर दें। शुभस्य शीघ्रम।

द्वारा विंग कमांडर ए के कुलश्रेष्ठ
456/3 मैप
अजित नगर कॉम्प्लेक्स
एयर फोर्स स्टेशन खेरिया
आगरा - 282008

# मीडिया मोबाइल उर्फ़ एस.एम.एस. की दुनिया

## प्रांजल धर



मीडिया

**प्रसिद्ध कीनियाई लेखक मेजा मवांगी** के एक चर्चित उपन्यास का शीर्ष आम जनजीवन की बहुत छोटी चीज़ से जुड़ा है। मशीनीकृत हो चुके आज के समाज में यह शीर्षक एक छोटी और उपेक्षित-सी चीज़ का महत्त्व उद्घाटित करता है। उपन्यास का शीर्षक है : 'काकरोच डांस'। 'वीप नाट, चाइल्ड' के लेखक और क्रान्तिकारी कीनियाई साहित्यकार गुगी वा थियांगो से अपना अन्तर स्पष्ट करते हुए मवांगी लिखते हैं कि, ''उन्होंने माउ-माड में सक्रिय लोगों की निजी दुःख-गाथा लिखी है जबकि मैंने निसंग मशीन के उद्घाटन का प्रयास किया है।'' अफ्रीका के अधिकांश देशों के स्वाधीन हो जाने के बाद वहाँ मीडिया की ही भूमिका नहीं बदली है, तकनीकों का भी विस्तार हुआ है और साहित्य की विषयवस्तु में भी जबर्दस्त परिवर्तन हुए हैं। उन्नत मशीनों और सुविधा के साधन का पर्याय बन चुके छोटे-छोटे यन्त्रों ने मानव को 'आधुनिक' बनाया है, व्यक्ति की सोच-समझ के तौरतरीकों को बदल दिया है और उसकी निजता में काफ़ी गहराई तक दख़लन्दाज़ी की है। मोबाइल फोन एक ऐसा ही छोटा-सा घुनघुना है जिसने सामाजिक अन्तरसम्बद्धता के नये-नये जाल बुनकर व्यक्ति को, लगभग पूरे तौर पर, मोबाइल-निर्भर बना दिया है। आधुनिक मीडिया के एक नये अंग के रूप में उभरने के साथ-साथ इसने मीडिया की कार्यशैली पर भी ख़ासा असर डाला है। अगर टेलीविज़न, रेडियो या इंटरनेट की बात करें तो मोबाइल का इन सबसे एक गहरा रिश्ता बन चुका है। क्या आपने किसी एफ.एम. रेडियो चैनल को, किसी टी.वी. शो के एंकर को या किसी कार्यक्रम में अपनी 'राय' भेजने के

लिए उस कार्यक्रम के प्रस्तोता को एस.एम.एस. (शार्ट मैसेजिंग सर्विस) नहीं किया है?

मोबाइल धारकों को ज़रूर पता होगा कि अवसरों के आगमन की सूचना उन्हें कितनी सुलभता से मिल जाती है। नया साल पहले भी आता था, होली-दीवाली-ईद जैसे त्योहार पहले भी मनाए जाते थे लेकिन संचार के नये माध्यम— मोबाइल के आने के बाद ऐसे उत्सवों का माहौल अब ज़्यादा गर्म हो जाया करता है। सेलफोन के सम्बन्ध में आपको कुछ ख़ास परिश्रम भी नहीं करना है, बस आप सेवा प्रदाता कम्पनी से आये हुये सारे सन्देशों (एस.एम.एस.) को ध्यानपूर्वक पढ़ते रहिए। जटिल जीवन के किसी न किसी मोड़ पर आपको आपकी जेब के अनुकूल, आपकी सोच और आपके व्यक्तित्व के अनुकूल स्कीमें मिल जाएँगी। कभी-कभी कम्पनियों की तरफ़ से मोबाइल धारकों को फ़ोन भी आ जाता है— 'आप रोज़-रोज़ की ट्रिन-ट्रिन से ऊब गये हैं क्या? क्या आपको कॉल करने वाले लोग आपकी ट्रिन-ट्रिन सुनकर बोर हो गये हैं? डाउनलोड कीजिए टेन पॉपुलर हिट्स में से कोई एक गाना और नयापन लाइए थक चुकी ज़िन्दगी में! पॉप सांग्स के लिए 'एक' दबाएँ, क्लासिकल के लिए 'दो' दबाएँ...दुबारा सुनने के लिये 'ज़ीरो दबाएँ!' उपभोक्ता के 'अट्रैक्ट' होने की हालत में उसको अच्छी-ख़ासी रकम का चूना लगना तय है। रिंगटोन से लेकर सिंगटोन तक और लोकल कॉल्स से लेकर एस.टी.डी. वार्तालापों तक की अलग-अलग दरें हैं, हर स्कीम के लिए अलग-अलग टैरिफ़ हैं, अलग-अलग टॉप-अप कार्ड्स हैं, भिन्न-भिन्न 'सुविधाएँ' हैं।

पर 'सुविधाओं' की इस भीड़ में कभी-कभी मोबाइलधारक बेहद असुविधाजनक स्थिति में फँस जाता है। हो सकता है कोई पुरुष किसी हेयर कटिंग सैलून में शेव करवा रहा हो या कोई महिला ब्यूटी पार्लर में अपने हेयर कर्ली करवा रही हो और ठीक उसी वक़्त मोबाइल घनघनाने लगे तो क्या हालत होगी? कई बार आप ऐसे मौकों पर जब कॉल रिसीव करेंगे तो उधर से आवाज़ आएगी, 'कैसा रहेगा यह साल आपके लिए, जानिए अपने शहर के सबसे बड़े ज्योतिषी से...'। कुछ कम्पनियाँ ब्वॉयफ्रेंड-गर्लफ्रेंड 'कंसेप्ट' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानती हैं इसलिए सारी रात बात करने के लिए अधिकाधिक सुविधा मुहैया कराती हैं। मसलन यह एक-चौथाई जैसे रियायती दामों को लागू किये जाने की सुविधा हो सकती है या फ़िर पूरी तौर पर मुफ़्त। बिल्कुल फ्री! बिगसाइज़ टाकटाइम और किंगसाइज़ लाइफ़! कौन नहीं लेना चाहेगा ऐसी स्कीमों को? स्कीमों की पेशगी ऐसी कि उपभोक्ता कम्पनी से एक 'बिलांगिंग' महसूस करने लगता है, 'इम्पैथी' फ़ील करने लगता है और 'मेलनकोलिक' सिचुएशन से अचानक ऊपर उठकर चीते की तरह दहाड़ने लग सकता है! शायद सेलफोन को और उसकी ताक़त को देखते हुए ही संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे शशि थारूर ने अपनी पुस्तक का शीर्षक रखा है : दि एलीफेंट, द टाइगर एंड द सेलफोन। ज़ाहिर है कि अगर बाघ जंगल का राजा है तो मोबाइल आज बाज़ार का राजा है, अगर चीता बिजली की तरह फ़ुर्तीला है तो सेलफोन बिजली से चार्ज्ड होकर बिजली से भी ज़्यादा फ़ुर्तीला है। देखने में मोबाइल भले छोटा लगे लेकिन उसके काम छोटे नहीं हैं : देखन में छोटन लगें, घाव करें गम्भीर!

तरह-तरह के रंग-बिरंगे मोबाइलों के विज्ञापन मीडिया में अकसर देखने-सुनने को मिल जाते हैं। किसी का स्क्रीन इतना 'चौड़ा' है कि उसमें आसमान ही समा जाए, किसी के लिक्विड क्रिस्टल्स इतने 'कलरफ़ुल' हैं कि उस एल.सी.डी. और उसके कंट्रास्ट के चलते आपके जीवन में खुशियाँ आए बिना रह ही नहीं सकतीं। लेकिन मोबाइल (और उसकी बिक्री) ही मीडिया पर निर्भर नहीं है, मीडिया (और उसकी बिक्री) भी मोबाइल पर बहुत हद तक निर्भर है। पहले पत्रकार घटनास्थल पर पैसेंजर ट्रेन की तरह पहुँचते थे, तहकीक़ात करने में तमाम वक़्त खर्च होता था तब कहीं जाकर कोई घटना कलम और स्याही पर रफ़्ता-रफ़्ता सवार होकर चर्चित हो पाती थी। मुद्दतें लग जाती थीं दूध का दूध और पानी का पानी करने में! पर अब तो यह सब चुटकी बजाने जैसा है। आज चैनलों के पत्रकार काफ़ी 'बिज़ी' हैं, जाँच-पड़ताल और छानबीन इतनी 'जटिल' हो गयी है कि 'ई-पत्रकार' हमेशा हाँफते रहते हैं। 'इवेंट्स' और 'हैपेनिंग' का बुख़ार उन्हें चैन की साँस नहीं लेने देता! स्टोरीज़ को कवर करने की ही जल्दबाज़ी नहीं है, कवर करने का दायरा भी इतना व्यापक है कि सारी की सारी घटनाओं को कवर करना है। क्या ऐसे महत्त्वाकांक्षी लक्ष्य बिना मोबाइल के पूरे किये जा सकते हैं? शायद नहीं; क्योंकि पत्रकार को सभी लोगों से लगातार 'टेलीफोनिक कांटैक्ट' में रहना पड़ता है। अगर वह क्राइम बीट देख रहा/रही है तो दरोगा-पुलिस से लेकर दूसरे चैनलों के पत्रकारों तक का 'नम्बर' उसे रखना ही पड़ेगा ताकि मामले को 'इन्वेस्टीगेट' किया जा सके, न्यूनतम मेहनत और कम से कम समय में। यही बात पॉलिटिकल बीट या दूसरी बीट के पत्रकारों पर भी लागू होती है; तभी तो ख़बरें, ख़बर बनने के पहले ही पता चल जाती हैं। पर आशा और खुशी की बात यह है कि आज भी, चाहे बहुत सीमित मात्रा में ही सही, ठोस पत्रकारीय मूल्य ज़िन्दा हैं, और निष्पक्ष तथा विद्वान पत्रकार समाज में मौजूद हैं।

संचार एक गतिशील प्रक्रिया है इसलिए संचार के उन माध्यमों का महत्त्व बढ़ना भी लाज़िमी है जो इस तेज़रफ़्तार गतिशीलता से संगति बैठाने में कामयाब हों। अभी ज़्यादा दिन नहीं बीते जब दूरभाष सम्पर्क के लिए घंटों इन्तज़ार करना पड़ता था, ट्रंक कॉल की मुसीबतें झेलनी पड़ती थीं और बात करने के लिए रिसीवर को अलग से कान में लगाते हुए स्पीकर मुँह के पास रखकर बोलना पड़ता था। इन चार-छह दशकों में वैज्ञानिक उन्नति और परिवहन के साथ-साथ संचार भी अधिक सुविधाजनक हुआ है, संचार की रफ़्तार बहुत तेज़ हो गयी है और संचारकों की तादाद भी बढ़ी है। एक मिनट के भीतर कोई व्यक्ति ब्रिटेन या फ्रांस से एस.एम.एस. करके भारत या अमरीका के अपने मित्रों का हाल-चाल जान सकता है। इसमें राष्ट्रीय सीमाओं या नागरिकता की 'बाउण्डरीज़' जैसी कोई समस्या भी नहीं है। शायद इन्हीं सब वजहों से आजकल 'फ़्लोटिंग सिटीजनशिप' और 'विश्वग्राम के निवासी' जैसे शब्द मीडिया में चलन में आये हैं। लेकिन एस.एम.एस. का महत्त्व सिर्फ़ इतना ही नहीं है कि वह किसी अनोखी ख़बर को संचारक से प्राप्तकर्ता तक पहुँचाता है। बहुत बार ख़ुद एस.एम.एस. भी

एक ख़बर बन जाता है। अधनंगी तस्वीरों और विभिन्न 'मुद्राओं' से लैस अश्लील विडियो क्लिपिंग्स का एक मोबाइल से दूसरे मोबाइल तक एम.एम.एस. के ज़रिये भेजा जाना भला क्या दर्शाता है? कई बार अनजाने में अनेक भोले-भाले लड़के-लड़कियाँ मोबाइल के बहुत लम्बे और ताक़तवर हाथों के जाल में फँस जाते हैं। ऐसे निर्दोषों की तस्वीरें पूरे मोबाइल नेटवर्क में इधर से उधर और इस शहर से उस शहर तक घूमती रहती हैं। इस तरीके से घर परिवार की प्रतिष्ठा दाँव पर लगने के चलते कई बार युवकों-युवतियों द्वारा आत्महत्या किये जाने के मामले भी सामने आये हैं। ऐसे नकारात्मक उदाहरण यह सोचने पर मजबूर करते हैं कि विज्ञान या तकनीक सिर्फ़ वरदान ही नहीं है; अभिशाप भी है। शायद इसीलिए कवि दिनकर ने कई दशकों पहले ही लिख डाला था— *सावधान मनुष्य! यदि विज्ञान है तलवार, /तो दे तजकर फेंक उस मोह-स्मृति के पार;/ हो चुका है सिद्ध तू शिशु अभी अज्ञान;/फूल-काँटों की नहीं तुझको अभी पहचान;/ खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,/ काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।* क्या ये पंक्तियाँ मोबाइल के नकारात्मक पहलुओं के सन्दर्भ में आज भी प्रासंगिक नहीं हैं?

एक एस.एम.एस. के ख़बर बनने का हालिया उदाहरण सचिन तेन्दुलकर द्वारा तथाकथित रूप से भारतीय क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड के अधिकारियों को किया गया एस.एम.एस. है जिसमें सचिन ने हरभजन सिंह पर आस्ट्रेलिया दौरे के दौरान लगे प्रतिबन्धों को हटाने की बात की थी। चैनलों ने इस ख़बर को जमकर दिखाया। एंकरों ने चीख-चीखकर दर्शकों से गुज़ारिश की कि आप इस एस.एम.एस. के एक-एक शब्द को देखिए...गौर से देखिए...एक बार फिर ग़ौर से देखिये...। अगले दिन अख़बारों ने हेडिंग लगाई : 'बोर्ड ने कहा कि सचिन ने नहीं भेजा एस.एम.एस.'। ख़ैर, ख़बर तो ख़बर है, और ख़बर का खंडन उससे भी बड़ी ख़बर!

यह मोबाइल का असर ही है कि जिस तरह प्रति व्यक्ति आय नापकर किसी देश की अमीरी-ग़रीबी का आकलन किया जाता है, उसी तरह आजकल 'टेली डेंसिटी' भी नापी जा रही है। विश्व के मानचित्र पर अनेक रंगों के ज़रिये प्रति हज़ार व्यक्तियों पर टेलीफोन की संख्या दर्शाई जाती है। सर्वेक्षण बताते हैं कि अब वह दिन दूर नहीं है जब भारत में अमरीका और रूस से कहीं ज़्यादा मोबाइल धारक होंगे। ख़ासकर तब इस बात पर हैरत कैसे हो सकती है जब अपने देश में हर महीने साठ लाख नये परिवार मोबाइल से जुड़ रहे हों? फिर मोबाइल कम उपयोगी भी नहीं है। बैठे-बैठे एक.एस.एम. एस के ज़रिये दुनिया के किसी भी कोने में खेले जा रहे क्रिकेट मैच का स्कोर जाना जा सकता है, पी.एन.आर. नम्बर का उपयोग करके रेलवे में अपने आरक्षण की स्थिति जानी जा सकती है, देश-विदेश की ख़बरें और ताज़ातरीन न्यूज़ हेडलाइंस पढ़ी जा सकती हैं, और बटन दबाते ही बैंक खाते से जुड़ी जानकारियाँ हासिल की जा सकती हैं। फोन बैंकिंग का इस्तेमाल न करने की वज़ह से आपको 'लो स्टेटस' या 'ट्रेडिशनल' या 'नॉन अपडेटेड पर्सन' जैसे विशेषणों के साथ रखा जा सकता है! रूठे लोगों को सिर्फ़ दो-चार रुपये में 'सॉरी' लिखकर मनाया जा सकता है; मामला गम्भीर हो, तो 'रियली वेरी सॉरी' जैसा अचूक अस्त्र भी एस.एम.एस. किया जा सकता है।

और आजकल तो इंटरनेट जैसा मज़बूत ख़जाना भी मोबाइल पर उपलब्ध है। यह 'तन्हाई' का अहसास नहीं होने देता और आपको हमेशा बाक़ी दुनिया से 'कनेक्टेड' रखता है। दूरियाँ तो ख़त्म हुईं ही हैं, 'बोरियत' भी विदा हो रही है। यह मोबाइल की महिमा नहीं तो और क्या है कि आप अपने कैमरे वाले मोबाइल से हर ऐसी चीज़ की तस्वीर ले सकते/सकती हैं जो आपको रुचिकर लगे! हो सकता है कि किसी घटनास्थल तक पहुँचने में चैनल के कैमरामैन को देर हो जाए तो कुछ देर तक की घटनाओं को बड़े आराम से मोबाइल के छोटे परदे पर 'सेव' किया जा सकता है। आजकल तो किसी फ़िल्म के रिलीज़ होने वाले दिन सिनेमा हाल या मल्टीप्लेक्सों में लोगों द्वारा कुछ उत्तेजक दृश्यों को 'कैप्चर' करने का चलन भी ज़ोर पकड़ रहा है! मोबाइल में मुहैया रेडियो कई बार सफ़र को 'सुहाना' बना देता है और सफ़र के लम्हों को यादगार। आपने ऐसे लड़के-लड़कियों को तो देखा ही होगा जो कानों में कनखजूरा (इयर फोन का हेड फोन) लगाकर आराम से सड़कों पर चलते रहते हैं, भीतर ही भीतर संगीत का रस लेते रहते हैं या अपने किसी अति प्रिय से बातचीत करते रहते हैं? ऐसे में पीछे से आ रही गाड़ियों का हॉर्न सुनना भी उन्हें बेमानी ही लगता होगा!

आजकल मोबाइल के दाम भी घट रहे हैं। यह एक सकारात्मक संकेत हैं। कैसे? मान लीजिए आप रिक्शे में बैठकर बस स्टॉप से अपने घर जा रहे हैं कि अचानक मोबाइल का घनघनाना आपको सुनाई पड़ता है। आप अपना मोबाइल टटोलते हैं; दायीं जेब में, बायीं जेब में...। तब तक रिक्शेवाले को आप मोबाइल पर बात करते पा जायेंगे - 'हाँ, हाँ...किधर है तू यार! सवारी छोड़कर मुझे बड़े गोल चक्कर पर मिल... तब तक मैं भी फलाँ अपार्टमेंट्स में सवारी छोड़कर फ्री होता हूँ...।' यह पूँजीवादी भूमंडलीकरण से उपजा इक्कीसवीं सदी का 'मोबाइल समाजवाद' है। इस समाजवाद के साथ मीडिया भी खड़ा है। अपने कल-पुरजों के साथ। सी.ई.एम. जोड ने शायद ठीक ही कहा था कि समाजवाद एक ऐसे टोप की तरह है जिसे हर कोई पहन लेता है, और इसलिए अब उसकी शक्ल पहचानने में नहीं आती। यानी समाज में दो वर्ग हैं— एक, जिसके पास मोबाइल है और दूसरा, जिसके पास नहीं है। पर मुक्त पूँजी, कारपोरेटीय विस्तार और पॉपुलर कल्चर के प्रचार-प्रसार को देखते हुए कहा जा सकता है कि दूसरे वर्ग का आकार दिनोंदिन छोटा होता जा रहा है, और एक दिन ऐसा आएगा जब सभी के पास मोबाइल होगा। यह 'समतामूलक' और 'वर्गहीन' समाज होगा जिसमें सबके व्यवहार-विचार एक-से होंगे। मीडिया का प्रभाव चहुँओर व्याप्त होगा, और सभी लोग बर्गर-पिज्ज़ा खाएँगे, कोक-पेप्सी पिएँगे और इतने एक-से हो जाएँगे कि आपस में लड़ाई-झगड़े की नौबत ही नहीं आयेगी। न्यूयॉर्क टाइम्स के पत्रकार टॉमस एल.फ्रीडमैन अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड इज़ फ़्लैट' में कुछ ऐसी ही बातें कहते हैं। पर सवाल है कि ऐसे समाज में किस संस्कृति और किस विचारधारा का प्राधान्य होगा?

मोबाइल संचार का एक आधुनिक साधन है और संचार की प्रक्रिया में प्रतिक्रिया यानी

फ़ीडबैक का महत्त्व कम नहीं है। यह फ़ीडबैक मीडिया और दर्शक के बीच की अन्तर्क्रियात्मकता को बढ़ाता है और मीडिया को जनप्रतिनिधि मूलक होने की ओर नयी दिशा दिखाता है। जनता आज अपने फ़ीडबैक के सहारे ही तो किसी व्यक्ति विशेष को रीयलिटी शोज़ में विजेता घोषित करती है! यह मोबाइल और उसके एस.एम.एस. का ही प्रताप है कि ताजमहल को लेकर लाखों-लाख लोगों ने अपनी राय दी! मीडिया ने जनता के साथ जो किया, वह अलग चीज़ है; आज के ज़माने में बड़ा सवाल तो यह है कि जनता मीडिया के साथ क्या करती है? लोग मीडिया को कैसे और किस नज़रिये से देखते हैं और उसका कैसा उपयोग करते हैं? एलिहू काट्ज़ जैसे विद्वानों ने इस बात का खंडन किया है कि लोग पैसिव हैं और सारा काम मीडिया ही करता है। उनका कहना है कि आज आडियन्स एक्टिव हैं, पैसिव नहीं। वास्तव में यह उपयोग और सन्तुष्टि का सिद्धान्त है। यानी, लोगों को जो ज़्यादा उपयोगी और ज़्यादा सन्तुष्टिदायक लगेगा, लोग उसी (चैनल, टेलीविज़न, रेडियो, इंटरनेट, अख़बार या मोबाइल) को देखेंगे, सुनेंगे और पढ़ेंगे।

विल्बर स्रैम जैसे विद्वानों का इसीलिए मानना है कि उस मीडिया के चुनाव की सम्भावना सबसे ज़्यादा होती है जहाँ पर उपयोगकर्ता को सर्वाधिक सन्तुष्टि का वायदा मिलता हो और इस सन्तुष्टि को प्राप्त करने के लिए जहाँ उसे कम से कम प्रयास करने पड़ते हों। इन कसौटियों पर टेलीविज़न या अख़बारों के साथ-साथ मोबाइल को भी जाँचा-परखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, अधिकतर लोग टेलीविजन को अख़बारों से ज़्यादा इसलिए पसन्द करते हैं क्योंकि टेलीविजन में दर्शक को ज़्यादा प्रयास नहीं करने पड़ते। कम पृष्ठों वाले अख़बार, ज़्यादा पृष्ठों वाले अख़बारों से ज़्यादा पसन्द किये जाते हैं क्योंकि वहाँ पर पाठक को कम कोशिशें करनी पड़ती हैं (हालाँकि इसके अपवाद भी हैं)। अगर मोबाइल की बात करें तो इसका उपयोग करने के लिए मोबाइल धारक को कोई ख़ास परिश्रम नहीं करना पड़ता। बस कुछेक बटनों को दबाना भर होता है। बेशक यह बात सही है कि मोबाइल आज विलासिता की नहीं, आवश्यकता की वस्तु बन गया है। पर यह कहना ग़लत नहीं होगा कि मोबाइल क़रीब सत्तर फ़ीसदी मामलों में अनावश्यक रूप से ही प्रयुक्त किया जाता है। मसलन, कुछ लोग हमेशा मिस कॉल ही करते रहते हैं। बच्चों को आप कमरे में पढ़ने के लिए भेजेंगे, वे दरवाज़ा अन्दर से बन्द करके मोबाइल पर गेम खेलते रहेंगे। या फिर वे रेडियो चैनल वाले शर्मा जी को अँग्रेजी में अपना सवाल टाइप करते हुए पूछेंगे— 'शर्मा जी! मेरे मरने के बाद मेरी गर्लफ्रेंड का क्या होगा?' शर्मा जी ने इस सवाल का एक दिन सहज और प्रामाणिक उत्तर दिया— 'मैं औरों की तो नहीं जानता, लेकिन मैं अपनी सेवाएँ देने के लिए तैयार हूँ।' एफ़.एम. रेडियो चैनलों का मीडिया श्रोताओं को आकर्षित करने के लिए आजकल एक से बढ़कर एक नये तरीके ईजाद कर रहा है। इन तरीकों में मोबाइल की भूमिका गानों की फ़रमाइश से लेकर डॉक्टर लव के कार्यक्रमों तक सर्वप्रमुख है।

क्या मोबाइल का जनसंचार से कोई सम्बन्ध है? मोबाइल सामाजिक संरचनाओं को कितना और किस तरह प्रभावित करता है? मोबाइल के तकनीकी पहलुओं पर विमर्श उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उसके सामाजिक पहलुओं पर। मानवीय संचार के एक विस्तृत स्वरूप की तरह मोबाइल समेत जनसंचार के सभी साधन एक नये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की माँग करते हैं। इन साधनों से विवाह, परिवार, नातेदारी या सामाजिक समूहों जैसी अवधारणाओं पर ही असर नहीं पड़ा है, व्यक्तियों की भूमिकाएँ भी बदलीं हैं और इन भूमिका समुच्चयों पर नये किस्म के दबाव भी समाने आये हैं। यह इन साधनों का प्रभाव नहीं तो और क्या है कि आज कोई भी अफ़सर या नेता उतने आराम से रिश्वत नहीं ले सकता, जितने से पहले ले सकता था। क्या भ्रष्टाचारी लोग डंक पत्रकारिता या स्टिंग ऑपरेशनों के आतंक से 'भयाक्रान्त' नहीं होते? जहाँ तक पश्चिमी समाजों की बात है, चार-पाँच दशक पहले ही वहाँ जनसंचार के साधनों को सामाजिक परिवर्तनों का वाहक माना जाने लगा था। भारत के सन्दर्भ में हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारा लोकतन्त्र अशिक्षा, भुखमरी, कुपोषण और साम्प्रदायिक चुनौतियों जैसे अनेक सवालों से आज भी जूझ रहा है। मीडिया द्वारा प्रसारित सन्देशों और प्रेषित कार्यक्रमों के प्रति सभी लोग समानतापूर्वक सक्षम नहीं हैं कि वे अपनी प्रतिक्रिया दे सकें। और जब तक हर आम भारतीय अपनी राय ज़ाहिर करने में सक्षम न हो जाए, उसे न्यूनतम आर्थिक, संसाधन और सुविधाएँ न मुहैया करा दी जाए, किसी राय को भारत का 'प्रतिनिधित्व करने वाली राय' कैसे कहा जा सकता है? ऐसे हालात में मीडिया द्वारा मोबाइलों के सहारे अकसर प्रक्षेपित किये जाने वाले जनमत संग्रह यानी रिफ़रेंडम को क्या वास्तव में 'जनमत' कहा जा सकता है?

ओटो एन लारसन ने अपनी विख्यात कृति 'सोशल इफ़ेक्ट्स ऑव मास कम्युनिकेशन' में मीडिया के सामाजिक प्रभावों की थोड़ी-बहुत पड़ताल की है। उन्होंने लिखा है कि जनसंचार का अर्थ है— किसी अवैयक्तिक साधन से अपेक्षाकृत बहुत से जनों को एक ही समय में किसी सन्देश का प्रेषण। मसलन, नये साल पर आपके मोबाइल में किसी के दिल की गहराई से उपजा एक मार्मिक सन्देश आता है। आप पढ़कर उस सन्देश को 'सेंड टू ऑल' कर देते हैं और वही सन्देश, बिना ज़रा भी हेरफ़ेर के, आपके सभी मित्रों तक पहुँच जाता है। इस मीडिया मोबाइल की इस मैसेज़ फारवर्डिंग प्रणाली की क़ामयाबी के लिए सिर्फ़ इतना ज़रूरी है कि आपके सभी मित्रों के नाम आपके मोबाइल की 'फोन बुक' में दर्ज़ हों! सुविधा भी ऐसी है कि आपको सिर्फ़ नाम भर दर्ज़ करना है, बाक़ी 'अल्फ़ाबेटिकल ऑर्डर' (वर्णक्रमानुसार) को मोबाइल ख़ुद ही 'फ़ॉलो' कर लेगा! पलक झपकते ही आप हज़ारों लोगों को क्रिसमस या न्यू ईयर 'विश' कर डालते हैं!

लेकिन कृत्रिमता की इस कन्दरा में शुभकामनाएँ संवेदनामूलक न होकर, मशीनीकृत हो जाती हैं। उस मोबाइल मैसेज में आपकी कोई सृजनात्मकता, आपकी अपनी कोई भावना है ही नहीं! कम से कम, सम्बन्धों का वह गुरुत्व तो हर्गिज़ नहीं जो हाथ से लिखे गये एक पत्र में झलकता है! तो मोबाइल को क्या इस बात का 'श्रेय' नहीं दिया जाना चाहिए कि द्रुत मीडिया के तुरन्तबाज़ युग में आज उसने पत्र लिखने की रचनात्मक और भावनात्मक सोच को काफ़ी हद तक कुन्द कर डाला है? कौन उठाए ज़हमत, पत्र लिखने की? क्यों न

यह सोचकर अपना बचाव कर लिया जाए कि पत्र पाने वाले को भी ख़त पढ़ने की फुर्सत कहाँ होगी? फिर डर भी है, कि कोई 'बाबा आदम' के ज़माने का न समझ ले! हाँ, हिलोरें मारता ऊर्जावान किशोर मन भले ही कभी-कभार गीत सुन लेता हो : 'पहले प्यार की पहली चिट्ठी, साजन को दे आ...कबूतर जा जा जा ...।' लेकिन सांस्कृतिक आघात आपको माथा खुजलाने पर मजबूर कर सकता है, जब आप सुन रहे हों - 'व्हाट इज़ मोबाइल नम्बर ... करूँ क्या डायल नम्बर...।' यक़ीन न हो तो उन अभिभावकों से पूछिए जिनके जवान लड़के-लड़कियाँ रात भर मोबाइल में खटर-पटर किया करते हों और अभिभावकों की नींद हराम कर देते हों। कुछ तो तकनीकी हलचलों के चलते और कुछ सामाजिक लोक लाज की वज़ह से।

मीडिया मोबाइल एक अलग किस्म की 'मोबाइल कम्युनिटी' और 'मोबाइल कल्चर' से भी जुड़ता है। यह कम्युनिटी व्यग्र-व्याकुल, उतावली और 'डायनेमिक' किस्म की है, जहाँ अधिकतर मोबाइल धारकों को 'फालतू' की बातों के लिए फ़ुर्सत नहीं है। यह 'इंडिविजुअलिटी' का स्वागत करती है और 'अपनी, ख़ुद की, बिलकुल और सिर्फ़ अपनी ही मर्ज़ी' की मालिक है। यहाँ अँग्रेज़ी की जानकारी अनिवार्य है लेकिन अग़र अँग्रेज़ी नहीं आती तो कम से कम हिन्दी के वाक्य को अँग्रेज़ी का सहारा लेकर रोमन लिपि के बूते एस.एम.एस. करना आना ही चाहिए। 'सामुदायिकता' का अहसास ज़रूर होगा लेकिन सिर्फ़ आभासी अहसास। प्रमीला के.पी. ने अपने ग्रन्थ 'कविता का स्त्रीपक्ष' में शायद इसीलिए लिखा है, ''भारतीय समाज की सामुदायिक ख़ासियतें थीं। वैश्विक होड़ में उसका स्वभाव 'मास सोसायटी' में परिवर्तित हो रहा है। इस सभ्यता पर बाज़ार का नियन्त्रण है, यन्त्रों व इलेक्ट्रॉनिक साधनों का प्रवाह है। अँग्रेज़ी का वर्चस्व इतना जबर्दस्त है कि युवा पीढ़ी की दैनन्दिन भाषा 'संकर भाषा' बन गयी है। टी.वी., मोबाइल, इंटरनेट के ज़रिये वैश्विक मानकों की स्थापना हो रही है।'' पूछा जाना चाहिए कि प्रत्येक को 'वैश्विक मानकों' की वर्तमान दौड़ में क्यों धकेला जा रहा है? वास्तव में, यह एक ऐसे जुआरी के साथ जुआ खेलने जैसा है जहाँ चित आए तो भी आप हारते हैं, पट आए तो भी आप ही हारते हैं। और लगातार हारते हुए भी आप 'जीतने का सुख' पाते हैं। कैसे? मोबाइल स्क्रीन पर गेम जीतकर; स्क्रीन पर ऊँचे-ऊँचे स्कोर बनाकर या फिर किसी के मोबाइल मेसेज़ के बदले एक ऐसा 'कलर एस.एम.एस.' या 'पिक्चर एस.एम.एस.' भेजकर कि पाने वाला 'परास्त' महसूस करेगा, दंग रह जाएगा! क्या छल-छद्म, भुलावे और ग़लतफ़हमियों में बनाये रखने का इससे बढ़िया उदाहरण कहीं और मिल सकता है? यह मानव-मनोविज्ञानों की संवेदनशील नसों की नब्ज़ पकड़ने जैसा है। क्या अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त कुछ ऐसी ही बातें नहीं कहता?

मीडिया मोबाइल के कुछ फ़ायदे बेशक हैं, पर नुकसान ज़्यादा हैं। मोबाइल का ज़्यादा प्रयोग सेहत सम्बन्धी तमाम मुसीबतों को जन्म देता है। मसलन, शरीर में ऊपर की पॉकेट में रखा मोबाइल हृदयगति पर नकारात्मक असर डालता है, कानों में हमेशा ट्रिन-ट्रिन की घनघनाहट सुनाई देने वाला रोग रिंगिंगजाइटिस भी मोबाइल की ही उपज है और दिनभर बार-बार मोबाइल के की-पैड पर बटन दबाते रहने से अँगूठा माँसपेशियों की निष्क्रियता यानी कारपल टनल सिंड्रोम का भी शिकार हो सकता है। अगर भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद की रपट पर ग़ौर किया जाए तो ज़ाहिर है कि मोबाइल का हानिकारक विकिरण नपुंसकता की वज़ह भी बन सकता है। एस.एम.एस. के ज़रिये दिल का हाल सुनाना, हवाई यात्रा या फ़िल्म का टिकट बुक कराना ज़रूर फ़ायदेमन्द हो सकता है लेकिन एस.एम.एस. की यह दुनिया बड़ी विचित्र है। सीधे-सपाट, उल्टे-सीधे और अपूर्ण या अशुद्ध वाक्यों का वाहक बन चुका एस.एम.एस. भाषा और व्याकरण के नियमों को ताक पर रख देता है। मोबाइल या एस.एम.एस. के बिना कुछ लोगों को ज़िन्दगी भले ही बेनूर और बकवास लगे लेकिन तकनीकी उन्नति की कीमत समाज को पारम्परिक शिष्टाचार या सलीकों को गँवाने के रूप में चुकानी पड़ रही है।

अगर यह मीडिया और उसके द्वारा प्रसारित मूल्यों का असर नहीं तो और क्या है कि हर किसी को उससे महँगा मोबाइल ख़रीदने का फ़ोबिया सवार रहता है जो उसके पास पहले से मौजूद है? औद्योगिक युग की रफ़्तार और मीडिया के विकास के कारण मोबाइल जैसे साधन सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए भले ही महत्त्वपूर्ण हो गये हों किन्तु बड़ा सवाल तो यह है कि इन इलेक्ट्रॉनिक साधनों के स्वामित्व का पैटर्न आज कैसा है? जब किसी घर में दर्जनों मोबाइल मौजूद हों और किसी घर को एक भी नसीब न हो, जब जनसंचार की अवधारणा को स्वस्थ या सन्तुलित कैसे माना जा सकता है? स्वामित्व का ऐसा पैटर्न किस चीज़ पर ज़्यादा ज़ोर देगा? विश्व संस्कृति निर्माण पर या स्थानीय लोकसंस्कृति की रक्षा पर? क्या ऐसा पैटर्न सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहरों और विरासतों का वाहक होगा या फिर ग्लोबल मूल्यों का अन्ध-अनुगामी? आज राजनीतिक क्षेत्र में भी चुनाव प्रचार के दौरान मतदाताओं को एस.एम.एस. करके लुभाया जाने लगा है। सत्ता की होड़ में बने राजनीतिक समीकरण भी मोबाइल से अप्रभावित नहीं है। तो मोबाइल को क्या माना जाए— एकध्रुवीय विश्व में ग्लोबल विलेज का नेतृत्व करने वाला नायक या तीसरी दुनिया के ग़रीबों को सापेक्ष वंचना से भर देने वाला खलनायक? आज सामाजिक यथार्थ को जानने के लिए उपलब्ध तीनों पक्षों-संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति— में से कौन-सा पक्ष मोबाइल के 'छोटे मीडिया' या एस.एम.एस. की दुनिया से बाहर है? जब कलाकार की प्रतिभा का फ़ैसला मोबाइल के एस.एम.एस. करने लगें तो क्या यह कहना ग़लत होगा कि सांस्कृतिक विकास ढर्रे से उतर गया है; कि जन कलाकारों के बीच कला की नहीं व्यापारिक मध्यस्थों की भूमिका बढ़ गयी है? माना कि मोबाइल के पास बहुत सारी शक्तियाँ हैं, उसके पास अनेक वरदान हैं लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि कहीं यह भस्मासुर की तरह, वरदान देने वाले को ही अपना निशाना न बना ले!

1209, तृतीय तल
डॉ. मुखर्जी नगर
दिल्ली - 110 009
फोन : 9990665881

# हिन्दी सिनेमा का कंठ है पंजाब

## शशांक दुबे



मैटिनी शो

**पर्दे पर सेंसर प्रमाण-पत्र** के मूक दर्शन करने के तुरन्त बाद अकसर हमें तीन सेकेंड की एक स्थिर फ्रेम दिखलाई पड़ती है, जिसे यूँ तो एक सौ बीस शब्द प्रति मिनट की गति से स्टेनोग्राफी करने वाला आशुलिपिक भी पूरा-पूरा नहीं पढ़ सकता, लेकिन फिर भी जो कुछ दिखलाई पड़ता है, उसका लुब्बो-लुबाब यही होता है कि इस फ़िल्म के फ़िल्मांकन में हिमाचल या जम्मू कश्मीर की सरकार के किसी विभाग ने या वहाँ के होटलवाले ने या सेब के बगीचे के किसी मालिक ने जो सहयोग दिया है, निर्माता उसके लिए आभारी हैं, पहाड़वालों को इस बात के लिए फ़िल्मकारों का आभारी होना चाहिए कि कम से कम उन्होंने खुल्लम-खुल्ला (भले ही ताबड़तोड़) आभार तो माना, वरना हिन्दी सिनेमा का गोवरधन थामने वाले पंजाब का आभार कब कोई कैसे मान सका है? कारण इसका यही है कि पंजाब के बिना हिन्दी फ़िल्म उद्योग की कल्पना करना ही मुश्किल है और जो चीज़ हमेशा हमारे अवचेतन में हो, उसके प्रति आभार नहीं माना जाता, समर्पण किया जाता है। राजकपूर, दिलीप कुमार और देव आनन्द से लगाकर धर्मेन्द्र, राजेश खन्ना, यहाँ तक कि किरण कुमार और तुषार कपूर तक सभी छोटे-बड़े सितारे पंजाब की ही देन हैं। एक ज़माना तो ऐसा भी था, जब लोग फ़िल्मी पंडितों से यह पूछते थे कि हिन्दी फ़िल्मों में पंजाब की माटी से कौन-कौन से कलाकार आये हैं, तो उनका जवाब होता था— संजीव कुमार, शत्रुघ्न सिन्हा और अमिताभ बच्चन को छोड़कर पूरी इंडस्ट्री। इसी प्रकार दनसुख लाल पंचोली से लेकर बी.आर. चोपड़ा, विजय आनन्द, राज खोसला, यश चोपड़ा, मोहन सहगल, रवि टंडन, गुलज़ार, सुरिन्दर कपूर, हरमेश मल्होत्रा सहित कई फ़िल्मकार पंजाब की ही देन हैं। लेकिन पंजाब का भारतीय सिनेमा में सबसे बड़ा योगदान उसकी लोक धुनें हैं, जिनके आधार पर बने गीत बरसों से लोगों को लुभाते रहे हैं। यदि अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के जरिये रुपहले परदे को आकर्षक बनानेवाले हिमाचल और कश्मीर भारतीय सिनेमा की आँखें हैं, तो पंजाब इसका कंठ है, हिन्दी सिनेमा में पंजाब के योगदान को जानना जितना दिलचस्प है, उससे कहीं ज़्यादा मज़ेदार है इसमें जगह-जगह बिखरे पंजाबी रंग को तलाशना। शायद ही कोई ऐसी फ़िल्म हो, जिसके गीतों या संवादों या पात्रों में से कम-से-कम किसी एक से पंजाबी चूल्हे की सौंधी महक न उठी हो। कुछ फ़िल्में पंजाब के लोक साहित्य पर बनी हैं, कुछ में वहाँ की समस्याओं को उठाया गया है, कुछ में पंजाबी संस्कृति के रंग हैं, तो कुछ में वहाँ के पात्र। शेष में कुछ नहीं, तो गीत तो हैं ही। इसलिए कह सकते हैं-जहाँ जाइयेगा, हमें पाइयेगा।

जहाँ तक पंजाबी साहित्यिक कृतियों या पंजाब के परिवेश पर हिन्दी में लिखी गयी कृतियों पर फ़िल्म बनाने का सवाल है, तो इसके उदाहरण अँगुली की पोरों पर गिनाए जा सकते हैं। राजेन्द्र सिंह बेदी की मशहूर कृति 'एक चादर मैली-सी' पर पर सुखविन्दर ढड्ढा ने इसी नाम से फ़िल्म बनायी थी। जिसमें पहले पति द्वारा उत्पीड़ित और फिर समाज द्वारा प्रताड़ित रन्नो (हेमा मालिनी) की दास्तान है। कुछ लोग रन्नो के पति त्रिलोक (कुलभूषण खरबन्दा) को हत्यारा समझकर उसका क़त्ल कर देते हैं। हालाँकि दोनों क़त्लों के अपराधी तो पकड़ लिये जाते हैं, लेकिन रन्नो और उसके परिवार पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ता है। खाने के लाले और सामाजिक असुरक्षा। तंग आकर उसे अपने उस देवर (ऋषि कपूर) को दूसरे पति के रूप में स्वीकार करना पड़ता है जिससे कभी उसने पुत्रवत् प्रेम किया था। कुछ अरसा पहले चन्द्र प्रकाश द्विवेदी ने अमृता प्रीतम के उपन्यास पर एक बहुत ही संवेदनशील फ़िल्म 'पिंजर' बनायी थी, जिसमें विभाजन की त्रासदी झेलती पूरो उर्फ हमीदा (उर्मिला मातोंडकर) का करूण क्रन्दन है। विभाजन की ही त्रासदी पर गोविंद निहलानी ने भी एक महत्त्वपूर्ण फ़िल्म 'तमस' बनायी थी। मूलत: दूरदर्शन के लिए धारावाहिक के रूप में बनायी गयी और कालान्तर में सम्पादित कर फ़िल्म के रूप में तैयार की गयी 'तमस' भीष्म साहनी के इसी नाम के उपन्यास पर आधारित थी। फ़िल्म में इस बात को बड़ी बारीकी से बताया गया था कि साम्प्रदायिक रूप से संवेदनशील समाज में किस तरह माचिस की एक छोटी-सी तीली आग के कारख़ाने के रूप में तब्दील हो जाती है। मोहन राकेश की कहानी पर आधारित 'उसकी रोटी' दूर दराज के गाँव से पैदल-पैदल हायवे पर पहुँचकर पति को रोटी पहुँचाने वाली स्त्री की दास्तान है। पति इतना दुष्ट है कि पत्नी को ज़रा सी भी देर हो जाए तो उसकी ख़ैर नहीं और वह जब मर्जी चाहे, पहुँचे, पत्नी बेचारी इन्तज़ार करती रहे। सिनेमाई फॉर्मेट के नज़रिये से आम दर्शकों ने यह माना कि 'उसकी रोटी' इतनी धीमी और सुस्त थी कि यदि फ़िल्म देखते-देखते बोर होकर कोई दर्शक घर चला जाये और वहाँ रोटी बनाकर और खाकर फिर से सिनेमा हॉल में बैठ जाए, तो भी तत्काल ही कहानी पकड़ लेगा, कुछ छूटेगा नहीं। दर्शकों के इस ताने को सिरे से खारिज करते हुए नेशनल स्कूल ऑफ डिज़ाइन, अहमदाबाद में आयोजित एक कार्यक्रम में फ़िल्म के निर्देशक मणि कौल ने दर्शकों से सवाल किया था, ''वह औरत सारी उम्र हायवे पर इन्तज़ार करती रही। उसने सारी ज़िन्दगी

बोरियत में जी, आप क्या दो घंटे भी उसकी बोरियत के साझेदार नहीं हो सकते?''

पिछले तीन दशकों के दौरान पंजाब को दो बहुत बड़ी समस्याओं से दो चार होना पड़ा। एक समस्या को बहुत एक्सपोज़र मिला, दूसरी पहली की छाँव में छुप गयी। आतंकवाद की समस्या पर सारी दुनिया का ध्यान गया, हमारे यहाँ उस समस्या पर गुलज़ार साहब ने बहुत संवेदनशील फ़िल्म 'माचिस' बनायी। पुलिस निरंकुश होकर किस तरह से अच्छे भले आदमी को आतंकवादी बना देती है, इस तकलीफ़दायक कटु सत्य को फ़िल्म पूरी संजीदगी के साथ छूती है। यह फ़िल्म का दुर्भाग्य था कि वह सिनेमा थियेटरों के टूटने के बाद और मल्टीप्लेकस बनने के बीच के दौर में बनी थी। यदि यही फ़िल्म अब बनती, तो सुधी दर्शकों के साथ-साथ बॉक्स ऑफिस पर भी अच्छी सफलता हासिल करती। पंजाब की ही दूसरी समस्या रही नकली पासपोर्ट और जाली दस्तावेज़ बनाकर लोगों को काम के बहाने विदेश ले जाकर उन्हें अधर में छोड़ देना। न घर के और न घाट के रह गये ऐसे अप्रवासी भारतीयों पर देव आनन्द ने बहुत रोचक फ़िल्म 'देस परदेस' बनायी थी, जिसमें अपने भाई के कातिल का पता लगाने के लिये नायक को बिना कागज़ातों के लंदन जाना पड़ता है और वहाँ अपनी ही तरह के कुछ और नौजवानों के संग तंगहाली में रहना पड़ता है। नायक के रूप में देव आनन्द की इस आख़िरी हिट फ़िल्म में राजेश रोशन का संगीत (तू पी और जी/नज़राना भेजा किसी ने प्यार का/अरे नज़र लगे ना साथियो) भी बहुत सफल हुआ था। बाद में यह समस्या पूरे देश की बन गयी और ऐसी फ़िल्मों की बाढ़ आ गयी। 'आ अब लौट चलें' और 'सुनो ससुरजी' इसी श्रेणी की कुछ अन्य फ़िल्में हैं।

'हीर राँझा' और 'सोहिनी महिवाल' पंजाब की लोकप्रिय प्रेम कथाएँ हैं। समय-समय पर फ़िल्मकारों ने इन पर भी फ़िल्में बनायीं। पहली 'सोहनी महिवाल' राजा नवाथे ने 1958 में बनायी थी। शीर्षक भूमिका में थे निम्मी और भारतभूषण। इस फ़िल्म के जरिये नौशाद ने महेन्द्र कपूर को फ़िल्म जगत से परिचित करवाया। गीत था— 'चाँद छुपा और तारे डूबे, रात ग़ज़ब की छायी, हुस्न चला है इश्क से मिलने, ज़ुल्म की बदली छायी, हो रात ग़ज़ब की आयी।' आज यह फ़िल्म इसी गीत के लिए याद की जाती है। अगली 'सोहिनी महिवाल' 1984 में आयी, जिसमें पूनम ढिल्लों के साथ सनी देवल थे। इसमें हालाँकि अनू मलिक का संगीत ठीक-ठाक था। लेकिन अनवर और अनुपमा देशपांडे जैसे साधारण पार्श्व गायक ''सोनी मेरी सोनी''और अन्य गीतों में कोई ख़ास आकर्षण पैदा न कर सके। 'हीर राँझा' में चेतन आनन्द ने एक अनूठा फार्मेट चुना था— सारे पात्रों से काव्यमयी शैली में संवाद बुलवाना। दर्शकों को यह बात कतई गँवारा नहीं हुई कि अपने संवादों को चबा-चबाकर बोलनेवाला खलनायक प्राण कविताई शैली में बात करे। तिस पर बुढ़ाते राज कुमार और *संगे शकल-चेतन प्रिया* प्रिया राजवंश को देखना और अन्त



में ख़त्म होने का नाम ही न लेने वाला गीत ''ये दुनिया ये मेहफिल मेरे काम की नहीं'' सुनना। दर्शकों ने हाथ जोड़ लिये। इसी कहानी पर कुछ साल पहले हरमेश मल्होत्रा ने भी अनिल कपूर और श्रीदेवी को लेकर फ़िल्म बनायी थी। जब पहली 'हीर राँझा' का यह आलम था, तो दूसरी को कौन पूछता? फ़िल्म कब आयी, कब गयी, पता ही न चला।

'शहीद' भी पंजाब की पृष्ठभूमि का ऐसा विषय है, जिस पर समय-समय पर फ़िल्में बनती रही हैं। दिलीप कुमार की आरम्भिक फ़िल्मों में से एक 'शहीद' भी थी। इसे कोई ख़ास कामयाबी नहीं मिली। लेकिन मनोज कुमार की 'शहीद' बहुत पसन्द की गयी। यह मनोज कुमार के प्रोडक्शन की शुरुआती फ़िल्म थी और तब तक उन्होंने देशभक्ति का निकोटिन नहीं चखा था। फ़िल्म में पंजाब के ही प्रेम धवन का संगीत था। जिसे (ऐ वतन ऐ वतन हमको तेरी कसम/मेरा रंग दे बसन्ती चोला/ जोगी हम तो लुट गये तेरे प्यार में) भरपूर सराहना मिली। बाद में कई वर्षों तक इस विषय पर किसी ने फ़िल्म नहीं बनायी। कुछ साल पहले अचानक दो-दो शहीद एक साथ आयीं। एक के नायक थे बॉबी देवल और दूसरी के अजय देवगन। दोनों फ़िल्में एक साथ शुरू हुईं, एक साथ बनीं, एक साथ प्रदर्शित हुईं और एक साथ नकारे जाने के बाद एक हफ़्ते में ही एक साथ उतर गयीं। कहा जाता है कि अजय देवगन वाली शहीद अच्छी थी, मगर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। विभाजन की पृष्ठभूमि पर 'गदर-एक प्रेम कथा' एक लोक लुभावन मसाला फ़िल्म थी, जिसे अच्छी पटकथा, उत्तम सिंह के उत्तम संगीत (कि मैं निकला गड्डी लेके/ उड़ जा काले कावाँ तेरे मुँह विच खंड पावाँ) और झन्नाटेदार संवादों के कारण बॉक्स ऑफिस पर शोले से भी अधिक कामयाबी मिली। हालाँकि दिल्ली के आमतौर पर सिनेमा में रुचि न रखने वाले गैर-फ़िल्मी पत्रकारों ने अपने-अपने अख़बारों और पत्रिकाओं में इसे जी भर कर कोसा, लेकिन दर्शक टस से मस न हुए और कई थियेटर कर्मचारियों को कहना पड़ा कि बरसों बाद ऐसी कोई फ़िल्म आयी, जिसकी सफलता ने उन्हें पचास से सत्तर के दशक के उस दौर की याद ताज़ा करा दी, जब हिट फ़िल्म में टिकट न मिलने पर लोग एक्स्ट्रा कुर्सी लगाकर फ़िल्म देखा करते थे। 'गदर' की सफलता से प्रेरित होकर विभाजन की त्रासदी पर यश चोपड़ा ने भी एक रोमांटिक फ़िल्म 'वीर-ज़ारा' बनायी, जिसमें विभाजन से विभाजित वीर और ज़ारा बाईस साल बाद मिल पाते हैं। इस फ़िल्म की एक और विशेषता थी— महान संगीतकार मदनमोहन की स्टॉक धुनों का उनके निधन के तीस साल बाद प्रयोग। 'वीर-ज़ारा' को 'गदर' जितनी तो नहीं, लेकिन फिर भी भरपूर सफलता मिली। फ़िल्म का संगीत भी सराहा गया, हालाँकि उसमें मदन मोहन के संगीत का आत्मिक सौंदर्य नदारद था। कारण साफ है,संगीतकार का काम गीत की धुन बनाते ही पूरा नहीं हो जाता। धुन तो उसकी कल्पना है,जो उसके ऑर्केस्ट्रा की अरेंजिंग के बाद ही मूर्त रूप ले पाती

है।

पंजाब की पृष्ठभूमि पर ही बनी फ़िल्मों में निर्माता राजेन्द्र भाटिया की वेद राही द्वारा लिखित 'पवित्र पापी' एक ऐसी फ़िल्म है, जिसमें पंजाब के गाँव की तंग गलियाँ तो थी हीं, वहाँ की बोली-बानी भी थी। यह एक बूढ़े घड़ीसाज़ बलराज साहनी की कहानी थी, जिसमें संकट में घिरे परिवार को बचाने के लिए उन्हीं का मुलाज़िम परीक्षित साहनी एक पवित्र पाप करता है। पाप यह कि जिस युवती (तनूजा) से वह प्यार करता है, उसे आर्थिक झंझावात से बचाने के लिए उसी की शादी कहीं अन्यत्र कर देता है। फ़िल्म में प्रेम धवन का संगीत था और 'तेरी दुनिया से होके मजबूर चला' जैसे गम्भीर गीत के साथ-साथ पंजाबी लोकधुन पर 'शड़ा शड़क करे दिल धक-धक' गीत बहुत पसन्द किये गये थे। कुछ साल पहले रवीन्द्र पीपट ने भी पंजाब की पृष्ठभूमि पर राज बब्बर-स्मिता पाटिल अभिनीत एक संगीतमय फ़िल्म 'वारिस' बनायी थी, जिसमें समृद्ध परिवारों के ज़मीन-जायज़ाद के झगड़ों और अहम् के टकरावों को कस्बाई स्पर्श दिया था। फ़िल्म का सबसे सशक्त पक्ष उत्तम-जगदीश का संगीत था, खासतौर पर "मेरे प्यार की उमर हो इतनी सनम तेरे नाम से शुरू तेरे नाम पे ख़तम'। हाल ही में शाहिद कपूर और करीना कपूर को लेकर भी पंजाबी परिवेश पर एक ठंडी-मीठी फ़िल्म 'जब वी मेट' बनी थी। इसमें पंजाब के गाँव, वहाँ के खेत, वहाँ के शहरी लोगों के जीवन के साथ-साथ दादाजी के रूप में दारा सिंह का दिलचस्प किरदार है, जिनका तकियाकलाम है, "मेरी उमर में एक नज़र में ही देखकर पता चल जाता है कि लड़के-लड़की के बीच क्या चल रहा है?"

कुछ फ़िल्में ऐसी भी हैं, जिनमें पृष्ठभूमि तो पंजाब की थी, लेकिन फ़िल्मांकन की शैली ठेठ बम्बइया। नरेन्द्र बेदी (राजेन्द्रसिंह बेदी के पुत्र) की 'खोटे सिक्के' को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। सेवन समुराई से प्रेरित इस फ़िल्म में फितरत से लोफर तो किस्मत से कैदी किस्म के कुछ युवा पुलिस से पनाह लेने के लिए पंजाब के एक गाँव में पहुँच जाते हैं और फिर वहाँ के बाशिन्दों की डाकुओं से रक्षा करते हैं। 'जीवन में तू डरना नहीं' गीत, काऊ ब्वॉय के थीम संगीत और बॉक्स ऑफिस के लटके झटकों से लैस यह फ़िल्म बहुत सफल रही थी। कमोबेश यही अन्दाज़ 'प्रतिज्ञा' का था। पेशे से ड्राइवर एक अनपढ़ सरदार (धर्मेन्द्र) डाकुओं का मुकाबला करने के लिए दाढ़ी मूँछें कटाकर पुलिस की वर्दी पहन लेता है। उसकी मासूमियत का आलम यह है कि देसी शराब के ठेके को ही पुलिस चौकी में बदलते हुए तख़्ती लगवाता है- देसी पुलिस थाना। जब हेड क्वार्टर से आये एक अँग्रेज़ी तार को वह पढ़ नहीं पाता तो नायिका (हेमा मालिनी) से कहता है, क्यों बड़ी डींग हाँकती हो, इसे पढ़ सकती हो? नायिका मजमून पढ़कर उसका हिन्दी तरजुमा समझाती है और उसी सन्देश के आधार पर नायक डाकुओं से मुकाबला करते हुए सरकार को इतना प्रभावित करता है कि उसे असल पुलिस इंस्पेक्टर बना दिया जाता है।



पंजाब की पृष्ठभूमि पर बनी फ़िल्मों का ज़िक्र करते हुए जोगिन्दर की फ़िल्मों का ज़िक्र न करना 'मीठा-मीठा गप और कड़वा-कड़वा थू' वाली कहावत को चरितार्थ करना होगा। सत्तर के दशक के मझोले वक़्फ़े में जोगिन्दर सी ग्रेड फ़िल्मों के शहंशाह के रूप में उभरे थे। उन्होंने 'रंगा खुश', 'दो चट्टानें', 'यारी ज़िन्दाबाद' और 'बिन्दिया और बन्दूक' जैसी चालू फ़िल्मों का निर्माण-निर्देशन किया था और इन चारों फ़िल्मों में रंगा नामक पात्र के रूप में आये थे। रमेश सिप्पी और जावेद साहब चाहे मानें या न मानें, लेकिन रंगा नामक उटपटांग चरित्र ही आगे चलकर गब्बर सिंह का आधार बना था। जोगिन्दर की फ़िल्में पंजाब के साथ-साथ हिन्दी बेल्ट में भी सराही जाती थीं। उनकी फ़िल्मों का दर्शक वर्ग था किशोर उम्र के बच्चे और कम पढ़े-लिखे वयस्क। हिन्दू-मुस्लिम एकता, अमीर-गरीब संघर्ष समेत तमाम फॉर्मूलों के अलावा बोनस के रूप में जोगिन्दर ख़ुद उपस्थित रहते थे, जो अपनी तरफ से फूहड़ता में कोई कसर नहीं रखते थे। 'फौजी' में छुट्टी पर आया फौजी पूरी फ़िल्म में एक ही धुन "धिकी नाकी ताकि धिन" गुनगुनाता रहता है, यहाँ तक कि बोर्नविटा के पुराने डिब्बे में पानी भरकर जंगल जाते हुए भी। कहना न होगा कि वे पंजाब के दादा कोंडके रहे हैं। फ़र्क है तो बस इतना कि उनमें फूहड़ता तो थी, लेकिन दादा कोंडके जैसी द्विअर्थी अश्लीलता नहीं। उनकी फ़िल्में बहन-बेटियों के साथ भी देखी जा सकती थीं, शायद इसीलिए उनकी 'फौजी' फ़िल्म में युद्ध के लिए सीमा पर जाते फौजियों का महिलाएँ तिलक लगाकर सम्मान करते हुए गाती हैं— 'फौजी रब दा है दूजा नाम वो लागे मुझे वीर जैसा।'

हिन्दी फ़िल्मों के साथ एक बड़ी त्रासदी यह रही है कि यहाँ क्षेत्रीय भाषा के चरित्रों का इस्तेमाल सामान्य रूप में न करते हुए कभी अनावश्यक हास्य पैदा करने के लिए तो कभी नाटकीयता पैदा करने के लिए किया जाता है। सिख समुदाय भी इससे अछूता नहीं रहा है। 'शंकर शम्भू' में डकैत फिरोज़ खान ओर विनोद खन्ना एक जलसे में सरदार बनकर शामिल हो जाते हैं और "आ पहुँची है इस महफिल में साड्डी अज्ज सवारी" गाते हुए तमाम जेवरात लूट ले जाते हैं, तो 'जीवन मृत्यु' में धर्मेन्द्र खुद पर लगे झूठ आरोपों का करारा जवाब देने के लिए जेल से भागकर सरदार का वेश धारण कर लेते हैं और सारे अपराधियों को जेल की सलाखों के भीतर पहुँचाकर ही दम लेते हैं। 'द बर्निंग ट्रेन' में आग से धधकती ट्रेन से मुसाफ़िरों को निकालने के लिए राहत दल के चीफ़ विनोद खन्ना रेडियो

के मार्फ़त अपील करते हैं कि कोई भी मुसाफिर लाल कपड़ा फेंके ताकि यह पता लग सके कि उनकी सूचना सुन ली गयी है। संयोग से किसी मुसाफ़िर के पास लाल कपड़ा नहीं होता। तभी एक सिख पात्र अपनी लाल पगड़ी पेश करता है। (हालाँकि एक अन्य पात्र को कुछ और भी ज़्यादा नाटकीय स्वरूप देने के लिए फ़िल्मकार उससे यह पगड़ी नहीं उतरवाता है)। 2006 की सबसे सफल फ़िल्म 'लगे रहो मुन्नाभाई' में भी लकी सिंह (बोमन ईरानी) नामक एक रोचक चरित्र है। पेशे से बिल्डर लकी को हर काम अपने अन्दाज़ में करने का शगल है। वह हर बड़ी डील छत पर लगे गुब्बारों को पिस्तौल से फोड़कर सेलिब्रेट करता है और हर बड़ी सेलिब्रिटी के साथ फोटो खिंचवाने के बाद उसे एनलार्ज कर ड्राइंग रूप में लगवाता है।

कभी-कभी रचनात्मकता में ज़्यादती जन प्रतिरोध का सबब बन जाती है। वैसा ही, मासूमियत से भरपूर, राजेन्द्रनाथ के साथ हुआ। जिन्होंने हास्य के कुछ पल जुटाने के लिए दो फ़िल्मों में पगड़ी पहनी, एक थी 'एन इवनिंग इन पेरिस' और दूसरी 'डबल क्रॉस', अँग्रेज़ी नामवाली इन दोनों हिन्दी फ़िल्मों में उन्होंने यह रूप दर्शकों को हँसाने के लिए धरा था, लेकिन सिख समुदाय के विरोध के चलते उनकी ऐसी फजीहत हुई कि फ़िल्म का प्रदर्शन स्थगित कर उसमें से आपत्तिजनक संवादों की ट्रिमिंग करनी पड़ी, तब जाकर पेटियों को थियेटर तक पहुँचाया जा सका। इन बम्बइया फ़िल्मकारों को तो एक बारगी माफ़ किया जा सकता है। लेकिन चेतन आनन्द के बारे में क्या कहिएगा, जिन्होंने 'हिन्दुस्तान की कसम' में एक सिख पात्र को ऑब्जेक्ट बनाते हुए फूहड़ता की हूदें पार कर दी थीं, ऐन हाजत के वक़्त फ्रंट पर बम फट पड़ता है और पापाजी की पैंट के चिथड़े उड़ जाते हैं। मनोज कुमार ने 'रोटी कपड़ा और मकान' में प्रेमनाथ को हरनाम सिंह की भूमिका सौंपी थी। भारत कुमार ने फ़िल्म के पूर्वार्ध में उनसे ''पहले मुट्ठी विच पैसे लेकर थैला भर शकर लाते थे, अब थैले में पैसे जाते हैं, मुट्ठी में शकर आती है'' जैसा गम्भीर गीत गवाया। फिर इंटरवेल के बाद उनके हाथ में तलवार थमाकर मौसमी चटर्जी के तीन बलात्कारियों का ख़ून करवा दिया। मनमोहन देसाई ने 'देश प्रेमी' में शम्मी कपूर में शमशेर सिंह और यश चोपड़ा ने परीक्षित साहनी से 'काला पत्थर' में जग्गा नामक सिख पात्रों की भूमिकाएँ करवाई थीं, जिन्हें महज खानापूर्ति माना जा सकता है।

और अब बात भारतीय सिनेमा की पहचान उसके गीत-संगीत पक्ष की। ओ.पी.नैयर के आने से पहले फ़िल्म संगीत पर सबसे ज़्यादा प्रभाव खेमचन्द प्रकाश, पंकज रॉय और सचिन देव बर्मन के बंगाली संगीत और नौशाद साहब के उत्तर प्रदेश के शास्त्रीय संगीत का था। नैयर के आते ही परिदृश्य बदला और संगीत में पंजाब की मस्ती शुमार हो गयी। सर पर टोपी लाल हाथ में रेशम का रूमाल (तुम सा नहीं देखा), उड़े जब जब जुल्फ़ें तेरी (नया दौर), हाय रे हाय ये तेरे हाथ में मेरा हाथ तो फिर क्या बात मेरी जाँ वल्ले-ह-वल्ले/सुभान अल्लाह हाए हसीं चेहरा हाए (दोनों कश्मीर की कली), न जाने क्यूँ हमारे दिल को तुमने दिल नहीं समझा (मुहब्बत ज़िन्दगी है) और अली किबला मोहतरमा इस आपके अन्दाज़ का हाए क्या कहना (फिर वही दिल लाया हूँ) सरीखे गीतों की इक-इक ताल में पंजाब की मस्ती छुपी हुई थी। नैयर ने चैन से हमको कभी (प्राण जाए पर वचन न जाए) जैसे शान्त और तू औरों की क्यूँ हो गयी (एक बार मुस्कुरा दो) जैसे पश्चिमी रंग में रंगे गीत भी दिये और सच तो यह है कि उन्होंने जो भी गीत बनाये, उनके बारे में एक शब्द 'कमाल' के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन यहाँ उन गीतों की चर्चा करना विषय से विक्षेप होगा। नैयर की ही तरह पंजाबी पृष्ठभूमि के प्रतिभाशाली संगीतकार रवि थे। उन्होंने महेन्द्र कपूर की रैंज का भरपूर फ़ायदा उठाते हुए न मुँह छुपा के जियो और न सर झुक के जियो (हमराज़) और दिल करता ओ यारा दिलदारा मेरा दिल करता (आदमी और इन्सान) जैसे लाउड स्पीकर प्रिय गीत दिये तो मन्नाडे की नज़ाकत का दोहन करते हुए ऐ मेरा जोहराज़बी (वक़्त) जैसा ओवर पॉपुलर गीत भी गवाया। लेकिन उनके तमाम पंजाबी-गैरपंजाबी पृष्ठभूमि वाले गीतों के बीच एक गीत ऐसा भी था, जिसमें पंजाब का रंग तो था, लेकिन एक अलग ही तेवर के साथ। 'वक़्त' फ़िल्म का वह गीत था— दिन हैं बहार के तेरे मेरे इकरार के दिल के सहारे आजा प्यार करें। जब ओ.पी.नैयर के सहायक जी.एस.कोहली को स्वतन्त्र रूप से संगीत निर्देशन का मौका मिला तो उन्होंने भी 'शिकारी' में 'तुमको पिया दिल दिया कितने नाज़ से' गीत में अपने उस्ताद का ही अनुकरण किया।

अन्य संगीतकारों ने भी समय-समय पर अपने गीतों में पंजाबी स्पर्श दिया। इस प्रकार के कामों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है, लेकिन मिसाल के तौर पर कुछ नाम लिये जा सकते है - सलिल चौधरी (*कि मैं झूठ बोलिया कोई ना भई कोई ना* : जागते रहो), सचिन देव बर्मन (*दूँगी तेनू रेशमी रूमाल ओ बाँके ज़रा वेली आना* : प्रेम पुजारी), शंकर जयकिशन (*तुम संग प्रीत लगाई रसिया मैंने प्यार में जान गँवाई रसिया* : नयी दिल्ली), मदन मोहन (*मिलो न तुम तो हम घबराएँ* : हीर राँझा और *कभी तेरा दामन ना छोड़ेंगे हम* : नींद हमारी ख़्वाब तुम्हारे) खय्याम (*दिल आने की बात है सब को लग जाए यारा* : कभी कभी), कल्याणजी आनन्दजी (*तू रात खड़ी थी छत पे कि मैं समझा के चाँद निकला* : हिमालय की गोद में), सोनिक ओमी (*कान में झुमका चाल में ठुमका कमर पे चोटी लटके हो गया दिल का पुर्जा-पुर्जा लगे पचासी झटके* : सावन भादो), उषा खन्ना (*गड्डी जाँदी ए छलाँगा मार दी* : दादा), राजेश रोशन (*भँगड़ा पाले आजा आजा* : करण अर्जुन और *परदेसिया ये सच है पिया* : मिस्टर नटवरलाल), रवीन्द्र जैन (*लड़की साइकल वाली* : पति, पत्नी और वो) लक्ष्मीकांत प्यारेलाल ने 'दाग़' में एक विशुद्ध पंजाबी गीत *नी मैं यार मनाना नी चाहे लोग बोलियाँ बोले* बनाया था। साहिर लुधियानवी के लिखे इस गीत की खासियत यह थी कि यह रस्मी भांगड़ा न होकर फ़िल्म की उलझनभरी कहानी की गुत्थियाँ खोलता है। विवाहित राजेश खन्ना को अपनी पत्नी शर्मिला टैगोर को छोड़कर मजबूरी में राखी को अपनाना पड़ता है। सात साल के वियोग के बाद जब राजेश-शर्मिला मिलते हैं, तो इस भाँगड़े का अन्तरा कहता है, 'बिछड़े यार ने फेरा डाला प्रीत सुहागन हुई, आज मिली वो दौलत जिसका मौल न जाने कोई', अब जब बात लक्ष्मीकान्त प्यारेलाल की चली हो और आनन्द बक्षी का ज़िक्र न आए, यह वैसा ही होगा जैसे सोनियाजी

कोई मीटिंग लें और सोनीजी (अंबिका सोनी) न पधारें। आनन्द बक्षी ने अपने सरल-सहज गीतों के जरिये कई पंजाबी वाक्यों को अन्य भाषाभाषियों की जुबाँ तक पहुँचा दिया। *जा रे जा तूने रब दा वास्ता* (कच्चे धागे), *के ओ मैंनूँ प्यार करती है, सड्डे उत्ते वो मरती है* (प्रतिज्ञा), *की गल है कोई नहीं* (जानेमन), *मैं छम-छम नचदीं फिराँ* (लोफर)। यहाँ पंजाब से ही आये सरदार मलिक का ज़िक्र करना गैर-मौंजूँ न होगा। इस संगीतकार ने अपनी अधिकांश रचनाओं में पंजाबी फोक का इस्तेमाल नहीं किया, लेकिन उनके गाने *हाँ दीवाना हूँ मैं* (सारंगा), *मुझे तुमसे मुहब्बत है मगर मैं कह नहीं सकता* (बचपन) और *मैं ग़रीबों का दिल हूँ वतन की जुबाँ* (आबे हयात) सुपर हिट रहे। नब्बे के दशक के बाद फ़िल्म संगीत में इलेक्ट्रॉनिक वाद्यों की पकड़ गहराते ही पंजाबी संगीत का उपयोग तो जारी रहा, लेकिन ढोल की वो असल गूँज कहीं गायब हो गयी। फिर भी कुछ संगीतकारों ने उल्लेखनीय प्रयास किये। विशाल भारद्वाज ने 'माचिस' में *चप्पा चप्पा चरखा चले,* बापी-तुतूल-ध्रुव ने *ये दुनिया ऊटपटांगा कित्थे हथ ते कित्थे टाँगा* (खोसला का घोसला), प्रीतम ने *नगाड़ा नगाड़ा बजा* (जब वी मेट), शंकर-एहसान-लॉय ने 'झूम बराबर झूम' के टाइटल ट्रेक, सलीम-सुलेमान ने 'चक दे इंडिया' के शीर्षक गीत और ए.आर.रहमान ने 'रंग दे बसन्ती' में "मोहे मोहे तू रंग दे बसन्ती" गीतों में रंग जमा दिया। यह सब तो एक बनागी है। हिन्दी फ़िल्मों में पंजाब के योगदान का अवलोकन एक कभी न ख़त्म होने वाली खोज है और यदि "कबीर को समझने में दो जन्म भी कम पड़ते हैं" कहावत में हमारा विश्वास है, तो फिर इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी सिनेमा में पंजाब की भूमिका की पड़ताल के लिए दस साल भी कम पड़ेंगे।

**37/801, एन.आर.आई. कॉम्प्लेक्स,**
**सी-वूड्स एस्टेट, नेरुल,**
**नवी मुम्बई - 400 706**
**मोबाइल : 09833920630**


अर्पिता सिंह की कलाकृति

# पंजाब का कला परिदृश

## देसराज काली



कलादीर्घा

**'बचपन से जवानी और आज** तक बहुत गहराई से आकाश के रंगों को निहारती रही हूँ। सुबह के रंग पहले गन्दुमी होते थे, धीरे-धीरे थोड़ी-सी लालिमा फैलती, वह बड़ी प्लेसमैंट होती थी, उससे उठान मिलती थी। अब उस लालिमा को लगातार खोज रही हूँ। वह अब नहीं रही। अब लालिमा में तीखापन आ गया है। ऐसेडिक रंग हो गया इसका। यह या तो वातावरण में तब्दीली है या फिर मेरी अपनी मानसिक तब्दीली। इसी तरह शाम के रंग में स्ट्रैन्थ मिलती थी। अब शाम का रंग भी गुस्से भरा हो गया है। मुझे लगता है कि यह वातावरण में प्रदूषित हो जाने के कारण है।

पिछले दिनों बारिश हुई। अब बादल पहले की तरह सहजता से नहीं आते, बहुत गुस्से में आते हैं। बिजली साँप की तरह खतरनाक तरीके से चमकती है। ऐसे लगता है कि यह सब कुछ तबाह कर देगी। यह कोई न कोई कुदरत में तब्दीली है, जो अपना गुस्सा निकालकर बैलेन्स कर रही है। इन सबका मेरे मन पर भी गहरा असर पड़ रहा है।

इन दिनों मैंने कुछ पेंटिंग बनायी हैं, इनमें भी तीखापन आ गया है। इतना तीखापन कि मुझे उसे बैलेन्स करने के लिए वक़्त लगा। इन पेंटिंग्स में गुस्सेवाला भाव आ गया है। मैं महसूस करती हूँ कि कुदरत के डिस्टर्ब हो जाने से आदमी की मानसिकता भी डिस्टर्ब हो जाती है, जो सोसायटी में, राजनीति में या सभ्याचार में डिस्टर्ब है, वह भी उसी तरह परेशान करती है।'

पंजाब की जानी-मानी आर्टिस्ट डॉ. सुरजीत कौर की इन बातों से मेरे मन में पंजाब की पेंटिंग्स कला का इतिहास अपनी शक़्ल बनाने लगा। महाराजा रणजीत सिंह के समय में हुआ काम और ख़ासकर उनके दरबार की यूरोपियन कलाकारों द्वारा बनायी पेंटिंग्स पंजाबी कलाकार के मन पर भी अपना प्रभाव छोड़ती हैं। इसी समय में पंजाब की कला कांगड़ा शैली और मुगल शैली को भी ग्रहण करती है।

इसके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण समय है 19वीं शताब्दी का चौथा दशक, जिसमें लाहौर में 'लाहौर आर्ट कॉलेज' खुल जाता है। इसी कॉलेज के प्रभाव के कारण पंजाब की कला उस वक़्त मुगल शैली, यूरोपीय शैली और

पहाड़ी शैली का प्रभाव कबूल करती है। इस दौर के कलाकारों में हुसैन बख़्श, मल्लाह राम, हरि राम के नाम आजतक चर्चा में हैं। यही कॉलेज बाद में बहुत सारे ऐसे कलाकार पैदा करता है, जो अपने काम से पंजाब के जीवन को चित्रित करते हैं और जिनका काम मौलिक नज़र आता है। इन कलाकारों में बी.सी. सान्याल, धनराज भगत, सतीश गुजराल, केवल कृष्ण, रूप कृष्ण और एस.एल. पराशर हैं। इन सभी कलाकारों की ख़ूबसूरती मात्र शृंगार से बाहर निकलकर अपने अस्तित्व की अभिव्यक्ति था। कला के क्षेत्र में इसे विद्रोह की तरह देखा जाता है। इसी दौरान अमृता शेरगिल भारत आती हैं और अपनी यूरोपियन शैली में पंजाबी जीवन के रंग भरती हैं। बदलते समय में नया चिन्तन सामने आ रहा था। कला के क्षेत्र में बहुत सारी उपलब्धियाँ पंजाबी कलाकारों के सामने थीं। फोटोग्राफरी में क्रांति आ चुकी थी। तभी पंजाब के कलाकारों की शैली, रूप और विषय-वस्तु नया रूप ग्रहण करते हैं। यथार्थवाद, प्रयथार्थवाद, अभिव्यंजनना वाद, अमूर्तकला, कोलाज, ग्राफ़िकी और ड्राइंग में सूक्ष्म दृष्टि वाले कलाकार सोभा सिंह, अमर सिंह, जसवन्त सिंह, मेहर सिंह, कृपाल सिंह और दविन्दर सिंह इत्यादि पंजाब की कला को नया रूप देते हैं। इन्हीं कलाकारों में कृपाल सिंह और दविन्दर सिंह ने पंजाब के इतिहास को बहुत ही बारीक दृष्टि से अपनी कलाकृतियों में चित्रित किया है। परमजीत सिंह, रणवीर कालेका, सुखदेव सिंह, मलकीयत सिंह, जसवन्त सिंह हमारे ऐसे नौजवान कलाकार हैं जिन्होंने एबस्ट्रैक्ट शैली में पेंटिंग्स बनायी हैं। ख़ूबसूरती इन पेंटिंग्स में ये है कि इन सभी में पंजाबी आदमी की मानसिकता को रंगों द्वारा भी और ब्रश के स्ट्रोक द्वारा भी चित्रित किया गया है। यह चित्र आपको पंजाबियत के साथ जोड़े रखते हैं। देव, सोहन क़ादरी, जगमोहन चोपड़ा, हरदेव इत्यादि कलाकारों ने अमूर्तता को माध्यम बनाकर पेंटिंग्स की हैं। सतीश गुजराल, हरकिशन लाल, मनजीत बावा, प्रेम सिंह, सर्वजीत सिंह, अनूपम सूद, कृष्ण खन्ना इत्यादि ने पंजाबी ज़िन्दगी और पंजाबी लोक कहानियों पर आधारित बहुत ख़ूबसूरत काम किया है। इन कलाकारों में बहुत सारे नाम ऐसे हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जाने-माने हैं। आजकल दिल्ली में रह रहे पंजाबी कलाकार सिद्धार्थ का काम बहुत सराहा जा रहा है। फिर डॉ. सुरजीत कौर मेरे सवाल का जवाब देती हैं, 'पंजाबी आधुनिक कला को गहराई से जानने के लिए कुछेक कलाकारों की कला को जानना बहुत ज़रूरी है। परमजीत सिंह पंजाब के ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के कलाकार हैं। वह भू-दृश्य बनाते हैं, पर उनकी बात भू-दृश्य से आगे की होती है। परमजीत के शुरुआती चित्र परयथार्थवाद की पकड़ में थे। लेकिन अब वही चित्र तेज़-तेज़ ब्रश की बारीक लाइनों के रंग आसमान पर बिखर जाते हैं। घास, वृक्ष बन जाते हैं। धरती, आकाश, घास, वृक्ष और पानी मिलकर भू-दृश्य बन जाते हैं। इसी तरह अनुपम सूद पंजाब की शायद सबसे ज़्यादा ज़हीन कलाकार हैं। वह चित्रकला, प्रिंट मेकिंग, ड्राइंग और मूर्तिकला को एक साथ निभाती हैं। उसकी महारत मानवीय आकारों की है, और वह इन आकारों को सामाजिक और राजनीतिक षड्यन्त्र को बेपर्द करने के लिए इस्तेमाल करती हैं। ध्यान से देखें, तो सतीश गुजराल दीवार चित्र, चित्रकारी और भवन निर्माण की दुनिया के सितारे हैं। वह अपने चित्रों में दुख का अहसास पैदा करते हैं। बड़े-बड़े आकार, मोटी-मोटी लाइनें, रंग और खुरदरी सतह उनकी कला-शैली के दस्तख़त में शामिल हैं।'

पंजाब में कला के इतिहास पर नज़र डालें तो ढोलबाहा (मुकेरियाँ) में हुई खुदाई के दौरान मिली सातवीं शताब्दी की मूर्तियाँ इनकी अमीर विरासत की निशानदेही करती हैं। महाराजा रणजीत सिंह के साम्राज्य में काफ़ी काम होता है। आधुनिक समय में कलाकार नये चिन्तन और नये रूप के साथ सामने आते हैं। फिर पंजाब में आतंकवाद का दौर पंजाब को बहुत बुरी तरह से प्रभावित करता है। इस दौर में पंजाब की ज़िन्दगी 'ठहर' जाती है। आजतक उस दौर का असर हम देख सकते हैं। आजकल पेंटिंग्स में काफ़ी काम हो रहा है। लेकिन पंजाब के लोगों का रुझान इस तरफ़ नज़र नहीं आ रहा। इसके बहुत सारे कारण हैं। फिर भी कलाकार अपनी कला से जुड़े हुए हैं। यह उम्मीद भरी बात है।

चीफ सब एडीटर
दैनिक भास्कर, जालन्धर

## पुस्तकें मिलीं

**कब लौटेगा नदी के उस पार गया आदमी** (कविता संग्रह): भोलानाथ कुशवाहा, प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन (गाजियाबाद), मूल्य : 225 रु.

**भेम का भेरू माँगता कुल्हाड़ी ईमान** (कहानी संग्रह): सत्यनारायण पटेल, प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन (गाजियाबाद), मूल्य : 90 रु.

**नाच के बाहर** (कहानी संग्रह): गौरीनाथ, प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन (गाजियाबाद), मूल्य : 100 रु.

**रेल की बात** (कहानी संग्रह): हरिमोहन झा, प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन (गाजियाबाद), मूल्य : 70 रु.

**मोनालिसा हँस रही थी** (उपन्यास): अशोक भौमिक, प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन (गाजियाबाद), मूल्य : 80 रु.

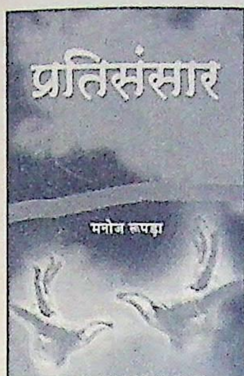
**यात्राशेष** (उपन्यास): अनिता सभरवाल, प्रकाशक : मेधा बुक्स (दिल्ली), मूल्य : 250 रु.

**रेशमी ज़ंजीर** (ग़ज़ल): रमेश कुमार शर्मा 'साइल', प्रकाशक : मेधा बुक्स (दिल्ली), मूल्य : 125 रु.

**नक्सली महिला** (उपन्यास): निरंजन, प्रकाशक : श्लोक प्रकाशन (दरभंगा), मूल्य : 100 रु.

**अब है सुर्ख कनेर** (नवगीत): निर्मल शुक्ल, प्रकाशक : उत्तरायण प्रकाशन (लखनऊ), मूल्य : 150 रु.

# भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
## नये साल में नये सेट की पुस्तकें




**प्रतिसंसार** (उपन्यास) : **मनोज रूपड़ा**

संसार के बरक्स संसार की टकराहटों को, मनोज रूपड़ा उपन्यास में अर्धविक्षिप्त नायक आनन्द के माध्यम से जिस सिनेमेटिक अन्दाज़ में व्याख्यायित करते हैं वह संक्रमणकाल में जूझती हुई मनुष्यता का 'क्रिटीक' बनने से नहीं बच पाता।

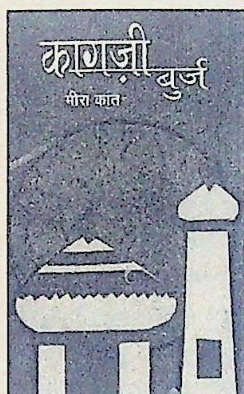
*पृष्ठ : 112, मूल्य : 100 रु.*



**दिमाग़े हस्ती दिल की बस्ती है कहाँ? है कहाँ?** (नाटक) : **महेन्द्र भल्ला**

एक गठी हुई, सजग नाट्य भाषा में, सामाजिक-पारिवारिक ताने-बाने के ऐन बीच बुना गया महेन्द्र भल्ला का यह नाटक हमारे समय के उन रेशों को पकड़ने की एक जबरदस्त कोशिश है, जहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के तनाव हैं, उनके बीच बच्चों और किशोरों का फँसा हुआ जीवन है, और एक अलगाव झेल रहे बुज़ुर्गों की आन्तरिक कथा है।

*पृष्ठ : 128, मूल्य : 120 रु.*




**कागज़ी बुर्ज** (कहानी) : **मीरा कांत**

मीरा कांत की पुस्तक 'कागज़ी बुर्ज' की कहानियाँ स्थापित मूल्यों के गिरते बुर्जों पर चिपके कागज़ी पैबन्दों के सुराग खोजती हैं। वो बुर्ज चाहे स्त्री को महिमामंडित करनेवाली खोखली परम्पराओं की आड़ हों या जीवन-सम्बन्धों की जीर्ण-शीर्ण दन्तकथाएँ।

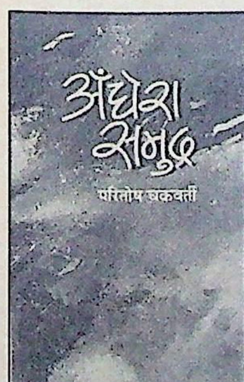
*पृष्ठ : 152, मूल्य : 125 रु.*




**औरत की कहानी** (कहानी-संकलन) : **सं. सुधा अरोड़ा**

औरत की जिन्दगी के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट कहानियों का सम्पादन सुप्रसिद्ध कथाकार सुधा अरोड़ा द्वारा किया गया है। इस संग्रह में सम्मिलित हैं—महाश्वेता देवी, मन्नू भंडारी, ममता कालिया, उर्मिला पवार, मृदुला गर्ग, मृणाल पांडे, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, ज्योत्स्ना मिलन, सूर्यबाला, मैत्रेयी पुष्पा, नमिता सिंह, कमलेश बक्षी, रमणिका गुप्ता एवं सुधा अरोड़ा की कहानियाँ।

*पृष्ठ : 212, मूल्य : 170 रु.*




**अँधेरा समुद्र** (उपन्यास) : **परितोष चक्रवर्ती**

नब्बे के दशक के बाद भारतीय समाज में छाया बाज़ारवाद, मुक्त अर्थव्यवस्था की हिंस्रता, आवारा पूँजी और काले धन का असीमित विस्तार, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की घातक प्रतिस्पर्धा, चमकीले विज्ञापनों का 'अँधेरा' है, जिसमें आम आदमी कई कठिन पाटों के बीच बुरी तरह पिस रहा है। विडम्बना ही है कि यह 'अँधेरा' जगमगाती और चौंधिया देनेवाली रोशनियों से भरपूर है। *पृष्ठ : 124, मूल्य : 120 रु.*




**धाँधलेश्वर** (सौ व्यंग्य लेख) : **गोपाल चतुर्वेदी**

वर्तमान समय के शीर्षस्थ व्यंग्य रचनाकार गोपाल चतुर्वेदी ने नौकरशाही, लालफीताशाही और अफ़सरशाही के साथ-साथ देश और समाज की वर्तमान में पनप रही विकृतियों को इतना नज़दीक से देखा-परखा है कि उनके बेबाक चित्रण में उन्हें अपनी कलम का कमाल दिखाने का मौका मिल गया। उन्होंने बाबुओं के दर्द को भी बखूबी समझा, कि उसमें से करुणा के कणों को बटोरने में वे पूर्णतः सफल हो सके।

*पृष्ठ : 498, मूल्य : 400 रु.*

# समय के बाद

## क्षमा कौल

''**कल पटना पहुँचूँगा। आज शाम** को जा रहा हूँ। गाँव की ज़मीन बेच डालेंगे। तीन भाई तीन शहरों में विस्थापित हैं।''

सोचा कहूँ— 'बन्धु विस्थापित?— बड़े भाग्यवान विस्थापित हो। गाँव जा सकते हो। वहाँ की ज़मीन बेच सकते हो। वहाँ की ज़मीन में रम सकते हो, लोट सकते हो... सुगन्ध ले सकते हो... कुछ नहीं तो ज़मीन बेचकर इत्मीनान से सारे भारत से प्यार कर सकते हो।

हमारे प्रेम का ध्रुवतारा ही विलीन हुआ। सप्तर्षि मुझे कहाँ मिलते थे— रोज़ आँगन बर्तन माँजते... फिर वे हँसते... फिर मेरे बर्तनों के लिए उतरकर नल खोलते... अँधेरे में मिलने आये प्रेमी जैसे। फिर तब तक मुझसे बतियाते जब तक मैं दरवाज़ा भिड़ाकर ऊपर न आती... वे भी सोते... हम भी... या हम सब।

अब किराये पर जो ज़मीन मिलती है... छत पर देखते हैं तो आसमान ढूँढे से नहीं मिलता। हम प्रेम कहाँ, किससे करें? उस आसमान के नीचे मुझे कितना तीव्र बोध रहता था! विराटता का... भारत-भूमि की विराटता का। लगता है उसने मुझसे रूठकर वह छीन लिया... मैं उन तक सिमट गयी... जैसे सोचा हो... तुमको इस बोध के लिए वापस लौटना ही होगा। वरना कायर... तुम पर क्या विश्वास कि लौटती ही। इस मूल्यवान धरोहर के लिए लौटोगी... वे मेरी प्रतीक्षा हँसते और कभी अनवरत धार रोते हुए कर रहे होंगे। ठीक उसी जगह...बरामदे और आँगन पर।

हवाएँ आती हैं। बारिश आती है। वह टीन की छतों की टप-टप कहाँ सुनें। लाखों पियानों इन्द्रदेव एक साथ बजाता और झूमता। हम सराबोर हो जाते। हम इसी नुक्ते से सारे देश को प्रेम करना सीख गये थे... अथाह प्रेम, अनन्त प्रेम... जिसे यह विराट देश भी न जानता था। प्रेम जैसे एक-एक व्यक्ति के अन्दर एक-एक प्रौढ़ चिनार... छाया का विस्तार। तीन तरफ़ के सागरों तक, लहरों पर नाचता, सिद्धहस्त।

और हमें नींद में काट डाला उन्होंने। हम निश्चिन्त थे। कानूनन एक नीति के छत्र तले हमें मारना वर्जित कर दिया गया था। प्रेम, विश्वास का संवाद... सब एक-एक कर टूटे बेंत हो गये। अब पीटो हमें कहाँ पीटना है, किसे पीटना है। हमें तो यातना होती नहीं।

स्मृतियाँ? हाँ हवा होकर अब वही बहती हैं। हवा हमें छूती है ख़ूब। हम छुएँ सो कैसे। हम अशरीरी भटकती आत्माएँ और ये हवाएँ इतनी निर्दयी कि झोंको के झोंके आये और भेद डाले हमें... कोई दया-माया नहीं। फिर भी बने रहने की धृष्टता है। भयानक धृष्टता।

प्रकृति! प्रश्न का उत्तर किसी और तरीक़े से दे सकती थी। क्या यही एक तरीक़ा बचा था? पूर्वजन्म की स्मृतियों का प्रश्न। ये कुछ क्षण नहीं झेले जाते।

हम सब गहरी नींद से उठकर आये हैं। बुज़ुर्गों की यह नींद और भी भयावह रही। बुज़ुर्ग भी हुए पर नींद ही में। तब तक नहीं जागे जब तक गर्दनें न कटीं... शोर न हुआ... शोर के ज़ोर से जागे... सिरहाने पड़े फिरन अपनी आपनी काँख में दबाये भागे।

खेत हैं। असीम खेत। जैसे पूरा का पूरा शहर एक खेत हो गया हो। पगडंडियाँ जैसे 'पुइट' में सँवरे शहर-सुन्दरी के बाल। ऊपर... नीचे विचित्र ज्यामिति। पानी कहीं ज़्यादा कहीं कम। समतल। जैसे पगडंडियों वाली झील। ढेर सारे छोटे-छोटे बेल-बूटे, पौधे, पानी के पौधे और एक पौधा अद्भुत। अद्भुत वैभव। कहाँ सहेजूँ? कहाँ सहेजा जाता है स्वप्न? अपने अन्दर? लेकिन मैं चाहती हूँ कि यह स्वप्न हम सब देखें। एक-एक दृश्य वैसा ही जैसा मैंने देखा। तो फिर काग़ज़ पर उतारूँ इसे? नहीं... कैसे उतारूँ इसे काग़ज़ पर। शब्द स्क्रीन हो सकते हैं? तो अगर हो भी सकते हैं... क्या मैं उन पर अपना स्वप्न प्रस्तुत कर सकती हूँ? असंख्य नन्हें पौधे हैं। मटरनुमा मुँह से एक अविरल धार बहा रहे... लयबद्ध... अब भी मेरे अन्दर बह रहे हैं...मैं अब इनसे बहते रहने की मौन प्रार्थना करती रहूँगी... मैं अब लबालब हूँ। मेरे भीतर की निस्तब्धता में अगर कुछ है तो इस धार का संगीत... परिन्दों की कूक, उनकी उड़ानों का वायुयानी संगीत।

''क्या होगा इस पौधे का नाम?'' मैंने पूछा। मैं उसे पहचानती हूँ, पर नाम याद नहीं। 'फव्वारा' पूर्वजन्म का एक शब्द मेरे होठों पर बना है... मैंने यह चीज़ देखी भी है। पर नहीं, यह घिसा-पिटा नाम नहीं।

यह पौधा भविष्य का संकेत है कि फिर हमारा शहर एक विराट झील होगा। फिर खेत सजेंगे... जीवन अँकुराएगा... ऐसे कि मेरे अन्दर से बाहर कूद पड़ेंगे ये फव्वारें... जड़ों से आलिंगनबद्ध करेंगे धरती को.... जैसे बच्चा आलिंगनबद्ध करता है माँ को कि माँ कुछ और नहीं कर पाती। छुड़ाए नहीं छुड़ा पाती। अन्ततः शिथिल पड़ के उसके आलिंगन को अणुशक्ति बना देती है। पूरी धरती सींचने की शक्ति होगी इनमें...जीवन वृक्ष उठाएँगे सिर धीरे-धीरे... फैलाएँगे अपनी भुजाएँ और मुस्कराएँगे अपनी छाया की भाषा में...।

**डेरे** से चल दी। समिति का सचिव मिला। बातचीत की। ''मेरे पास ज़बर्दस्त कार्यक्रम हैं।'' उसने अँग्रेज़ी में कहा। विस्थापित केन्द्रीय कर्मचारियों को वह घर दिलाएगा। शीघ्र ही प्रधानमन्त्री से मिल रहा है।

अन्धकार। हम अन्धकार में एक दूसरे को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। सूँघकर, छूकर। हम एक-दूसरे से वह रास्ता पूछ रहे हैं जो हमारे घर की तरफ़ जा रहा हो। सब बुत बन के रह जाते हैं- जीभ से तालू चिपकाये। अन्धकार अब पूरे अस्तित्व पर छा गया है। घर कर गया है... दीमक की तरह।

हम घर जाना चाहते हैं। सिर्फ़ घर हमें जो तुम दिलाओगे वह घर होगा? नहीं। हम एक-दूसरे का हाथ ढूँढ-ढूँढकर पकड़ना और घर चलना चाहते हैं।

लगता है जिसे वे 'आन्दोलन' कहते हैं वह दियासलाई की तरह भक्क से जल फिर बुझ जाता है। अलाव कैसे जलाओगे? अलाव तो तब जब दियासलाई

शुरू से आख़िर तक जले। आख़िर तन्त्र बराबर लकड़ियों पर छिड़काव कर रहा है। आदमी लगे हैं काम पर।

जम्मू में चार मास से बेघरों को राहत नहीं मिली। केन्द्र सरकार कश्मीर की बाढ़ की मछलियाँ जितनी हो सके पकड़कर दिल्ली लाना चाहती है और मुँहमाँगे दाम ख़रीदना चाहती है। सड़ी, गन्धाती मछलियाँ। कश्मीरी निष्कासितो! तम के विरुद्ध अलाव जलाओ... तेज़.. तुन्द। अब हमें भी स्वतन्त्रता चाहिए। हम हर तरफ़ से गोली खा रहे हैं। भारत सरकार हमें तिल-तिलकर मार रही है। आतंकवादी एक गोली के साथ मुक्ति भी तो देता है।

**दुःख** पर रोने वालों से घृणा करने वाली माँ रो रही है। मेरी साँस मानो रुक गई। लड़खड़ा रही है— मेरी जीभ। इन गलियों में मैं वापसी पर पागलों की तरह दौड़ती हूँ कि घर जल्दी से जल्दी पहुँचूँ। इन कुछ क्षणों दिल तेज़ धड़कता है तब कुछ गड्ड-मड्ड मन्त्र पढ़ती रहती हूँ कि मुझे माता-पिता हँसते हुए मिलें। तो क्या आज मैं ज़रा भी मन्त्र न पढ़ सकी?... क्यों प्रभु? क्या बात? मैं तुम्हें सौंपकर यह नाज़ुक निराश्रित परिवार मज़दूरी पर चली जाती हूँ... आज मैंने क्या नहीं की तुम्हारी खुशामद?

''क्या बात है माँ?'' मैंने फिर लड़खड़ाई आवाज़ में कहा। बच्चे खेल रहे थे। मैं समझ नहीं पा रही थी कि क्या समस्या हो सकती है।

''क्यों रो रही हो माँ? मकान मालिक ने...?''

और वह फिर फूट-फूटकर रो पड़ी। बच्ची हो गयी है अब वह दृढ़-धीर स्त्री। पूरी बच्ची। सारी प्रौढ़ता में, सारे अनुभवों में, पूरे गरिमामय जीवन में सेंध लगाई है इस एक ज़लील से अनुभव ने। निर्वासन ने।

''कहा कि पाखाने में पानी नहीं डालते हो तुम लोग।''

मैं समझ गयी। सब समझ गयी। बच्चों और बूढ़ों के बीच अवलम्ब बनी मैं अकेली औरत। मुझ पर मकान-मालिक कोई भी गुस्सा निकाल सकता है।

''कोई बात नहीं। माँ शान्त हो जाओ। हम कमरा बदल लेंगे।''

माँ बराबर रो रही है। उसके आँसुओं से बने भँवर में बराबर उलझ रही हूँ। मेरे बच्चों की परवरिश में नाहक फँसी माँ कितना मुझे भी कोस रही होगी।

''माँ शान्त हो जाओ। मैं अभी कमरा देख लूँगी।''

मकान-मालिक माँ को 'बुढ़िया-बुढ़िया' कहता हुआ आया।

''मैं आपका कमरा ख़ाली करूँगी। मैं आपसे बात नहीं करना चाहती। आप मुझे क्षमा करें।''

वह तिलमिला उठा। इस बीच पापा प्रकट हुए। मैं इस अजीबोग़रीब दुःख के क्षण की नंगई ओढ़ने के लिए एक स्थाई मुस्कान चेहरे पर रखे हुए हूँ।

वह बोलते-बोलते थक जाता है और बाक़ी बोलने के लिए अपने कमरे में जाता है— ''हुँहु आप इसी के लायक थे... यूँ ही ईश्वर ने बेघर नहीं किया... बहनचो... कश्मीरी। जानते भी नहीं मकान-मालिक से किस तरह बात करते हैं...।'' पर हम सब मौन हैं। बीच-बीच में मुझे लगता है कि पापा कुछ प्रतिक्रिया करना चाहते हैं पर मेरी प्रार्थना की मजबूरी में उनका मौन बना रहता है।

मैं गलियों में घूम रही हूँ। दोनों बच्चों की उँगली पकड़े। रास्ते में जिस-तिस से पूछ रही हूँ, ख़ाली कमरे के लिए। अँधेरे कमरे। किराया पौने दो हज़ार। मेरी रग-रग में दर्द उठता है। कराहें भी दब जाती हैं। इन्हीं किन्हीं गुफ़ाओं में। ऐसे कई कमरे देख आयी हूँ चुपचाप।

''इसने कुछ कहा तो नहीं फिर?'' मैं सहमते हुए दहलीज़ पर स्थिर हो माँ का चेहरा पढ़ते हुए पूछ रही हूँ।

''नहीं कुछ नहीं... घबराओ नहीं बेटी।'' मुझे जीवन-सा मिला। माँ कुछ-कुछ प्रौढ़ फिर हो गयी है शायद। हम क्षणजीवी हैं।

ऋजु की साँस फिर तेज़ है। फिर एस्नोफीलिया। दो माह कितने अच्छे बीते थे... वह स्वस्थ था। क्या करना चाहिए मुझे। मैं कैसे भँवर में हूँ। कल दोनों की परीक्षा है। पर क्या करूँ मैं। मेरा मस्तिष्क ठीक ही नहीं।

सब सो गये हैं। बच्चे गहरी नींद में हैं। पापा भी। माँ सोई नहीं— आँख मुन्दी है सिर्फ़।

क्या समाधान है इस सबका? है कोई? सिवाय सामना करने के।

—तो यह है हिन्दुस्तान। अपना भारत। सपनों का भारत। स्वतन्त्र भारत। चलो देख लिया तुम्हें। बिना लहू के लोग। इनकी रग़ों में भी पैसा ही बहता है।

—भारत! तुम्हारी भी वही स्थिति है जो मेरी। मेरी जाति की। तुम भी डोल रहे हो। तुमने नाकारा सन्तानें जनमी हैं। मैं दावे से कह सकती हूँ।

—मुझे अँधेरे में आभास हो रहा है कि माँ अँधेरे में सिरहाना भिगो रही है। मेरा मन गाता है— ''ऐ मेरे वतन के लोगो, मत ख़ून को कर लो पानी।'' क्या-क्या याद आता है। हम सोचा करते थे हमारा साथ कोई नहीं छोड़ेगा... हम सन्तानें छोटी माँ की। छोटी माँ के बच्चों के साथ कोई ज़ुल्म होगा बड़ी माँ के बच्चे ख़ून-ख़राबा करेंगे। सारा हिन्दुस्तान लहू-लुहान हो जाएगा। पर बड़ी माँ के बच्चों के कान पर जूँ तक न रेंगी। उल्टे उनके ख़ाली कमरे हमारा ख़ून बहने के नल हो गये।

**यह** क्या हो रहा है। मीडिया के ज़रिए जो कुछ सोचकर दिया जा रहा है— कहते हैं सच। बीच में अनावश्यक बेल की तरह एक आदमी ऐसा उग रहा है जो कहता है झूठ या ग़लत। बिल्कुल ग़लत या अर्द्धसत्य। जो हमें सोच कर दिया जा रहा है उस माल को रिजेक्ट करने की तुम्हारी हिम्मत।

अरे मार्ग-दर्शन के स्वयंभू ठेकेदारों के इस तरह का अन्धकार फैलाने के लिए हाथ काटो। जुबान छीनो उनकी उनसे। कृपया उन्हें पहचानो। पर देश का रोटी खाता आदमी पैसों में लगा है और भूखा आदमी रोटी की तलाश में। अन्धकार में मज़ा आ रहा है।

बनी बनायी डबलरोटी की तरह सोचे गये, सुनियोजित, कल्पित-सत्य और तद्जन्य विचार दे रहे हैं अख़बार। फुर्सत के अभाव में ख़रीद रहे हैं लोग। विवेक के अभाव में मान रहे हैं।

एक पत्रकार महोदय आजकल कश्मीर में तोड़े गये मन्दिरों को न तोड़े गये सिद्ध करने के लिए अख़बार के पृष्ठों के पृष्ठ खपा रहे हैं। उनके झूठ की काट में कितन पत्र लिखे गये मय-प्रमाण। पर मजाल कि एक भी छापे। ''हम कहते हैं आँख देखी... वे लिखते हैं मन की सोची।'' कितने आतंकों से लड़े? ठीक है माई-बाप। तुम जीते, हम हारे। हमने जो देखा, भोगा-झूठ। तुमने जो कल्पना की— सत्य। कहीं कुछ न टूटा। कहीं कुछ न हुआ।

1990 की मार्च में एक विशाल रैली बहादुरशाह ज़फ़र मार्ग से जब गुज़री थी तो एक अधेड़ पढ़ी-लिखी महिला रुककर ज़ोर-ज़ोर से चीख़ी थी— ''अख़बारों के सम्पादको। होश में आओ होश में आओ।'' मैं हँस दी थी। क्या किया सम्पादक बेचारों ने। कोई भविष्य-दृष्टा थी वह। उसे पता था इसी मार्ग पर बैठे सम्पादकगिरी करते ये लोग बेहोश हो जाएँगे। झूठ की

स्याही से रोज़ बढ़-चढ़कर अर्थों को अपमानित और सत्य को सुन्न कर देंगे। मैं उसे मन की आँखों से खोज रही हूँ... प्रणाम भेज रही हूँ। कौन थी वह? कहीं माँ कश्मीर ही मूर्तिमन्त होकर इस निरंकुश झूठ के विरोध में ही तीव्रता से तो नहीं चीख़ी थी!

**सबकुछ** जैसे आग उगल रहा है। बावजूद इसके लोग भौतिक जुगाड़ों में मस्त हैं... ठण्डे हैं।

बस की खिड़की से सिर बाहर निकालकर आसमान को देखा। देखना चाहती थी। क्या सूर्य बादलों की महीन परत ओढ़े हैं? आसमान नीला था। अगर यह ताप क्षण-भर भुला दो तो मान लो अपनी छत के ऊपर बसन्ताकाश है। पर कैसे? है तो निदाघ। मेघों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े थे बहुत दूरी पर। एकाकी थे सब अपने-अपने स्थान पर। एक-दूसरे से ज़बर्दस्त विरोध करते हुए। समन्वय की किसी भी गुंजाइश से इन्कार करते हुए। एक जगह होते तो ताप को घेर सकते थे।... या और बदलों की सेना का आह्वान कर सकते थे... झुलस को कम कर सकते थे। मुझे लगता है ये हमारे नेता हैं। एक अर्से से सब चुप हैं। जैसे सब समस्याएँ हल हो गयी हैं। लो मैं भी कैसी मूर्ख हूँ! उन्हें समस्याओं के हल से क्या लेना देना? समस्याएँ बनी रहें-कच्चे माल की तरह। स्रोतों की तरह। उन्हें तो माने जाने की रणभूमि में एक-दूसरे के सिर क़लम करने हैं। फिर भी।

इस आग के बुझने की फिलहाल कोई सम्भावना नहीं। फिलहाल कोई परिवर्तन नहीं दिख रहा सम्भावित। सोचा बगलवाली सवारी सोच रही होगी कि मैं इस क़दर पागलों की तरह क्यों देख रही हूँ आसमान की तरफ़। याद आया भरसक कि पिछले वर्ष सुना था कि लोगों ने जुलूस निकाला था। ''बट्टअ अन्यूख वापस, बट्टअ दद्य तापस'' (बट्टों पण्डितों को लाओ वापस, बट्ट जल गये ताप से)। मेरे अन्दर जुलूस आगे बढ़ रहा है। यहाँ तक कि दिल्ली की सरहद पर है। मैं उनकी करुणा के प्रति प्रेम-विगलित हूँ। मैं भी गला फाड़-फाड़कर ये ही नारे दोहराती हूँ। मैं किससे सम्बोधित हूँ— आसमान से? वितस्ता से? वहाँ की बहुसंख्या से? उस धरती से? या कि यहाँ की सरकार से?

मैं ज़रा भी नहीं समझना चाहती इन नारों में निहित उनका परपीड़क उल्लास।

90-बी, लेन न. - 12
भवानी नगर, जम्मू-180 007
मो. : 9906001813

# महान शहादतों का महीना मार्च

## चमन लाल

**23 मार्च 1931 को भगतसिंह,** राजगुरु व सुखदेव की विश्व विख्यात शहादतों के कारण यह महीना उनके नाम से अधिक जाना जाता है। लेकिन इस महीने में इतनी अधिक और महत्त्वपूर्ण शहादतें हुई हैं कि उनके बारे में जानना भी ज़रूरी है। चूँकि भगतसिंह/राजगुरु/सुखदेव सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी है, इस बार अन्य शहीदों सम्बन्धी संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

मार्च के पहले ही दिन 1924 में कोलकाता में युवा क्रान्तिकारी गोपीमोहन साहा को फाँसी देकर शहीद किया गया। गोपीमोहन साहा की शहादत पर काँग्रेस में विभाजन नज़र आया था। महात्मा गाँधी ने गोपीमोहन साहा की शहादत की प्रशंसा करने का विरोध किया था, जबकि बंगाल के काँग्रेस नेता गोपीमोहन साहा की शहादत के प्रति श्रद्धा का भाव रखते थे। महात्मा गाँधी ने 1909 में 'हिन्द स्वराज' में मदनलाल ढींगरा द्वारा लार्ड कर्जन वायली को मारकर फाँसी चढ़ने को भी 'हिंसा का पागलपन' ही कहा था, जो बाद में भी उनका रवैया रहा।

8 मार्च 1915 को सिंगापुर में गदर पार्टी के तीन कार्यकर्ताओं को गोली से उड़ा दिया गया। ये कार्यकर्ता थे — रसूल, इम्त्याज़ अली और रामदीन। इससे पहले फरवरी 1915 में भी 60 से ज़्यादा गदर पार्टी कार्यकर्ताओं को सिंगापुर में गोली से उड़ाया गया था। यह उल्लेखनीय है कि सिंगापुर में शहीद हुए अधिकांश गदरी भारतीय मुसलमान थे। दो तीन वर्ष पहले लाहौर से प्रकाशित पंजाबी पत्रिका 'पंचम' (फारसी लिपि में) ने इन कार्यकर्ताओं को गोलियों से उड़ाये जाने का चित्र पत्रिका के प्रथम व अन्तिम पृष्ठ पर छापा। सिंगापुर में 'गदर' नियत तारीख़ से पहले ही शुरू हो गया था। वहाँ तैनात ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिकों ने इस गदर की शुरुआत की थी। सिंगापुर में ही 23 मार्च 1915 को पाँच और गदर पार्टी कार्यकर्ताओं को फाँसी दी गयी। ये शहीद थे— सूबेदार दादू खाँ, जमादार चिश्ती खाँ, हवलदार अब्दुल, हवलदार रहमत अली और हवलदार हाकिम अली।

मार्च के महीने में भगत सिंह की प्रिय गदर पार्टी के और भी 14 गदरियों को लाहौर और फिरोज़पुर जेलों में फाँसी देकर शहीद किया गया। 8 गदरियों को सिंगापुर में शहीद करने के साथ मार्च में शहीद होनेवाले गदरियों की संख्या बाईस तक पहुँच जाती है। 27 मार्च 1915 को फ़िरोजपुर जेल में जिन सात गदरियों को फाँसी दी गयी, उनमें— पंडित कांशीराम मडौली, रहमत अली वजीद के (पटियाला), जीवन सिंह (पटियाला) लाल सिंह (लुधियाना) ध्यान सिंह (अमृतसर), जग्गा सिंह (पटियाला) व बख्शीश सिंह (लुधियाना) शामिल हैं। इनमें पंडित कांशीराम 1913 में स्थापित गदर पार्टी के प्रथम वित्त सचिव थे। आज इनकी याद में पंजाब के रोपड़ जिले में इनके गाँव मंडौली में कॉलेज चल रहा है। 23 मार्च 1917 को लाहौर केन्द्रीय जेल में गदर पार्टी के महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ता डॉ. मथुरा सिंह को फाँसी दी गयी। डॉ. मथुरा सिंह का जीवन वृत्त भगत सिंह ने 'चाँद' के 'फाँसी अंक' (नवम्बर 1928) में प्रस्तुत किया। 29 मार्च 1917 को पाँच और गदर पार्टी कार्यकर्ताओं को लाहौर जेल में फाँसी देकर शहीद किया गया। ये कार्यकर्ता थे— बाबूराम व हरनामा (दोनों होशियारपुर) बलवन्त सिंह (जालन्धर) हाफिज़ अब्दुल्ला (जगरांव) रूढ़ सिंह संघवाल (जालन्धर)। गदर पार्टी भगत सिंह का प्रेरणा स्रोत थी, इसलिए गदर पार्टी के कई कार्यकर्ताओं का परिचय उन्होंने 'चाँद' के फाँसी अंक में दिया था। एक और गदरी कार्यकर्ता बख्तावर सिंह को 21 मार्च 1916 को दिल्ली जेल में फाँसी दे दी गयी थी।

13 मार्च 1942 को नेताजी सुभाष बोस की 'आज़ाद हिन्द फौज' का एक विमान हादसे का शिकार हो गया था। इस में 'आज़ाद हिन्द फौज' के चार बड़े अधिकारी शहीद हुए, जिनके नाम हैं— स्वामी सत्यानंद पुरी, ज्ञानी प्रीतम सिंह, अकरम और नीलकंठ आदियार।

मार्च महीने में औसतन हर रोज़ एक शहादत हुई। जिनमें तीन पीढ़ियों के शहीद शामिल हैं। सबसे पहले गदर पार्टी के 22 शहीद, जो 1920 से पहले के दौर के शहीद हैं। दूसरे दौर में बहुचर्चित भगत सिंह की शहादत के साथ चार शहीद 1920 से 1931 के बीच हुए। 1940 के बाद के दौर के चार शहीद भी मार्च में हुए।

मार्च महीने में भगत सिंह/राजगुरु/सुखदेव की शहादत पर ज़्यादा चर्चा न कर, यहाँ भगत सिंह की साहित्यिक अभिरुचि का प्रमाण देने वाले उन साहित्यिक उद्धरणों या लेखकों के नामों का उल्लेख किया जाएगा, जो भगत सिंह के उपलब्ध दस्तावेजों में मिलते हैं।

### भगत सिंह लेखन के साहित्यिक सन्दर्भ

1. अमेरिका में रह रहे दोस्त अमरचन्द को ख़त (1927)— 'कभी मौका मिले तो कोई अच्छी-अच्छी कुतब (पुस्तकें) भेजने की तकलीफ़ उठाना। आख़िर अमेरिका में लिट्रेचर तो बहुत है।' (पृ.28) (उर्दू मूल)

2. जेल से पिता को पत्र (26 अप्रैल 1929)— हो सके तो 'गीता रहस्य' 'नेपोलियन की जीवनगाथा' जो आपको मेरी कुतब में मिल जाएँगी, अँग्रेज़ी के कुछ आला नावेल लेते आइएगा (पृ.34)(उर्दू मूल)

3. भूख हड़ताल का नोटिस (17 जून 1929)— 'प्रत्येक तरह का साहित्य (इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, कविता, नाटक या उपन्यास, समाचार पत्र)।' (मेरी माँगें)— पृ. 36

4. सम्पादक 'मॉडर्न रिव्यू' के नाम पत्र— समाजवादी लेखक अप्टन सिंक्लेयर के उपन्यास 'वोस्टन' और 'आयल' (पृ. 54)

5. 'जेलों में और केवल जेलों में ही कोई व्यक्ति अपराध एवं पाप जैसे महान विषयों का प्रत्यक्ष अध्ययन करने का अवसर पा सकता है। मैंने इस विषय का कुछ साहित्य पढ़ा है और जेलें ही ऐसे विषयों का स्वाध्याय करने के लिए सबसे उपयुक्त स्थान हैं। स्वाध्याय का सर्वश्रेष्ठ भाग है - स्वयं कष्टों को सहना' (सुखदेव के नाम पत्र-1929) पृ. 58

6. सन्दर्भ 'मार्क्स', बाकुनिनि, वही - पृ. 59

7. जयदेव गुप्त के नाम पत्र (28 मार्च 1930) 'इन दिनों मेरे पास एक ही किताब है, वह भी बहुत शुष्क। देखना, हाल में प्रकाशित कुछ दिलचस्प उपन्यास भेज सको!' (पृ. 69)

8. जयदेव गुप्त के नाम पत्र (3 जून 1930)— 'फ़ारसी का एक कायदा उर्दू अनुवाद सहित भेजने की व्यवस्था कर सकेंगे?' (पृ. 70)

9. जयदेव गुप्त के नाम पत्र (24 जुलाई 1930) ''मेरे नाम द्वारकानाथ लाइब्रेरी से निम्न किताबें लेकर भेज देना:-

(1) मिलिटरिज़्म— कार्ल लिबनेख (2) व्हाई मैन फाईट- वी.रसेल

(3) सोवियतस एट वर्क (4) कोलेप्स ऑव दि सेकंड इंटरनेशनल

(5) लेफ्टविंग कम्युनिज़्म— लेनिन (6) म्यूचुअल एड— प्रिंस क्रोपारकिन (7)फील्डस, फैक्ट्रीज एंड वर्कशाप्स— मार्क्स (8) सिविल वार इन फ्रांस - मार्क्स (9) लैंड रिव्युलुशन इन रशिया (10) अप्टन सिंक्लेयर— 'स्पाई'

लाला फिरोज़चन्द अपनी पसन्द की किताबें भेज दें! डार्लिंगन लिखित 'पीजेंरस इन प्रासपैरिटी एंड डेल्ट' और इस तरह की 2-3 किताबें डॉ. आलम के लिए।'' पृ. 70-71

10. कुलतार के नाम पत्र (3 मार्च 1931)

*''उसे यह फ़िक्र है हरदम नया तर्ज़े ज़फा क्या है,*
*हमें यह शौक है देखें सितम की इन्तहा क्या है।*
*दहर से क्यों ख़फ़ा रहें चर्ख़ का क्यों गिला करें,*
*सारा जहाँ अदू सही, आओ मुकाबला करें।*
*कोई दम का मेहमां हूँ ऐ अहले-महफिल*
*चराग़े सहर हूँ, बुझा चाहता हूँ।*
*हवा में रहेगी मेरे ख़्याल की बिजली*
*ये मुश्के ख़ाक है कानी रहे न रहे।''* (पृ. 74)

11. बम कांड पर सेशन कोर्ट में बयान— 'गुरु गोविन्द सिंह, शिवाजी, कमाल पाशा, रिज़ा खां, वाशिंगटन, गैरबाल्डी, लाकायेर और लेनिन के आदर्शों से प्रस्फुटित'। (पृ. 771)

12. 'पंजाब की भाषा और लिपि की समस्या'

गैरी बाल्डी, मेजिती के 30 वर्ष के साहित्यिक जागृति के प्रयास (पृ. 85)

गुरु नानक देव, गुरु अर्जुन देव, भाई गुरदास - आदि ग्रन्थ का संकलन

गुरु नानक— *नानक नन्हे हो रहे, जैसी नन्ही दूब।*
*और घास जरि जात है, दूब सूब की सूब*

गुरु तेग बहादुर— *बांहि जिन्हा दी पकड़िए, सिर दीजिए बांहि न छोड़िए। गुरु तेग बहादुर बोल या, घटती में धर्म न छोड़िए।*

गुरु गोविन्द सिंह— *जे तहि प्रेम खेलण का चाव सिर धर तली मेरी आवजे दूत मारग पैर .......सिर दीजै कांण न कीजै।*

*—सूरा सो पहिचानिए, जो लड़ै दीन के हेत / पुर्जा पुर्जा कर मरै - कभूं न छांडै खेत।*

*—खग खंड विहंड, खल दल खंड अति रन मंड प्रखंड/युग दंड अखंड तेज प्रचंड जोति अभंड भानुप्रभं।*

स्वामी रामतीर्थ— *हम रूखे टुकड़े खाएँगे, भारत पर वारे जाएँगे। हम सूखे चने चबाएँगे, भारत की बात बनाएँगे!*

*हम नंगे उमर बिताएँगे, भारत पर जान मिटाएँगे।* (पृ. 86-87)

— स्वामी विवेकानन्द, देवेन्द्र ठाकुर, केशवचन्द्र सेन सन्दर्भ (पृ.87)

नज़रूल इस्लाम, लतीफ हुसैन 'नटवर' (हिन्दी कवि) दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थ प्रकाश)

लाला हरदयाल (कौमें किस तरह ज़िन्दा रह सकती हैं - उर्दू) (पृ. 88-89)

*—ओ राहिया राहे जान्दया, सुन जा गल मेरी*
*सिर ते पग तेरे वलैत दी, इहनूं कूक मुआतडाला*

*(ओ रास्ते जाते राही, मेरी बात सुनता जा / तुम्हारे पर जो विलायत की पगड़ी है, इसे चिंगारी देकर जला डाल)।*

*—लच्छि जित्थे तू पानी डोलिया, ओत्थे उग आए सन्दल दे बूटे* (कविन्द्र रविन्द्र मोहित, अँग्रेज़ी में अनुवाद) (पृ. 90)

*'पिपल दे पत्तया वे केही रूडरूड लाई ऐ*
*पत्त झडे पुराणे हुण रूत्त नवयां दी भाइ रे,'* (पृ. 91)

'गौहर'— *लाम लक्खां ते करोडां दे शाह वेख ने मुसाफिरां कोई उधार देंदा।*

*दिनें रातीं जिन्हों दे कूच डेरे, न उन्हां दे थायीं कोई एतबार देंदा,*
*भौरें बंहदे गुलां दी वाशता ते, न सप्पां दे मुहाँ ते कोई प्यार देंदा।*
*गौहर समय सलूक इन जयोंदया दे, मोय गियां नूं हर कोई विसार देंदा।*

*जीभ ज्यूदियाँ नूं क्यों मारना एं, जेकर नहीं तू मोयां नूं जिऔण जोगा,*
*पर आए सवाली नूँ क्यों छूटनां एं, जेकर नहीं तूँ हत्थी, खैर फैण जोगा,*
*मिले दिलां नूं क्यों बिछोडना एं, जेकर नहीं तूँ बिछडियाँ नूं मिलौण जोगा।*

*गौहर बदीयां रख बन्द खाने जेकर नहीं तू नेकीआं कमौण जोगा।*

—'दर्द', 'मस्ताना', 'दीवाना', 'बड़े अच्छे अच्छे कवि (पंजाबी)'

—'पंजाबी यूनिवर्सिटी में पंजाबी भाषा को मंजूर करा देना चाहिए'। (1924)

12. महात्मा टाल्स्टाय, गीता रहस्य (पूज्य लोकमान्य तिलक) (विश्व प्रेम - 1924 पृ. 92-94)

13. 'युवक (1925)'— Farewell Farewell My true love
The Army is on the move

And if I stayed with you love

A coward I shall prove. (पैटिक हेनरी) (पृ.97)

14. 'काकोरी के वीरों से परिचय'— शचिन्द्रनाथ सान्याल— 'बन्दी जीवन' पृ. 102 (गुजराती, पंजाबी में अनुवाद)

सुरेशचन्द्र भट्टाचार्य, हिन्दी के बड़े प्रसिद्ध लेखक, 'प्रताप' के सहायक सम्पादक (पृ.104)

*सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है*
*देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल में है!* (पृ.104)
*—दरो दीवार पे हसरत से नज़र करते हैं*
*खुश रहो एहले वतन हम तो सफ़र करते हैं*
*—हाय हम जिस पर भी तैयार थे मर जाने को*
*जीते जी हमसे छुड़ाया उसी काशाने को*

रामप्रसाद बिस्मिल (पृ. 105)

15. काकोरी के शहीदों के फाँसी के हालात—

*'फ़नाह हैं हम सबके लिए, हम पै कुछ नहीं मौकूक!'*
*वफ़ा है एक फ़कत जाने की ब्रिया के लिए।*
*—तंग आकर हम उनके जुल्म से बेदार से*
*चल दिए सूए अदम ज़िन्दाने फैज़ाबाद से*

अशफाकुल्ला— मस्ताना शायर (पृ. 108)

रामप्रसाद बिस्मिल (पृ. 109)—

*'मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे*
*बाकी न मैं रहूं न मेरी आरजू रहे*
*जब तक कि तन में जान रगों में लहू रहे*
*तेरा ही ज़िक्रेयार, तेरी जुस्तजू रहे।'*
*—'अब न अहले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़!'*
*एक मिट जाने की हसरत, अब दिले-बिस्मिल में है।'*

16. कूका विद्रोह - 1. (पृ. 112) T.D. Forsita - 'Autobiography'

17. 'मदन लाल ढींगरा' - बंगाल के विद्रोही कवि नज़रूल इस्लाम की कविता 'विद्रोह'— बोलो वीर— *चिर उन्नत मम शीर,*
*शिर नेहारि आमारि नत शिर ओई शिखर हिमाद्रीर!*
*—महा विद्रोही रणक्लांत आमि शेई दिन हॅबो शान्त,*
*जॅबे उत्पीडितेर कुन्दर - सेल आकाशे बातासे ध्वतिषे ना*
*अत्याचारीर खड्भ कृपाण भीम रणभूमि रणिबे ना*
*विद्रोही रणक्लांत आमि शेई दिन इबे शान्त* (पृ. 124-25)

18. अराजकतावाद - फ्राँसीसी दार्शानिक प्रूदोन, जान मॉस्ट, प्रिंस क्रोपाट किन, एमा गोल्डमैन, अलेक्जेंडर ब्रेकमैन, महात्मा बुद्ध, निरालंब सोहमा स्वामी (कामन सेंस) बाकुनिव (माड स्टेट टंड) (पृ. 130-31)।

कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, डेविड थोरियन, लार्ड? (प्रिंसीपल्स आफ पालिटिक्स) एमा गोल्डमैन (अनार्किज़्म टंड अदर टसेज) (पृ. 132-33)

कार्ल मैनिंग (पृ.134)

19. 'रूस के युगान्तकारी नाशवादी'— इवान तुर्गनेव (पिता और पुत्र— 1862) प्रिंस क्रोपाटकिन, चर्नेशवस्की, (पृ.138-140)

आस्कर वाइल्ड— 'वोरा द निहिलिस्ट' (नाटक) 'कैरियर आकद निहिलिस्ट' 'बोल्शेविक के काम' (रामप्रसाद बिस्मिल) 'निहिलिस्ट रहस्य' (?) (पृ. 143)

20. 'धर्म और हमारा स्वतन्त्रता संग्राम'— महात्मा टॉल्स्टाय— 'Essays and Letters'

21. 'सत्याग्रह और हड़तालें'— गणेश शंकर जी विद्यार्थी सम्पादक 'प्रताप, कानपुर (पृ. 113)'

22. विद्यार्थी और राजनीति - 'An Appeal to the your's-prince kropotkin' (पृ.155)

23. 'नए नेताओं के अलग अलग विचार'— साधु वासवानी, सुभाष चन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, (पृ. 157-56)

24. 'लाला लाजपत राय और नौजवान'— मैजिनी, (पृ. 161)

25. 'मैं नास्तिक क्यों हूँ'— शचिन्द्रनाथ सान्याल (बन्दी जीवन) (पृ. 173)

26. 'ड्रीम लैड' की भूमिका— लाला रामसरानदास (ड्रीमलैंड) (पृ.189)

27. 'राजनीतिक कार्यक्रम की रूपरेखा'— लेनिन, महात्मा गाँधी, पंडित जवाहरलाल (पृ. 195-96)

28. क्रान्तिकारियों के रेखाचित्र (चाँद का फाँसी अंक)

*'सेवा देश दी ज़िन्ददिए बडी औरवी*
*गल्लां करनीआं ढेर सुखल्लियाँ ने*
*जिन्तां देश सेवा विच पैर पाया,*
*उन्नां लक्ख मुसीबतां झल्लियाँ में।'*
*'चलो चलें देश के लिए युद्ध करते*
*यही आख़िरी ....व फरमान हो गये।'* (पृ. 216)
*'दरे-तदवीर पर सर फोड़ता शेव; रहा अपना*
*वसीले हाथ ही न आए किस्मत आज़माई के।'* (पृ. 218)
*'चयन जारे मुहब्बत में उसी ने बागवानी को,*
*जिसने मिहल्ल को ही मिहतल का समर जाना।*
*नहीं होता है मुहताजे नुमाइश फैज शबनम का,*
*अँधेरी रात में मोती लुटा जाती है गुलशन में।'* (पृ. 219)

('शहीद करतार सिह सराभा' से)

*'एहसान नाखुदा का उठाए मेरी बाला*
*किश्ती खुदा पै छोड़ दूँ लंगर को तोड़ दूँ'* (पृ. 220-21)
*'दिन यों ही गुलामी में बसर होते हैं सारे*
*एक आह तुम जैसों के लिए भी नहीं मरते'* (पृ. 233)
*'जिन्दगी नाकिस थी आखिर / कर लिया महकन पसन्द / सुना था यह, राहिते कामिल / इसी मंज़िल में है'* (पृ.239)
*'खूँ के हरफों से लिखा जाएगा तेरा वाक़या*
*मुझको भूलेगी न यह पुरग़म कहानी हाय हाय'* (पृ. 255)

29. 'ए यू शहीद की जेल नोट बुक'

फ्रेडरिक एंगेल्स (सोशलिज़्म एंड यूटोपिया) 'ओरिजत आफ फैमिली' मार्गन (प्राचीन समाज)

हैनरी कैम्पबेल बैनटमैन, अर्लमाक बालकोट, बर्ट्रेंड रसल, मांटेन्यू— चेम्सफोर्ड, रैम्जे मैकडोनाल्ड, डॉ. रथकोर्ड, 'राईटस आफ मैन'— टामस पेन, पैट्रिक हेनरी, राबर्ट जी. इंगरसोल, मार्क ट्वेन, अरटनसिंक्लेयर— 'क्राई फार जस्टिस', रिचर्ड ज़ेफरीज़, पैट्रिक मैकगिल— 'चिल्ड्रेन आर्फ द डेड एंड', होरेस ग्रीले, कोंको होशी, जेम्स रसेल लावेल (कविता-'मुक्ति') टामस ग्रे (काव्यांश) जे.एस.मिल, मैक्सिम गोर्की, वाल्ट व्हिटमैन (कविता-'स्वतन्त्रता') विंडेल फिलिप, हेनरिक इब्सन, यूजीन, बी.डेब्स (काव्यांश), चार्ल्स कूरिए, फ्रेडरिक हैरिसन, थामस ज़ेफरसन, चार्ल्स एडवर्ड रसेल, फ्रांसिस्को फेरेट (वसीयत अंश) बक व्हाइट, डब्ल्यू वर्ड्सवर्थ (कविता- 'मुक्तियुद्ध') लार्ड टेनिसन (कविता - 'लाहौर ब्रिगेड का धावा') (पृ. 262-278)

**तीन उर्दू शेर—**

*'दिल दे तू इस मिज़ाज़ का परवरदिगार दे*
*जो ग़म की घड़ी को भी खुशी से गुज़ार दे'*
*'सजा कर मय्यत-ए-उम्मीद नाकामी के फूलों से*
*किसी हमदर्द ने रख दी मेरे टूटे हुए दिल में'*
*'छोड़ न ऐ फरिश्ते : तू ज़िक्रे ग़में जाना*
*क्यों याद दिलाते हो, भूला हुआ अफसाना।'* (पृ. 278)

जे कैम्पबेल (काव्यांश) आर्थर क्लाम (काव्यांश), फ्रेडरिक महान, वी.एन. किग्नर (काव्यांश), 'द प्रिज़नर आफ चिलोन' 'काव्यांश-बायटन' एन.ए. मोरोज़ोव (कविता - 'कैदी') मोरोजोव (काव्यांश) 'प्रिज़नर आफ श्लुसेल बर्न' (कविता ?) चार्ल्स मैके (काव्यांश) शार्लोट पार्किंग्स मिलमैन (काव्यांश)।

... 'तुझे ज़िबह करने की खुशी, मुझे मरने का शौके/मेरी भी मर्जी वही है, जे मेरे सैयार की है।'

जार्ज डी.हेरसन, ब्रास चेक, 'डिके आफ कैस, सिविलाइजेशन', नासैन सीनियर, कार्ल मार्क्स (धर्म के बारे में) हर्बट स्पेंसर, रोमन नाटककार (अज्ञात), 'क्रायर आफ व्हाट टिलर्स रिबेल' (?) अल्फ्रेड बार्टन, हेनरी मेन, आगस्त कामते, मारिस हिलक्वेट ('क्राम मार्क्स टू लेनिन') कार्ल काउतस्की, 'आयरन हील' (जैक लंडत) यूजिन पोतिल ('इंटरनेशनल' गीत) 'मार्सइमेज़' (फ्राँसो का राष्ट्रगान), लेनिन, बुखारिन, एग्बोर्ट प्रियर्स, हेनरी बात डाईक, 'हवोयर इज बिटेन मोहंग' (?)त्रात्सकी, स्काट नियरिंग (पावर्टी एंड रिचेज) कार्लाइल, 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' ए.सूसन लारेंस, 'लेसंस आफ अक्टूबर' (जात्सकी) 'पूँजी'(मार्क्स) तोम्भासो कैम्पानेलन, व्लादिमीर जी. सिखोविच, 'लेस मिज़रेब्लज़'(विक्टर ह्यूगो), 'हिन्दू पद पादशाही', दास्तावस्की ('अपराध और दंड') एडमंड बर्क, रिचर्ड हूकर, ब्लैकस्टोन, आस्टिन, हाब्स, ए.ई.रास, लालाजी (लाजपत राय) डॉ. टैगोर (रवीन्द्र नाथ), रूसो ('एमिली') 'हाउस आफ द डेड' (दास्तेवस्की), सुकरात, प्लेटो, एपीक्यूरस, हेलास, जेनो, रूटोइक, सेनेका, मार्क्यूस आटेलिशनज़, टामस ऐक्विनास, पादुआ का मार्सिलिओ ('डिकेंसर पैसिस') बेकन, मेकियावली, लॉक, हयूजिनात लेंगुएत, बुकानन, जेसुइट, ज्याँ बौंदे, अल्थूसियस, ग्रेटियस, जान मिल्टन, स्पिनोज़ा, पुकेंडोट, 'सोशल कांट्रेक्ट' (रूसो), दिदेरो, रेने कुलप मिलर (केस एंड काइंड आक बोल्शेविज़्म), मार्केव मोहाश (एशिया), लैन्सलाट लोटन (रशियन रिव्लुयश्न)... (लिटरेचर एंड रिवोल्यूशन), कार्ल ग्रीन (मार्क्स-लेनिन एंड साइंस आफ रिवोल्युशन), हेगेल, विपिन चन्द्र पाल, शिरील (इंडियन ...), मदन मोहन मालवीय, ओडवायर ('इंडिया एज़ माई न्यू हंट'), मांटफोर्ड रिपोर्ट, साइमन रिपोर्ट। (पृ. 279-356)

(111 लेखकों व अनेक रचनाओं का उल्लेख व उद्धरण)

(सभी उद्धरण व सन्दर्भ 'शहीद भगत सिंह : दस्तावेजों के आईने में' सम्पादक चमन लाल से)— प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली, संस्करण 2007

**('स्मृति वर्ष' स्तम्भ का इस कड़ी के साथ ही समापन किया जा रहा है—सं.)**

भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू
नयी दिल्ली - 110 067
मो. : 9868774820

# पहली परम्परा की खोज

## भगवान सिंह

**मैं 'पहली परम्परा की खोज'** लेखमाला आरम्भ करने के तीन चार साल पहले से इस ऊहापोह में था कि इसे प्रस्तुत किस तरह किया जा सकता है। कई बार लगा कि शायद मैं इसे अपने जीवनकाल में पूरा कर ही न सकूँ। वस्तु संयोजन से लेकर क्रमव्यवस्था की समस्या तो थी ही, इस बात का बोध भी था कि इसमें ऐसी बातें होंगी, जो हमारी ज्ञानव्यवस्था को छिन्न-भिन्न करेंगी। लेखमाला तो एक क्षणिक निर्णय था जिसका प्रस्ताव बिना इसकी रूपरेखा बताए रखा और कालिया जी ने बिना यह पूछे कि मैं किस विषय पर लिखने की सोच रहा हूँ स्वीकृति दे दी। अब तक के लेखों ने उनके विश्वास की रक्षा की होगी, ऐसा विश्वास है।

मैं सुधी विद्वानों की आलोचनात्मक टिप्पणियों के लिए आरम्भ से ही उत्सुक रहा हूँ और नया ज्ञानोदय के सम्पादक से मेरा अनुरोध रहा है कि वे प्रशंसात्मक पत्रों या टिप्पणियों को प्रकाशित न करें, परन्तु आलोचनात्मक टिप्पणियाँ आमन्त्रित भी करें और उन्हें प्रकाशित भी करें। उनके समाधान के क्रम में बहुत-सी धुन्ध छँटेगी, इसीलिए जिन भी लोगों को भाषा, पुरातत्त्व, इतिहास, साहित्य के ज्ञान के मामले में समर्थ मानता रहा हूँ उनसे व्यक्तिगत रूप से भी आलोचना के लिए अनुरोध करता रहा हूँ। इसी प्रयत्न का अंग था नया ज्ञानोदय के सम्पादक से यह अनुरोध कि वह आदरणीय श्री काशीराम शर्मा को प्रतियाँ सुलभ कराएँ और शर्मा जी से मेरा विशेष आग्रह रहा है कि संस्कृत अंशों की व्याख्या और आगे आने वाले वैदिक भाषा के विवेचन में मुझसे जो भी त्रुटियाँ हों उनसे मुझे और नया ज्ञानोदय के पाठकों को अवगत कराएँ।

शर्मा जी ने सम्भवत: यह सोच कर कि सार्वजनिक कठोर आलोचना से मैं खिन्न अनुभव कर सकता हूँ, सीधे सम्पादक को लिखने की अपेक्षा मुझे ही पत्र लिखे। राधावल्लभ जी ने अपनी असहमतियाँ मुझे भेजने के साथ सम्पादक को भी भेजी थीं जो अधिक सही तरीक़ा है। इन दो के अतिरिक्त केवल एक ही व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने पूरी स्पष्टता और अधिकार से कुछ प्रश्नों या विचार दृष्टि पर अपनी टिप्पणी और सुझाव दो बार रखे और आग्रह किया कि मैं उन पक्षों का भी ध्यान रखूँ, तो एकांगिता नहीं आने पाएगी। यह हैं, विख्यात उद्योगपति होते हुए भी, इतिहास का बहुत गहन ज्ञान रखने वाले, प्राचीन इतिहास में ही एम.ए. करने वाले और कभी भारत से यूनान और उसके द्वीपों तक पहुँच कर इतिहास की धरोहरों का अवलोकन करने वाले श्री आलोक जैन। दूसरे लोगों ने अभी तक संकोच बनाए रखा है। उनसे मुझे शिकायत है और मैं इन तीनों विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इन्होंने जो प्रश्न उठाये हैं, वैसे ही प्रश्न कतिपय दूसरे विद्वानों के मन में भी उठे हो सकते हैं। अत: इनको प्रकाश में लाना और इनके विषय में स्पष्टीकरण जरूरी लगा।

शर्मा जी ने आयु और अमावसु का जो अर्थ किया है उस पर मैं उनसे कुछ सीख ही सकता हूँ, विमति का प्रश्न नहीं उठता। यद्यपि विचार या विवेचन की भिन्नता के साथ दुराग्रह का आरोप उचित नहीं लगा। दुराग्रह आरोप है, जिसके साथ नीयत का खोट जुड़ जाता है। इसका प्रतिवाद भी लोग दुराग्रह का आरोप लगा कर ही करते हैं, जिसकी धृष्टता मैं शर्मा जी के साथ नहीं कर सकता। आलोक जी ने बहुत सन्तुलित पद का प्रयोग किया, एकांगिता। आशय था भारतकेन्द्रिता। दोनों की आशंकाएँ एक दूसरे का जवाब हैं।

शर्मा जी से कहीं कोई असावधानी अवश्य हुई है जिसे मुझसे अधिक अच्छी तरह वही जान सकते हैं। नामों का व्याकरण ऐसा हो गया है कि आयु और अमावसु के जोड़े बनाने पड़ गये। हमें अब भी लगता है कि 'आयुं च अमावसुं च जनयांचकार' का सीधा अर्थ 'आयु और अमावसु को जन्म दिया' है।

धातु-प्रत्यय-उपसर्ग क्रम से चलें तो गणभेद के साथ इस धातु के तीन अर्थ होते हैं— गति, इच्छा और प्राप्ति। शर्मा जी ने गति के अर्थ को ही लिया, इच्छा और प्राप्ति की ओर ध्यान नहीं दिया। 'सर्व आयुः एष्यति' का अर्थ है, 'पूर्णायुत्व प्राप्त करता है(करे)', क्योंकि यह 'क्षीणायुषो भूयः' के सन्दर्भ में आता है। इससे पहले उर्वशी अपनी सन्तानों को जीवित नहीं रहने देती थी। अर्थ सन्दर्भ से नियत होता है, निरे व्युत्पादन पर ज़ोर देने के कारण उन्हीं ऋचाओं के इतने विचित्र अर्थ किये गये हैं, और प्रकाण्ड विद्वानों द्वारा किये गये हैं, कि सिर चकरा जाए।

सीधा और निर्णायक अंश है 'प्राङ्. आयुः प्रवव्राज... प्रत्यङ्. अमावसुः', आयु ने पूर्व की ओर प्रव्रजन किया और अमावसु ने पश्चिम की ओर। इसमें प्रव्रजित हुए (प्रवव्राज) दोनों के सन्दर्भ में प्रयुक्त है, इसे हम पहले भी स्पष्ट कर आये हैं। पाद टिप्पणी में हमने स्वीकार किया है कि हमारा विटज़ेल का पाठ प्रो. ब्रजवासी लाल और विशाल अग्रवाल के लेखों पर आधारित है (पा. टि. 2) और साथ ही 'आयव' के अर्थनिर्धारण में जो खींच-तान होती रही है उसकी ओर संकेत देते हुए, सायणाचार्य और ग्रिफिथ के पाठ भी दिये हैं (पा. टि. 1)।

हम इस लेखमाला को यथासम्भव कम से कम बोझिल और अधिक से अधिक पठनीय बनाना चाहते हैं, परन्तु विश्वसनीयता की कीमत पर नहीं, अत: बहुत संक्षिप्त उद्धरण भी देते हैं। पूरा पाठ नहीं। शर्मा जी को इतना भरोसा रखना चाहिए था कि मैंने कथा को उर्वशी और पुरुरवा से सम्बन्धित बताया है तो इसका आधार होगा।

पश्चिमी विद्वानों को सिरे से ख़ारिज करना उचित नहीं लगता, यद्यपि

ऐसे वैदिक विद्वानों की पूरब-पश्चिम में कभी कमी नहीं रही जो अधिकारी नहीं माने जा सकते। कार्डोना, जिनका मैंने हवाला दिया था, ऐरे-गैरे विद्वान नहीं हैं, उनकी समकक्षता के वेदज्ञ और संस्कृतज्ञ कम हैं। कार्डोना के शब्दों में:

...The passage, part of a version of the Puruuravas and Urvas'ii legend, concerns two children that Urvas'ii bore and which were to attain their full life span, in contrast to the previous ones she had put away... Grammatical points also speak against Witzel's interpretation. First, if amaavasus is taken as amma 'at home' followed by a form of vas, this causes problems, the imperfect first plural of vas (present vasati, vasata.h vasanti etc.) would be amaavasan; the third plural aorist would be avaastu.h."

मैंने फरवरी 2008 अंक के लेख में हड़प्पा सभ्यता के सांस्कृतिक अवशेषों और आर्यभाषा के प्रसार क्षेत्र के सन्दर्भ में जिस विशाल क्षेत्र का उल्लेख किया है उससे कुछ शंकाओं का निराकरण हो जाना चाहिए। यद्यपि आलोक जी के कुछ प्रश्न, जिनमें असुर सभ्यता का पक्ष भी है, कभी आगे स्पष्ट हो पाएँगे। मैकाय ने हड़प्पा के सांस्कृतिक घटकों से समानता रखने वाले अवशेषों की एक लम्बी तालिका *फर्दर एक्सकैवेसन्स ऑफ मोहेंजोदड़ो* खंड 2 में दे रखी है जिनका प्रसार एक ओर तो आयोनिया सहित भूमध्य सागर के द्वीपों तक है दूसरी ओर मध्येशिया और पश्चिमी चीन तक है। हमारे पौराणिक विवरण में एक क्षीण स्मृति एक विशाल क्षेत्र की बची रही है जिसमें संस्कृतभाषियों का प्रसार हो चुका था। उसी में चीन, तुषार (तुखार, चीनी तुर्किस्तान), उत्तर कुरु, उत्तर मद्र, बाह्लीक आदि आते हैं। यदि कोई सभ्यता, भाषा या सांस्कृतिक उपादान किसी विशाल क्षेत्र में फैला मिलता हो तो यह तय करना ज़रूरी हो जाता है कि इनका प्रसार कहाँ से और किन गतिविधियों के चलते हुआ है। हमारे सामने इसके निर्धारण के जो मानदंड हैं वे इस प्रकार हैं:

1. यदि किन्हीं भौगोलिक संज्ञाओं को हम एकाधिक क्षेत्र में प्रयुक्त पाते हैं तो इनमें मूल संज्ञा उस क्षेत्र की हुई जिसमें विशेषण नहीं लगा है,और परवर्ती वह हुई जिसमें विशेषण मिलता है। पहले यार्क और बाद में न्यूयार्क, पहले जर्सी बाद में न्यू जर्सी, पहले गिनी फिर न्यू गिनी, पहले बंगाल फिर पूर्व बंगाल और पश्चिमी बंगाल आदि। इसी तर्क से उत्तर कुरु और उत्तर मद्र कुरु और मद्र क्षेत्रों के बाद में और यहाँ से वहाँ पहुँचे हुए लोगों द्वारा अभिहित हुए। अत: इसे निर्णायक प्रमाण माना जा सकता है कि आज के भूगोल के सन्दर्भ में देशान्तर और प्राचीन सन्दर्भों में दूर, परावत से भी आगे के रेगिस्तान (*य: परस्या: परावतस्तिरो धन्वातिरोचते*) और परम परावत (*परमस्या: परावत:,* 5.61.1), में जा कर बसने वाले कहाँ से कहाँ पहुँचे होंगे। ऋग्वेद में समुद्र पार (*समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे* 1.116.4; *अध यदेषां नियुत: परमा: समुद्रस्य चिद् धनयन्ति पारे,* 1.167.2 आदि), पर्वत और पर्वतपार (*आ रायो यन्तु पर्वतस्य रातौ,* 7.37.8; *नि पर्वत: ... दूरे पारे वाणीं वर्धयन्त,* 2.11.8) जाने वालों, वहाँ भाषा और संस्कृति का प्रसार करने और वहाँ की सम्पदा लाने वालों के हवाले मिलते हैं। पहले इनकी सायास उपेक्षा की जाती रही। उन्हें समुद्र से अपरिचित बताते हुए, स्पष्ट सन्दर्भों में भी समुद्र के इतर अर्थ किये जाते रहे।

2. मैकाय की तालिका में हड़प्पा के सांस्कृतिक उपादानों का प्रसार जिस विशाल क्षेत्र में दिखाई देता है वही भारतीय आर्यभाषा का प्रसार क्षेत्र भी है। यह इस समस्या के निर्धारण में सहायक हो सकता है कि हड़प्पा सभ्यता की भाषा क्या थी और भारतीय आर्यभाषा की व्याप्ति का कारण क्या है तथा प्रसार की दिशा क्या है। प्रवाह इस विशाल क्षेत्र से सिन्धु-सरस्वती क्षेत्र की ओर है अथवा इसके विपरीत।

3. नृतत्त्वविदों के एक दल (हेंफिल, लुकाच, कैनेडी) ने डेढ़ दशक पहले भारत, नेपाल, ईरान आदि के अनेक कालों के नरकंकालों का तुलनात्मक अध्ययन (Biological Adaptation and Affinities of Bronze Age Harappans, 1992) करने के बाद यह स्थापित किया कि 4500 ई.पू. से लेकर 800 ई.पू. तक दक्षिण एशिया में पश्चिम की ओर से कोई बड़ा आव्रजन नहीं हुआ, यद्यपि बहुत छोटे पैमाने पर आवाजाही बनी रही। यह आर्य आक्रमण की बात करने वालों के लिए बहुत बड़ा आघात था और अब आक्रमण की कहानी वे भी नहीं दुहराते जिनकी बालपोथियाँ दस साल पहले तक आर्यों के आक्रमण, रक्तपात और दमन की आँखों देखी कहानियों से भरी रहती थीं।

नये अध्ययनों, उत्खननों और शोधकार्यों से पुरानी स्थापनाएँ ही नहीं बदलती, उन स्थापनाओं को आधार बना कर लिखी गयी पुस्तकें भी इतिहास की चीज़ बन कर रह जाती हैं। यहाँ तक कि उनका खण्डन तक अनावश्यक विस्तार प्रतीत होता है। अत: इनके लेखकों की प्रकांड विद्वत्ता का सम्मान करते हुए भी इनको उलट-पलट कर किनारे रख देना होता है। राहुल जी, रांगेय राघव, भगवतशरण उपाध्याय आदि के विवेचनों की यही सीमा है। वासुदेवशरण अग्रवाल अकेले ऐसे व्यक्ति हैं जो इस प्रश्न पर अन्त तक ऊहापोह की स्थिति में रहे।

हम इसी मोटे दायरे के भीतर अपना विवेचन कर रहे हैं। इसमें हमें लिखित स्रोत के रूप में ऋग्वेद और ऋग्वेद की व्याख्या करने के प्रयत्न में प्राचीन श्रुत परम्परा से प्राप्त जातीय स्मृति के हवाले देने वाले ग्रन्थों का जिनमें से अनेक बहुत बाद में अपने वर्तमान रूप में आये हैं, सहारा लेना पड़ता है। जातीय स्मृति कैसे सुरक्षित रहती है इसका हम कुछ उदाहरणों से कभी विवेचन करेंगे। इस जातीय स्मृति के सार्थक अंशों को आसानी से पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए उपनिषद बहुत बाद में लिखे गये, पुराण उनसे भी बहुत बाद में, परन्तु यदि हम ऋग्वेद में जड़ें जमा चुकी पितृसत्ता को पाते हैं, बहु विवाह पाते हैं, और किसी उपनिषद में गालव के बहाने यह विवरण पाते हैं कि पहले पुरुष स्त्री जोड़े बना कर रहते थे और महाभारत में, जो बहुत बाद का है, यह विवरण पाते हैं कि पहले स्त्रियाँ स्वतन्त्र और स्वच्छन्द हुआ करती थीं, किसी पुराण में सतयुग के विवेचन में उस प्राचीन अवस्था का वर्णन पाते हैं जब किसी तरह की संस्था न थी, नियम न थे, रोक-टोक न थी, मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करता था तो हम इन स्मृति खण्डों को कालबद्ध भले न कर सकें, इनका पूर्वापर भेद अवश्य कर सकते हैं। इनमें बात प्राचीन अवस्थाओं के सन्दर्भ में की गयी है जो तर्कसंगत भी है।

स्पष्टीकरण लम्बा हो गया फिर भी कुछ बातें अनुत्तरित ही रह गयी

हो सकती हैं। ज़रूरी नहीं कि इनसे सभी शंकाओं का निवारण हो ही जाए। यदि ऐसा हो भी जाए तो ज़रूरी नहीं कि आगे हमसे कोई चूक न हो। अतः हमारा अनुरोध है कि शर्मा जी, आलोक जी, राधावल्लभ जी और दूसरे बन्धु जहाँ कोई बात खटके वहाँ अपनी आपत्तियों से अवगत कराते रहें। हम उनके निराकरण का भी प्रयत्न करेंगे।

ए/6 सिटी एपार्टमेंट्स, वसुन्धरा
नयी दिल्ली - 110 096

## व्याख्या की अपेक्षा

ई. पूर्व आठवीं सदी में 'वासुदेव' शब्द के पाणिनीय प्रयोग का हवाला देकर आर.डी. भंडारकर ने सूचित किया है कि वासुदेव को आराध्य मानकर भागवत धर्म पूर्णतः प्रचलन में था। भगवान सिंह उसे ऋग्वेद के समय में ले गये। इस आलोक में कुछ सवाल मेरे मन में उपजते हैं—

1. असुरों ने भजन कीर्तन के लिए सुरों के बीच से आराध्य-चयन किया था? देव-संस्कृति में रच-पच जाने के बाद भी असुर? क्या असुरों में कोई आराध्य नहीं था?

2. भक्ति की इतनी प्राचीन पद्धति है और हिन्दी आलोचक आज भी इस मिथक के शिकार हैं? 'लाए रामानन्द?' बिचारे धर्मवीर, कबीर को दलितों का नया धर्म-प्रणेता स्वीकार कराने की छटपटाहट में मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' की पीड़ा से गुज़र रहे हैं। क्या गुनाह है तुलसीदास का? वे हरि भगति-पथ को श्रुति-सम्मत कहते हैं और झपिलाए जाते हैं? भगवान सिंह के अनुसार ऋग्वेद के समय से ही भक्ति-पद्धति है।

3. क्या भगवान सिंह मुक्तिबोध की इस मान्यता का पुनः मूल्यांकन करेंगे कि भक्ति पहले नीची जाति के सन्तों में निर्गुण रूप में उपजी थी, बाद में सवर्णों ने उसकी क्रान्तिधर्मिता को पहचानकर अपनाया था लेकिन उसमें कृष्ण-कथा की रास-लीला भर करके उसके क्रान्तिकारी दाँत उखाड़ लिये थे। इस मान्यता को दूसरी परम्परा की खोज में भरपूर जगह मिली है। कहाँ आलवार? कहाँ रामानन्द? और कहाँ ऋग्वेद के समय में ही असुर प्रणीत भक्ति-पथ? तथा आर.डी. भंडारकर कथित ई.पू. आठवीं सदी का वासुदेव शब्द-प्रयोग?

उम्मीद की जाए कि भक्ति-भावना के इस पुरातन मापदंड से, हिन्दी-साहित्य ही नहीं पूरे भारतीय साहित्य के इतिहास का लेखन किया जाएगा?

4. उन पौराणिक आख्यानों की भी मार्मिक व्याख्या की जाएगी, जिनमें सुर-असुर में केवल माताओं का अन्तर है, पिता एक हैं। कश्यप पिता : अदिति और दिति माताएँ। पौराणिक कथाओं में वैदिक साहित्य के वर्चस्वी इन्द्र की चारित्रिक कमजोरियों का विशेष रूप से उल्लेख है; वे एक स्वर्ग-लोलुप, तपस्या विरोधी दिखाये गये हैं। पचासों कहानियाँ उनके चरित्र-चाल और चिन्तन के गर्हित स्वरूप की चर्चा करती हैं। बलि-कथा की व्याख्या करने वाले भगवान सिंह को इस कथा की भी व्याख्या करनी होगी जिसमें बलि को छलनेवाले भगवान उनके द्वारपाल बनते हैं और व्यवस्था देते हैं कि अगले मन्वन्तर में बलि, इन्द्र पद पर आसीन होंगे।

5. पश्चिमी बिहार तक देव भूमि का भूगोल फैलानेवालों को उन विद्वानों के मत की समीक्षा करनी होगी, जिसमें लंका की स्थिति बलिया में है। राम-रावण युद्ध कोशलो-मागधों के बीच का संघर्ष है। रामविलास शर्मा भी इस स्वर में स्वर मिलाते हैं, 'ऋग्वेद और पश्चिम एशिया' में वह स्वर बदला हुआ है।

6. रावण के यहाँ वेद पाठ होता था, महापंडित-महाबली रावण परस्त्री हरण के कारण, राक्षस की कोटि में है। 'उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती' शिव आराधक है; उसके द्वारा निर्मित शिव-स्तुति सर्वजन-ग्राह्य है, रावण की छवि उसकी स्तुति की प्रियता में कहीं बाधक नहीं है।

7. जरासंध असुर स्वीकार किया जाता है, कंस उसका दामाद है। कंस, कृष्ण का मामा है। कृष्ण की बुआ का पुत्र है शिशुपाल, वह असुर है। बुआ-पुत्र अर्जुन क्षत्रिय है। श्रीकृष्ण को पूर्णअवतार घोषित करनेवाली परम्परा पहली है, दूसरी है या तीसरी? श्रीकृष्ण के स्वयं के विवाहों और उनके नाती-पोतों-बेटों के विवाह में जो व्यतिक्रम नज़र आता है, वह पहली (?) परम्परा के मानदंडों पर अग्राह्य है।

ऐसे सैकड़ों सवाल आज व्याख्या की अपेक्षा में उग्र हैं। भगवान सिंह जी इनका समाधान करेंगे!

*डॉ. महेन्द्र नाथ पांडेय, गोंडा*

## देवलोक का भूगोल

'नया ज्ञानोदय' जनवरी 2008, अंक में 'देवलोक का भूगोल' खोजपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। इस विषय पर मैंने काफ़ी पढ़ाई, मनन किया है। भगत सिंह जी ने श्रद्धालुजनों की भावना का कदर करते हुए अपनी शोध का सार दिया है।

*दयानन्द वर्मा, नयी दिल्ली*

## क़ाबिले-तारीफ़ काम किया है

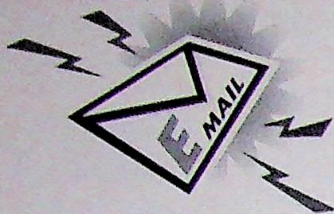
भगवान सिंह ने अपने 'ब्राह्मणः कस्य मुखमासीत्' शीर्षक आलेख में क़ाबिले तारीफ़ काम किया है।

ज्ञातव्य है कि समाज में आज भी केवल और केवल अस्पृश्य जाति के लोगों के नामों के संग ही 'टाइटल' के रूप में 'राम' जैसे शब्द का जहाँ उपयोग होता है, वहीं दूसरी ओर, 'तौबा-तौबा' के तर्ज पर भी कुछ लोग 'राम-राम' जैसे शब्दों का उच्चारण करते पाये जाते हैं।

बहरहाल, श्री सिंह द्वारा अपने आलेख में उठाया गया यह प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि 'ऋग्वेद के सबसे अधिक सूक्तों के ऋषि वे हैं, जिनकी जड़ें असुर समाज में हैं। फिर देव समाज के प्रतिनिधि कौन हैं?'

कहना ना होगा कि आदि धर्म, जिसे अपभ्रंशों के रूप में आज-कल हिन्दू धर्म के नाम से जाना जाता है, की नीतियों के तहत देव अर्थात सुर के संगसंग असुर गणों को भी ब्रह्म का ही रूप-प्रतिनिधि माना जाता है।

*अमरेश कुमार 'पप्पू', बिहार*




# प्रेमचन्द की परम्परा और शिवमूर्ति

मीनाक्षी जोशी



**जनवरी '08 अंक बहुत देर** से ही, पर मिला अवश्य। पत्रिका हाथ में लेते ही मुख पृष्ठ पर नज़रें इस तरह जम गयीं कि हटने का नाम ही नहीं ले रही थीं। इतना आकर्षक एवं मनमोहक चित्र, जितनी बार देखा, उतना ही नया लगता, देखकर मन ही नहीं भरता।

इस अंक में प्रकाशित शिवमूर्ति का उपन्यास 'आख़िरी छलाँग' पढ़ना शुरू किया तो एक बार में पूरा पढ़कर चैन मिला। उपन्यास पढ़ते हुए अनेक बार प्रेमचन्द के उपन्यासों की याद आयी। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा भी महसूस हुआ कि प्रेमचन्द को ही पढ़ रही हूँ। भाषा-प्रयोग (कुछ विशेष संवादों में) अवश्य ही अलग दिखाई दिया। सपाट और बेलौस शब्द प्रयोग। इन्हीं शब्दों का प्रयोग यदि प्रेमचन्द ने अपने समय में किया होता तो उन्हें अश्लीलता के कटघरे में खड़े करनेवालों की कमी नहीं होती। रहा सवाल कथ्य का। शिवमूर्ति ने इस उपन्यास में लगभग उन सभी समस्याओं को उठाया है, जिसे प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य का विषय बनाया था। मसलन, किसानों की आर्थिक दशा एवं उनका शोषण, दहेज़ की समस्या, निरक्षरता, वर्गभेद आदि। बावजूद इन सबके, कथानक को युग सन्दर्भ में सार्थक बनाने वाला जो तथ्य उल्लेखनीय है वह है— अनुभूति की वह मार्मिकता, बच्चों को डॉक्टर, इंजीनियर बनाने का स्वप्न देखने वाले निम्न मध्यमवर्गीय माता-पिता की तार-तार होती मनोदशा का चित्रण। केवल सत्रह दिन में, सारी अनुभूतियों को समेटकर, उन्हें शब्दांकित करने में शिवमूर्ति जी को जो सफलता प्राप्त हुई है, उसके लिए जितनी बधाई दी जाए या प्रशंसा किया जाए कम है। केवल समस्याओं का चित्रण नहीं उनसे जूझने का मार्ग भी उन्होंने प्रशस्त किया है।

सुशील सिद्धार्थ से बातचीत में उनका कहना— ''प्रेमचन्द के यहाँ भी खेती के खर्चे, लागत, नफ़े मुनाफ़े का अर्थशास्त्र कहाँ है? सामान्यताओं का बढ़िया चित्रण है... बहुत कुछ था देखने-लिखने को उनके पास जो रह गया।'' मेरी समझ में नहीं आया। शिवमूर्ति क्या चाहते हैं? जबकि प्रेमचन्द ने बहुत पहले हमें किसानों की दयनीय स्थिति से अवगत कराया था। वे स्वयं ग्रामीण किसान थे। किसानों की ज़िन्दगी का गहरा साक्षात्कार किया था उन्होंने। ज़मींदारों, साहूकारों तथा सरकारी अधिकारियों का मारा, दीनहीन, रोज़ मृत्यु से जूझता, ग़रीब किसान प्रेमचन्द की संवेदना के रेशे-रेशे में घुल गया था। धरती की बंजरता से टकराकर मौसम के प्रहारों के बीच कर्ज़ में डूबी किसान की सूखी हुई ज़िन्दगी एक ओर, तथा दूसरी ओर मखमली गद्दियों में आदेशों और आशीर्वादों के सहारे जीनेवालों का अन्तर प्रेमचन्द की आँखों के सामने था। एक ओर गाँवों की रूढ़ियों, गुलामी, जड़ता, कायरता, शोषण के नये-नये पैंतरे तथा दूसरी ओर इनके खिलाफ़ सुगबुगाते नये स्वप्नों का मर्म। हतभागे किसानों के लिए प्रेमचन्द की संवेदना देखिए— ''भारत के अस्सी फीसदी आदमी खेती करते हैं। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फ़ौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमाई के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, भर पेट अन्न को तरसते हैं, जाड़े-पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं... हमें परिस्थिति में कुछ ऐसा परिवर्तन करने की ज़रूरत है कि किसान सुखी और स्वस्थ रहे... अगर उसकी आर्थिक दशा ही ठीक न हुई तो दूसरों की भी अच्छी नहीं हो सकती।'' (जागरण, 19 दिसम्बर 1932)

मैं किसी भी रूप से शिवमूर्ति एवं प्रेमचन्द की तुलना नहीं कर रही। यदि प्रेमचन्द ने समस्याओं का चित्रण किया है, तो उससे उबरने के लिए प्रेरित भी किया है, किन्तु वह पक्ष दबा-दबा ही रहा। शिवमूर्ति ने समस्याओं को गौण तथा उससे निकलने की प्रेरणा को प्रमुख स्थान दिया है।

शिवमूर्ति के उपन्यास का 'बीज' उनके प्रिय मित्र वर्मा जी का वह संकट है जिसमें दो समस्याएँ उजागर हुई हैं। एक बेटे को इंजीनियर बनाने का भारी खर्च, दूसरे बेटी के विवाह हेतु दहेज़ का प्रबन्ध। इन्हीं दोनों समस्याओं से आज भी देश के सत्तर प्रतिशत लोग जूझ रहे हैं। पिसते चले जा रहे हैं सामाजिक परम्पराओं के जाल में। कथाकार चाहता है कि अब इस जाल से निकलने के लिए जागरूकता और साहस भरी एक छलाँग, फिर चाहे वह अन्तिम ही क्यों न हो, लगाई जाए। यद्यपि इस छलाँग का प्रयास प्रेमचन्द ने भी किया।

प्रेमचन्द के संघर्षशील पात्र भी समाज के सामन्ती-महाजनी परम्पराओं को चुनौती देते हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं— ''पुराने जीवन सिद्धान्त में वह लट्ठमार साफ़गोई नहीं है जो निर्लज्जता कही जा सकती है और जो इस नवीन सिद्धान्त की आत्मा है, जहाँ लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसों का मामला है, वहाँ न दोस्ती का गुजर है, न मुरव्वत का, न इंसानियत का।... इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नयी रीति-नीतियाँ चलाई हैं उनमें सबसे घातक और रक्त-पिपासु यही व्यवसायवाला सिद्धान्त है।''

इस तरह के तथ्यों से क्या यह सन्देह रह जाता है कि प्रेमचन्द का मानवतावाद अपरिभाषित था, उन्होंने समाज की कमज़ोरियाँ नहीं पहचान ली थीं, उन्हें सभ्यता का नवोदय ज्ञात नहीं था? वे समाज के आर्थिक आधार को नहीं समझते थे? उनकी कला वर्ग चेतना पर आधारित नहीं थी? प्रेमचन्द की दो-पाँच रचनाओं अथवा आठ-दस वाक्यों के आधार पर उनका मूल्यांकन निस्सन्देह अधूरा

## आख़िरी छलाँग और देश निकाला

'नया ज्ञानोदय' हर अंक में नयी आभा लिये आ रहा है। जनवरी अंक में शिवमूर्ति का उपन्यास 'आख़िरी छलाँग' महत्त्वपूर्ण है, तो फरवरी अंक में धीरेन्द्र अस्थाना का 'देश निकाला'। आपके सम्पादन में कई नये प्रयोग हुए जो कि पूर्णतः सफल व चर्चित रहे। इस हेतु आपको ढेर सारी बधाई।!

*ओम नागर, राजस्थान*

है। एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह भी है कि प्रेमचन्द के बाद के कथाकारों ने प्रेमचन्द के यथार्थ और संघर्षशील पात्रों के संघर्ष को कितना और किस रूप में आगे बढ़ाया है? हमें विचार करना होगा कि आज उनके किस रूप को जनता के सामने रखा जाए ताकि उनके साहित्य की एक वास्तविक और प्रासंगिक तस्वीर उभरे; साथ ही जनवादी आन्दोलन को मदद पहुँचे। इस दृष्टि से शिवमूर्ति की 'आखिर छलाँग' पूर्णतः सार्थक एवं सफल है।

*भंडारा (महाराष्ट्र*

## ख़ुद को हीरो नहीं बनाते

'नया ज्ञानोदय' जनवरी 2008, 'जीते जी' किसी रचनाकार की रचनाओं और उनके व्यक्तित्व को बौद्धिकता के व्यापक फलक पर देखना, निश्चय ही उनके लिए एक 'सुखद पुरस्कार' है। शिवमूर्ति जी के व्यक्तित्व और कृतित्व से हम भी मुग्ध रहे हैं। याद है वह दिन, जब 'कथा कोसी' वर्ष 1991, कटिहार (बिहार) के आयोजन में जाने-माने साहित्यिक हस्तियों में राजेन्द्र यादव, गिरिराज किशोर, निर्मला जैन, शिवमूर्ति, प्रियवंद, संजीव, गौतम सान्याल, अमरीक सिंह दीप, विजय, विभांशु दिव्याल, से.रा. यात्री जैसे रचनाकार उपथित थे। और मेरे जैसे पाठक उन नामवर रचनाकारों के साथ-साथ शिवमूर्ति जी से भी मुख़ातिब थे। बातों ही बातों में शिवमूर्ति जी कहते हैं— "साहित्य जीवन में झाँकने का मौक़ा देता है। जहाँ हमारी संवेदना बची रहें...।" यह अनुगूँज आज भी मेरी स्मृतियों में धरोहर की तरह है। दयानन्द पांडेय जी का यह कथन शिवमूर्ति जी के रचनात्मक कद को ऊँचा करता है कि "शिवमूर्ति अपनी कहानियों में ख़ुद को हिरो नहीं बनाते। हाँ, उनकी कहानियाँ उन्हें हिरो बनाती हैं।" 'तिरियाचरित्तर', 'तर्पण' इस सच से भी आगे निकल जाती हैं।

इस अंक में अमरीक सिंह दीप की कहानी काफ़ी अच्छी लगी। प्रांजल धर की रचना बतौर एक प्रहार है, जिनसे मीडिया के छद्म और उनके ढाल बच नहीं सकते।

*अरुण अभिषेक, पूर्णियाँ*

## किसानों का क्रन्दन

'नया ज्ञानोदय' का नववर्षांक लगभग तीन-चार दफ़े पढ़ गया हूँ। बिना ढिंढ़ोरा पीटे निकाले गये इस किसान-विशेषांक के लिए आपको असंख्य साधुवाद। किसानों के करुण-क्रन्दन को भारतीय साहित्य की मुख्यधारा के विमर्श का केन्द्रीय विषय बनाने के आपके स्तुत्य प्रयास का बारम्बार अभिनन्दन।

श्री शिवमूर्ति का उपन्यास दुबारा मैंने अपने उस सबसे उपजाऊ डेढ़ बिगहवा खेत के कुएँ की मेड़ पर बैठकर पढ़ा, जिसे इस बार भी मैं बो न सका। इस बार मेरे सारे खेत परती हैं। भदई में भी परती थे। सात बीघे के आसपास दो फ़सली उपजाऊ खेतों का मालिक हूँ। आज से दस साल पहले इन्हीं खेतों से बड़े आराम से बीस हज़ार रुपये तक की आमदनी हो जाती थी। पाँच साल पहले शून्य पर आ गयी, और फिर घाटे का जो चक्र आरम्भ हुआ तो प्रतिवर्ष लगभग उतने की ही हानि होने लगी। फिर भी, पैसे होते तो खेती ज़रूर करता क्योंकि किसी किसान के लिए परती खेत का रह जाना वैसा ही पीड़ादायक है, जैसा कि पैसों के अभाव में कन्या का कुँवारी रह जाना।

श्री शिवमूर्ति ने अपने साक्षात्कार के क्रम में कृषक कथा लेखकों में श्री मधुकर सिंह का भी नाम गिनाया है। वह सचमुच में एक सिद्धहस्त लेखक हैं। सक्रिय कार्यकर्ता भी हैं। आज का हिन्दी साहित्य महानगर ख़ासकर दिल्ली केन्द्रित है। बिहारी रचनाकार प्रतिभा सम्पन्नता के बावजूद आसानी से राष्ट्रीय फलक पर नहीं उभर पाते। श्री मधुकर सिंह बिहार के सर्वश्रेष्ठ ग्राम्य-संवेदना के कथाकार हैं, जिनको भी जगह ज़रूर मिलनी चाहिए। यदि आप कभी श्री मधुकर सिंह के कृतित्व पर केन्द्रित कोई अंक निकाल सकें तो वह भी एक नमनीय पहल सिद्ध होगी।

पुनश्चः श्री शिमूर्ति की कहानी पर आज 'प्रभात खबर' (22.1.08) के सम्पादकीय पृष्ठ पर रविभूषण जी का एक विचारोत्तेजक आलेख प्रकाशित हुआ है।

*अविनाश नागदंश, छपरा (बिहार)*

## अंक की उपलब्धि

'नया ज्ञानोदय' का जनवरी अंक पढ़ा। शिवमूर्ति का उपन्यास 'आख़िरी छलाँग' वाक़ई इस अंक की उपलब्धि है। लगभग बीस बरस भये उनकी कहानी 'भरतनाट्यम' पढ़ी थी। सच और परिकल्पना के ताने-बाने से बुनी गयी यह कहानी एक पढ़े-लिखे ग्रामीण, पढ़े-लिखे बेरोज़गार युवक के दुख और गुस्से को परत-दर-परत खोलती थी। परिवार, सामाजिक सम्बन्ध और प्रेम— सब किस क़दर रोटी-रोज़गार से बँधे हैं— इसका निर्मम आख्यान भी यह कहानी, अभावग्रस्त इस कहानी का नायक अन्त में पागल-सा हो जाता है।

विषयवस्तु के चुनाव और भाषा-शैली की दृष्टि से 'आख़िरी छलाँग' भी गाँव की मिट्टी से बने ईंट-गारे से निर्मित रचना है। लेकिन विचार की दृष्टि से उससे कहीं आगे। भरतनाट्यम के बेरोज़गार युवा को अपनी मुश्किलों से निकलने का रास्ता नहीं सूझता जबकि आख़िरी छलाँग के पहलवान रास्ता पा जाते हैं। भरतनाट्यम का बेरोज़गार ज्यों-ज्यों पढ़ता है समाज से कटता जाता है मगर पहलवान की जड़ें अपने समाज और उसकी हलचलों में हैं। शायद इसी कारण वे हताशा से बचे रहते हैं। उपन्यास के लिए शिवमूर्ति को बधाई!

उपन्यास की ही तरह पावरफुल है उन पर लिखा गया संजीवाना संस्मरण— 'जीने का शिवमूर्तियाना अन्दाज़'। यह शिवमूर्ति, उनके घर और उनके साहित्य— किसी को नहीं बख़्शता। धर्मवीर भारती तथा नेल्सन मंडेला के प्रेमपत्र और पद्मा सचदेव का त्रिलोचन पर संस्मरण, सुन्दर हैं। अमरीक सिंह दीप की कहानी 'काली बिल्ली' और सन्तोष दीक्षित की कहानी 'मर्दानी' स्त्रियों की विपुल आन्तरिक शक्ति और उनके समाज द्वारा अवमूल्यन को बख़ूबी दर्शाती है।

कविताएँ और बाक़ी सामग्री सन्तोषजनक हैं। पर पाठकों के पन्ने कहाँ चले गये? बिना पाठकों के पत्रिका कैसी?

*मदन पांडेय, ऋषिकेश*

## कृषक जीवन का बीजगणितीय यथार्थ

'नया ज्ञानोदय' जनवरी 2008, शिवमूर्ति उपन्यास 'आख़िरी छलाँग' दो सिटिंग में पढ़ा, हालाँकि ये उपन्यास एक सिटिंग में पढ़ने योग्य था। जीवन का यथार्थ और यू.पी. का ग्रामीण यथार्थ शिवमूर्ति ने बख़ूबी चित्रित किया है। मैं इसको कृषक जीवन का बीजगणितीय यथार्थ कहूँगा जो वैश्वीकरण से जुड़ा हुआ है।

मैं इसका पंजाबी में अनुवाद करके अपनी पत्रिका 'महरम' में दो अंकों (मार्च-अप्रैल) में प्रकाशित करने की प्रसन्नता ले रहा हूँ।

*बी.एस. बीर, पंजाब*

## नववर्ष का उत्तम उपहार

जनवरी 08 का 'नया ज्ञानोदय' पढ़ा। शिवमूर्ति का लघु उपन्यास 'आख़िरी छलाँग' नव वर्ष का उत्तम उपहार है। गाँव की पृष्ठभूमि पर लिखा यह उपन्यास भूमंडलीकरण के इस दौर में किसानों की विपन्नता का एक भयावह चित्र प्रस्तुत करता है। शिवमूर्ति जी से दस-ग्यारह वर्ष पूर्व चित्रकूट में मिलने का सौभाग्य मिला था। भाई अमरीक सिंह दीप और मैं, तीन दिन उनके साथ रहे। लगता है जैसे अभी कल की ही बात हो। संजीव जी ने उनके व्यक्तित्व का बहुत भावपूर्ण चित्रण किया है।

एक बार फिर 'आख़िरी छलाँग' के लिए आभार और धीरेन्द्र अस्थाना के उपन्यास 'देश निकाला' के इन्तज़ार में।

*गोविन्द उपाध्याय, कानपुर*

## देश निकाला : ग्लैमर की दुनिया



धीरेन्द्र अस्थाना का उपन्यास 'देश निकाला' मुम्बई की फ़िल्मी दुनिया की अंतरंग प्रकृति से रूबरू करवाता है। इसके पूर्व किशन चन्दर, सत्येन्द्र शरत, अश्क (मस्केबाजों का स्वर्ग) अपनी लेखनी से इस दुनिया की झाँकी दिखा चुके हैं, लेकिन अस्थाना ने (आपके ही शब्दों में) 'कुछ और प्रासंगिक मुद्दे उठाए हैं।' से मुझे रंगमंच से फ़िल्मी दुनिया की ओर अभिनेताओं के पलायन, रंगकर्म से जुड़े लोगों की आर्थिक स्थिति, अहंकेन्द्रित फ़िल्मी दुनिया के दाँवपेंच, मीडिया और फ़िल्मी जगत आदि से जुड़े हैं। मेरे विचार से अस्थाना जी ने इस उपन्यास में दो महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाए हैं —1. धनसंग्रह के पीछे अन्धी दौड़ से क्या मिलेगा (टालस्टाय की कहानी 'आदमी को कितनी ज़मीन चाहिए' याद आती है)। 2. दम्पति के लिए सन्तान का महत्त्व, जो उसे अमरता प्रदान करता है। नायक का नाम गौतम भले हों— नायिका मल्लिका है और 'आषाढ़ का एक दिन' (राकेश) अचानक याद आ जाता है। दोनों मल्लिकाएँ ईमानदार और निष्पाप हैं और दोनों पुरुषों के द्वारा छली जाती हैं। अस्थाना जी के साथ आप भी बधाई के पात्र हैं। पिछले वर्षों मुम्बई में कहर ढानेवाली बरसात का भी ठीक से उपयोग किया गया है। गुलज़ार और राखी का दाम्पत्य भी याद आता है। अस्थाना का फ़िल्मी जगत विश्वसनीय है। रोचकता है, जिज्ञासा है, सस्पेंस है। इस उपन्यास पर अच्छी फ़िल्म बन सकती है, लेकिन विदेशी फ़िल्मों और उपन्यासों से कहानी चुरानेवाले भला 'देश निकाला' पर क्यों ध्यान देंगे?

*डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र, नागपुर विश्वविद्यालय*

## मार्मिक, अर्थपूर्ण और सार्थक

'नया ज्ञानोदय' का जनवरी अंक हस्तगत हुआ। कवि त्रिलोचन का जाना हिन्दी जगत के लिए अपूर्णीय क्षति है। पद्मा सचदेव जी का त्रिलोचन जी पर केन्द्रित संस्मरण बहुत बढ़िया लगा। धर्मवीर भारती जी का अपनी पत्नी को लिखा गया पत्र साहित्य के लिए एक धरोहर है। सृजन 2007 के अन्तर्गत एक ही जगह पर काफ़ी रचनाओं के बारे में जानने का मौक़ा मिला।

शिवमूर्ति का उपन्यास 'आख़िरी छलाँग' और उनकी कहानी 'सिरी उपमा जोग' अत्यधिक मार्मिक और संवेदनाओं से परिपूर्ण है। शिवमूर्ति जी ने आज के समाज का बढ़िया चित्र खींचा है— देसवा होइ गवा सुखारी हम भिखारी रहि गये। सुशील सिद्धार्थ की बातचीत बहुत ही अर्थपूर्ण एवं सारगर्भित थी। 'नया ज्ञानोदय' ने मीडिया के सन्दर्भ में बहुत बेहतरीन लेख दिये हैं। समसामयिक तथ्यों और घटनाओं को समेटता हुआ लेख 'मीडिया में भटकती न्यूज़ वैल्यू' बेहद विचारपरक और विश्लेषणयुक्त हैं। मीडिया विमर्श पर अँग्रेज़ी भाषा का एकाधिकार रहा है लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि नया ज्ञानोदय का मीडिया विमर्श अँग्रेज़ी के तमाम विमर्शों से श्रेष्ठतर है। कविताओं में एक त्रिलोचन जी को छोड़कर बाक़ी कविताएँ बेहद औसत थीं।

*अमितेश्वर पांडेय, कमला नगर, दिल्ली*

## शहीदों के नाम की दुकान

'नया ज्ञानोदय' जनवरी 2008, अंक देखा। त्रिलोचनजी के साथ पद्माजी की स्मृतियाँ अनूठी थीं। 'देवलोक का भूगोल' आलेख का विस्तार तो एक पुस्तक के रूप में होना चाहिए। शेष सभी रचनाएँ पत्रिका के स्तर व गरिमा के अनुरूप थीं, लेकिन यह देखना दुखद था कि शहीदों के नाम पर दुकान खोलनेवालों ने 'नया ज्ञानोदय' को भी नहीं बख़्शा। सरदार भगत सिंह के सभी प्रमुख आलेख व पत्र 20 साल पहले भगत सिंह के साथ रहे शिव वर्मा संकलित व प्रकाशित कर चुके थे। भगत सिंह के सभी आलेख इंटरनेट पर भी सुलभ हैं।

*पंकज चतुर्वेदी, नयी दिल्ली*

# महँगाई से लड़ाई

## ज्ञान चतुर्वेदी

सरकार ने कहा है कि वह महँगाई से लड़ेगी।

पर अपने पाठक जी सरकार के भरोसे नहीं बैठे हैं।

पाठक जी अपने तौर पर लड़ रहे हैं।

वास्तव में पाठक जी तो दुतरफा लड़ाई लड़ रहे हैं— ग़रीबी से भी और महँगाई से भी। उन्हें रिटायर हुए दस वर्ष होंगे। एक बेटा। नालायक तो ख़ैर नहीं निकला, परन्तु बेरोज़गार निकल जाने के कारण अन्ततः नालायक ही कहाएगा क्योंकि इस दुनिया में मात्र लायक होना तो रोज़गार की गारंटी नहीं है, पर बेरोज़गार होना नालायकी की सनद अवश्य मानी जाती है। एक लड़की थी। उसकी शादी में सारा प्रोविडेन्ट फंड निबट गया। पत्नी बीमार रहती है। बीमारी कुछ ऐसी कि मरती भी नहीं, और उसका जीना दिनोंदिन महँगा होता गया है। मेडिकल साइंस ने तरक्की तो अवश्य की है, पर दवाइयाँ इतनी महँगी। एक छोटा सा घर है। किराये का इसी ग़रीब-सी गली में। नित्य सुबह उठकर पूजा करते हैं, दो घंटे तक। भगवान तो ख़ैर क्या सुनता पर पाठक जी को इस टोटके से एक आशा अवश्य बँधी रहती है कि पूजा के फलस्वरूप, क्या पता कि कभी कहीं कोई चमत्कार हो ही जास। कहीं खोदें और गड़ा हुआ सोने का कलश निकल आये या लाटरी वाटरी। ऐसी ही असम्भव और निरर्थक आशाएँ। क्या करें। ग़रीबी का डरावना यथार्थ सामने है। चक्कर यह भी है कि वे दिनोंदिन और ग़रीब होते जा रहे हैं। महँगाई बढ़े, तो ग़रीबी अपने आप बढ़ जाती है। ऐसे में निरर्थक आशाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि वे भी अन्ततः आशा ही तो हैं।

इधर महँगाई बढ़ी है।

और इन दिनों पाठक जी ही ज़्यादा ही सात्विक हो गये हैं। खाना बिना प्याज का खाते हैं। पंडित होने के कारण नहीं। दरअसल प्याज इतना महँगा कि सात्विक होने में ही भलाई। उन्होंने पाया है कि बिना प्याज की दाल-सब्जी भी ख़ासी स्वादिष्ट लगती है। बस, आदमी को इन बेस्वाद चीज़ों का अपना स्वाद पैदा करना होता है। फिर तो आदत सी हो जाती है। आख़िर यही पाठक जी वर्षों से पनीली दाल और सब्जी के दो टुकड़ों में ढेर-सा पानी डालकर बनायी पनीली सब्जी को कैसा स्वाद लेकर खाया करते हैं, कभी यह नज़ारा देखिये तो उनसे रश्क करने लगेंगे। तो माना कि सब्जी और दालें महँगी हैं, परन्तु उनसे लड़ने के शस्त्र भी पाठक जी ने खोज़ लिये हैं। पाठक जी का छोटा-सा घर, शस्त्रागार बना हुआ है महँगाई से लोहा लेने के लिए। जज़्बा है उनमें। महँगाई से लड़ने का। वह न होता तो मर गये होते, कभी के।

वैसे पिछले वर्ष पेन्शन बढ़ गयी पाठक जी की। जितनी भी बढ़ी हो, पर बढ़ी तो ना। परन्तु पाठक जी जब तक घर जाकर पत्नी के साथ इस खुशी को शेयर कर पाते, तब तक सरकार ने अचानक ही डीजल के भाव बढ़ा दिये। बाज़ार में मानो आग लग गयी। पैसे बढ़ने की खुशी को बरदाश्त करने की तैयारी कर ही रहे थे कि वह चिन्ता ही ख़त्म हो गयी। वैसे डीजल या पेट्रोल से यूँ तो कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है पाठक जी का। कार, स्कूटर तो है नहीं। कभी रखा ही नहीं। ख़ूब पैदल चलते हैं वे। कहते हैं कि इससे उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है। दूर-दूर तक पैदल ही जाते हैं। कभी बस या टेम्पू। बस। इधर टेम्पू वालों ने सदर तक जाने के लिए किराया अचानक ही तीन रुपये के पाँच रुपये कर दिया। कहते हैं कि डीजल महँगा हो गया है। सो पाठक जी तो अब वहाँ तक भी पैदल ही जाते हैं। देखने वाले पूछ लें तो हँसकर यही कहते हैं कि पैदल चलने से जोड़ ठीक रहेंगे भैया और टाइम भी कटता है, वरना तो रिटायर्ड आदमी को तो समय काटना भी एक समस्या। पर सच्ची बात यह कि हाँफ जाते हैं आजकल। रुक-रुक चलना होता है। इसी तरह रुक-रुक के महँगाई से लड़ते हैं। जब वे पैदल चलकर हाँफते हुए घर लौटते हैं, तब ठीक उस योद्धा से प्रतीत होते है जो दुश्मन से लड़कर शाम को अपने शिविर में वापस लहूलुहान लौट रहा हो।

अभी उस दिन वे कहीं अपने ही जैसे अन्य बूढ़ों के बीच बैठकर साबुन की बुराइयाँ बता रहे थे। साबुन लगाओ तो बाल झड़ जाते हैं, एलर्जी की समस्याएँ और ऐसी ही अन्य दस तरह की बीमारियाँ। सो साबुन से नहाना ही बन्द कर रखा है उन्होंने। और भैया, इन टूथपेस्टों से लाख गुनी बढ़िया चीज़ तो अपनी देसी चीज़, दातुन ठहरी। वे चाहे जहाँ बताने लगते हैं कि हमारी ये चप्पलें चार साल से चल रही हैं। उन्हें गर्व है इस बात पर। पता नहीं कि सिर पर रखकर चलते हैं कि हाथों में टाँगकर। दो कुर्ते हैं, तीन पाजामे। नया कपड़ा बनवाने के सख्त ख़िलाफ़ हैं। ठंड में पुराना कोट निकल आता है। उस दिन बूढ़ों के बीच अपने कोट की तारीफ़ कर रहे थे। बता रहे थे कि फलानी कम्पनी का गर्म कपड़ा है, जो ऐसा गर्म करता है कि ठंड का पता ही नहीं चलता। उस दिन बगल से सिलते हुए दर्जी ने यही कहा कि अब कपड़े में जान नहीं बची पाठकजी। रफू की गुंजाइश ही नहीं है— नया बनवा लें। हँसकर रह गये। जान का तो ऐसा है बरखुरदार कि रहती ही है— ख़ुद में भी और कपड़े में भी। ठीक जगह पैबन्द लगाते रहो, तो जान अटकी रहती है। बताओ कि महँगाई कितनी भी बढ़े, वे जिन्दा रहने की जुगत किये जाते हैं कि नहीं? ऐसा ही कपड़े का।

पाठक जी लड़ रहे हैं महँगाई से। सरकार ने उस दिन जो बयान दिया है कि जल्दी ही महँगाई पर काबू पा लिया जाएगा, उसे सुनकर पाठक जी यदि मुस्काये हैं तो वह खुशी की मुस्कान नहीं थी, यह तय है। असलियत जानने और भुगतने वालों के चेहरे की मुस्कान ऐसी ही होती है मित्रो।

**ए-40, अलकापुरी, भोपाल- 462 024**
**फोन : 09425604103**

# मिलियन बैरल.
# बिलियन मुस्कुराहट.

एक अरब से अधिक भारतीयों की कंपनी ओ एन जी सी प्रतिदिन देश और विदेश में 10 लाख बैरल से अधिक तेल और गैस का उत्पादन करती है। और ज्यादा ऊर्जा की खोज में लगी ओ एन जी सी प्रत्येक भारतीय को गर्व, समृद्धि और उज्जवल भविष्य की आशा देती है। आखिर भारत की अग्रणी कंपनी को एक अरब सपने साकार करने का उत्तरदायित्व भी तो निभाना है।



" खोज के लिए साहस " श्रेष्ठता के लिए ज्ञान " उत्कृष्टता के लिए तकनीक




ऑयल एंड नेचुरल गैस कॉर्पोरेशन लिमिटेड
www.ongcindia.com

Regd. No. RNI : DEL-Hin / 2003 / 9468
Postal Regd. No. DL (S) 17-3089 / 2006 - 07 - 2008
Pre-paid Lincence No. U [SE]-63/2006-08

